श्री गणेशप्रसाद वर्णी-ग्रन्थमाला,
सम्पादक और नियामक
पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
डॉ० दरबारीलाल कोठिया

महावीर-निर्वाण रजत-शती और गणेशवर्णी-शतीके
सन्दर्भमें प्रकाशित

प्रकाशक
मंत्री, श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान,
सन्मति जैन निकेतन, नरिया,
वाराणसी–५ (उ० प्र०)



प्रथम संस्करण : वि० सं० २००९
द्वितीय संस्करण : वि० सं० २०१३
तृतीय संस्करण :
चतुर्थ संस्करण : वि० सं० २०३१
वीर-शासन-जयन्ती, वी० नि० सं० २५००



मूल्य : छह रुपये पचास पैसे



मुद्रक
राजेशकुमार शर्मा
स्वस्तिक मुद्रणालय, गोलघर, वाराणसी ।

समर्पण—

पूज्य पिता स्व० श्री पटवारी देवीप्रसादजी,
जिन्होंने मुझे इस योग्य बनानेकी आशामें अपने सारे
सुखोंका त्याग किया और आयुके अन्तिम क्षणोंमें भी
पूज्य श्रीवर्णीजीके सदुपदेशोंको 'वर्णी-वाणी'से
समाधि-मरणके पाठ रूपमें सुना,
उन्हीं पूज्य पिताजी
की
पुण्य स्मृति
में
पूज्य माता श्री सरस्वतीदेवीजी,
जिन्होंने नामसे सरस्वती होकर भी मुझे शिक्षित बनाने
रूप श्रद्धा-सुमनोंसे उसकी मूक अर्चना जैसा पुण्य
कार्य अब तक अतुल सन्तोषके साथ किया;
उन्हीं 'स्वर्गादपि गरीयसी'
महामहिम जननी
के
कर कमलों
में

श्रद्धावनत

तनुज—

नरेन्द्र

प्रकाशकीय

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला द्वारा अब तक प्रकाशित २३ ग्रन्थोंमें कई ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनके पाँच-पाँच संस्करण निकल चुके हैं और उन्हें पाठकोंने बड़ी रुचि एवं आदरके साथ अपनाया है। इनमें सबसे ज्यादा लोकप्रिय वर्णी-वाणी है, जो चार भागोंमें प्रकाशित है और जिसके प्रत्येक भागके कई-कई संस्करण हो चुके हैं। उक्त २३ ग्रन्थोंमें कई ग्रन्थ अप्राप्य हैं, जिनके महत्त्व एवं मांगको देखते हुए पुनः प्रकाशनकी योजना ग्रन्थमालाके सामने है।

इसी योजनाके अन्तर्गत 'अनेकान्त और स्याद्वाद', 'मन्दिरवेदी-प्रतिष्ठा-कलशारोहणविधि', 'अध्यात्मपत्रावली' और 'सत्यकी ओर' ये चार ग्रन्थ पुनः प्रकाशित किये जा चुके हैं। 'समयसार-प्रवचनका' द्वितीय संस्करण और 'जैनदर्शनका' तृतीय संस्करण प्रेसमें हैं, जो दीपावलीसे पूर्व ही प्रकाशित हो जायेंगे।

हमें प्रसन्नता है कि आज वर्णी-वाणी द्वितीय भागका चतुर्थ संस्करण पाठकोंके करकमलोंमें अर्पित कर रहे हैं। पूज्य वर्णीजीकी वाणीमें ऐसा अमृतरस था कि श्रोता पपीहाकी तरह उसे पाने-सुननेके लिए उत्सुक रहता था। आज वे नहीं हैं, फिर भी उनके वे श्रोता पाठक बने हुए हैं और कितने ही नये पाठक बन गये हैं। ग्रन्थमाला इन सभी अपने पाठकोंकी उत्सुकतापूर्ण ज्ञानेच्छाकी पूर्तिके लिए सदा उद्यत है।

सौभाग्यसे भगवान् महावीरकी निर्वाण-रजतशती आगामी वर्ष दीपावली वीर-निर्वाण संवत् २५०१, दिनाङ्क १३ नवम्बर १९७४ से दीपावली वीर-निर्वाण संवत् २५०२, १३ नवम्बर १९७५ तक मनानेका हमें अवसर मिल रहा है। संयोगसे आगामी आश्विन कृष्णा ४ विक्रम संवत् २०३१ को पूज्य श्री गणेशप्रसाद वर्णी (श्री गणेशकीर्ति मुनिराज)की शताब्दी भी

मनायी जायेगी। अतः इस सुअवसर पर उनका अप्रकाशित अथवा अप्राप्य समग्र वाङ्मय प्रकाशित हो जाये, इसका विचार श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान—श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमालाकी विकसित संस्था—की प्रवन्धकारिणीने किया है।

साथ ही अपने पाठकोंको यह सूचित करते हुए प्रसन्नता होती है कि जैन साहित्यका इतिहास भाग २ और भाग ३ भी प्रेसमें दे दिये गये हैं और जिसके कई फर्मे छप गये हैं। उल्लेख्य है कि इस संस्करणमें श्री नीरजजी जैन सतना द्वारा लिखित वर्णीजीकी "जीवन-झाकी" दी जा रही है, इसके लिए उनके अभारी हैं।

संस्थानके इस ग्रन्थमालाप्रकाशन-विभागमें उक्त ग्रन्थोंके प्रकाशनसे सब संग्रहीत धन समाप्त है और कागज तथा छपाईके दाम आसमानमें जा चुके हैं। अतः विद्यानुरागी उदार सज्जनोंसे अनुरोध है कि ग्रन्थमाला-प्रकाशन-विभागको उसके अग्रिम प्रकाशनोंके लिए आर्थिक सहायता प्रदान करें, ताकि अर्थाभावके कारण उसका प्रकाशनकार्य न रुके।

अन्तमें वर्णी-वाणीके सुयोग्य सम्पादक डॉ० नरेन्द्रजी, समितिके सदस्यों और ग्रन्थमाला-संरक्षकसदस्योंको हार्दिक धन्यवाद है, जिनके समवेत प्रयत्नोंसे संस्थान उत्तरोत्तर प्रगति-पथपर आरूढ है।

श्रावण कृष्णा १,
वी० नि० सं० २५००,
वीर शासन-जयन्ती,
५ जुलाई, १९७४,

(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया
मन्त्री, श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान

वर्णीजी और जैन धर्म

सन्त विनोबाजी भावे—

एक ऐसे महापुरुषकी जयन्ती मनानेके लिए हम एकत्रित हुए हैं, जिन्होंने समाज-सेवाका कार्य किया है। भूदानयज्ञके सिलसिले-में मैं ललितपुरमें वर्णीजीसे मिला था। भूदानयज्ञकी सफलताके लिए सहानुभूति प्रगट करते हुए उन्होंने कहा था कि 'ऐसे महासन्त-को छोटेसे कार्यके लिए घूमना पड़े, यह दुःखकी बात है'। वर्णीजीने जो कार्य किया है वह बहुत अच्छा है। वे ज्ञान-प्रचार चाहते हैं। जनतामें ज्ञान-प्रचार हो जानेपर अन्य अच्छी बातें स्वयं ही आ जाती हैं। मूल-सिञ्चन करनेसे पानी शाखाओं तक स्वयं ही पहुँच जाता है। वर्णीजी स्वयं जैन नहीं थे, पर जैन होकर जैन समाजका ही हित नहीं किया, जैनेतरोंका भी हित किया है।

जैनधर्म प्राचीन धर्म है। इसका वैदिक धर्मके साथ अच्छा सम्बन्ध रहा है, किन्तु बीचमें कसमकस व मन्थन भी चलता रहा। दोनोंने रुख बदला एवं दूधमें शक्करके समान घुलकर काम किया। नतीजा यह हुआ कि जैनधर्म आज भी है। इसके विपरीत बौद्धधर्म हिन्दुस्थान ही नहीं, दुनियाँ में फैला, किन्तु प्रत्यक्ष रूपसे यह यहाँ नहीं है। जैन चुपचाप कार्य कर रहे हैं। उनकी कार्यशैलीमें विरोध नहीं है। लोग महावीरजीसे कई सवाल पूछते थे। ब्राह्मणोंके प्रश्नों-का जवाब वे उपनिषदों जैसा देते थे। उनका ध्येय पन्थविशेषका प्रचार नहीं था। आत्माका उद्धार मुख्य उद्देश्य था। अतः आग्रह बिना उन्नतिका कार्य जैनोंने किया। बौद्धधर्मकी खुशबू आज भी चीन और जापानसे कहीं अधिक हिन्दुस्थानके अन्तस्थलमें है।

उनकी भूतदया और अहिंसा आदि हिन्दुओंने भी मानी। यह वैदिक धर्ममें भी है। राजसत्ता द्वारा धर्म फैलनेकी बजाय मिटता है। ईसाइयोंने राजसत्ता द्वारा धर्म फैलानेका प्रयास किया, तो झगड़े हुए। हिन्दुओंको राजसत्तासे धर्म फैलानेमें लाभ न हुआ। जैन भी राजा थे। शासनने धर्मके लिए मदद पहुँचायी, इसलिए संघर्ष पैदा हुआ। इस्लाम इसका उदाहरण है। बड़ी जमात होना धर्म-प्रचारका लक्षण नहीं। सत्यका प्रचार सत्तासे नहीं होता। धर्म और सत्ताका मिश्रण ठीक नहीं। दोनोंमेंसे या धर्म नष्ट होगा या सत्ता नष्ट होगी।

जैन बुद्धिवादी हैं। जैनोंने इतना साहित्य लिखा है कि शायद ही इतनी छोटी जमात इतना साहित्य लिख सके। प्रत्येक शाखामें हजारों ग्रन्थोंकी रचना की। बहुत-सी सारी भाषाओंमें जैनाचार्योंने ग्रन्थरचना की है। अपभ्रंश, कन्नड, गुजराती आदि भाषाओंमें इनका साहित्य भरा पड़ा है। मूल भाषाओंके स्रोतमें विशेषतया जैनोंका हाथ रहा है, जैनोंने तालीम देना अपना कर्तव्य माना। जब बालक मूलाक्षर क ख ग सीखने जाता है तब 'श्री गणेशाय नमः' विद्यार्थीकी तरफ़से बोला जाता है। 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' जैन गुरुओंका मूल मन्त्र है। जैन गुरुओंसे हिन्दू भी पाठ पढ़ने जाते थे, किन्तु वे अपने धर्मका भार किसीके ऊपर नहीं लादते थे। उनका कहना था कि विद्या-प्रचारसे सब कुछ हो जाता है। वे ज्ञान देकर ही सन्तुष्ट रहते थे। वर्णीजीने भी यही किया।

एक जमाना था, जब जैन, बौद्ध, हिन्दू तीनों मिलकर एक ही घरमें रहते थे।............

जैन माध्यस्थ्य दृष्टिसे काम करते हैं। अहिंसाके सिवाय माध्यस्थ्य दृष्टि रखते हुए मेल-जोलसे रहना, विचार-भेद होते हुए भी एक दूसरेकी कद्र करना जैनोंकी चीज है। इस माध्यस्थ्य दृष्टिने संसारको बड़ी भारी सीख दी है। तर्क और न्यायशास्त्र रचकर उसे पक्की बना दी। तत्त्वज्ञान न देते, तो न टिकती, क्योंकि भारतीय तत्त्व-

ज्ञानी आत्मखेतमें बुनयादी शोध करते थे। साम्यवादी भी समदृष्टि-को बल देते हैं। "शास्त्रं ज्ञापकं न कारकं" के अनुसार शास्त्र मार्ग-सूचक यन्त्रकी तरह स्थिति बता देते हैं। अमलमें लाने पर ही उनका ज्ञान होता है। वर्णीजीने इसी श्रद्धासे काम फैलाया। जैनी और अन्योंको भी प्रेरणा दी। उनकी जयन्तीका लाभ उठाते हुए आत्माका लाभ करें। नाम और जाति तो बन्धन हैं। महापुरुष चाहते नहीं। जयन्ती मनानेका प्रयोजन अच्छे कामोंका अनुकरण करना है।꙳

꙳ ७९ वीं वर्णी-जयन्ती-सप्ताहके उद्घाटनके समय ३ सितम्बर १९५२, अनन्तचतुर्दशीको श्री स्याद्वाद-महाविद्यालय, वाराणसीमें किया गया विनोबाजीका प्रवचन।

अपनी बात

(प्रथम संस्करणसे)

वर्णी-साहित्यके प्रेमी पाठकोंके हाथोंमें प्रथम भागकी तरह द्वितीय भागको पहुँचते हुए देखकर हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। प्रथम भागके तीन संस्करण हो जानेपर भी उसकी वैसी ही माँग एवं द्वितीय भागकी उत्सुकतापूर्ण प्रतीक्षा—दोनों ही उनकी लोकप्रियताके प्रतीक हैं।

इस लोकप्रियतासे प्रभावित होकर तो 'सुखकी झलक' के संग्रहकर्ताने पुस्तकके द्वितीय संस्करणमें 'वर्णी-वाणी' के पूरे ६–७ अध्यायोंको लेकर एवं 'विश्वशान्तिके मूल उपाय' के संग्रहकर्ताने किसी-किसी अध्यायमें श्री क्षु० मनोहरलालजीके भी कतिपय वाक्य जोड़ते हुए 'वर्णी-वाणी' से ही पूरी पुस्तकको तैयार कर समाजमें वर्णी-वाणीकी ही कीर्तिको बढ़ाया है। परन्तु अधिक अच्छा यह होता कि एक तो दोनों महानुभाव श्रीवर्णी-ग्रन्थमालासे स्वीकृति ले लेते और दूसरे प्रत्येक भाषण, अध्याय या वाक्यके अन्तमें स्थिति, ग्राम या 'वर्णी-वाणीसे उद्धृत' होनेका आवश्यक उल्लेख कर देते। इससे उक्त पुस्तकोंके सम्पादकोंकी विज्ञता, संग्रहकर्ताओंकी सुनीति, पुस्तकोंकी प्रामाणिकता, वर्णीजीके वाक्योंको पहिचाननेकी सुविधा, ग्रन्थमालाको वृद्धिगत करनेकी सद्भावना एवं उसकी व्यवस्था सभी कुछ बन जाता।

प्रसंगवश दोनों पुस्तकोंके भ्रामक वक्तव्योंके स्पष्टीकरणके लिए संक्षेपमें इतना ही कहना है कि 'सुखकी झलक' में केवल मुरारमें दिये गये भाषणोंका ही संग्रह नहीं है; सागरमें दिये गये भाषणोंका भी है। देखिये 'त्यागका वास्तविक रूप' भाषण, पृष्ठ १५८–५९ पर सागरकी चर्चा सहित प्रवचन, जो श्री चौधरन बाईके मन्दिरजीमें

हुआ था। श्री ब्र० सुमेरचन्दजी भगतसे प्राप्त हुए वर्णीजीके ६९ पत्रोंसे वर्णी-वाणी (प्र० भा० द्वितीय संस्करण) में केवल १७ पृष्ठ-प्रमाण ही वाक्य हमने स्वयं सङ्कलित किये हैं। ३०८ पृष्ठको पूरी पुस्तककी सामग्री या अमोल वाक्यरत्न श्रीभगतजी द्वारा ही संगृहीत होकर नहीं प्राप्त हुए। अस्तु।

प्रस्तुत भागमें ली गई सामग्रीके आधार ये हैं—

१. वर्णीजीकी ७ वर्षकी दैनन्दिनी (डायरी) एवं स्मृति-पुस्तिका।

२. मेरी जीवनगाथा।

३. सुखकी झलक। इसके लेखोंका पूज्य श्री वर्णीजीके चरणों में बैठकर पुनः परिष्कार किया गया है।

४. जैन प्रभातमें प्रकाशित लेख।

५. श्री मा०परमेष्ठीदासजी द्वारा लिपिबद्ध किये गये इस वर्षके सागर चतुर्मासके प्रवचन।

६. वर्णीजी द्वारा लिखे गये पत्र।

७. समय समयपर मेरे द्वारा लिए गए उनके भाषणोंके उद्धरण।

अतः जिनसे जो सामग्री प्राप्त हुई उनका मैं आभारी हूँ।

सङ्कलन एवं सम्पादन सभी कार्योंमें श्रीमान् पूज्य पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री महोदयने निःस्वार्थ पूरा पूरा सहयोग दिया है। पुस्तकका यह भव्य रूप उन्हींकी सत्कृपाका फल है।

यदि सम्पादनमें कुछ सफलता प्राप्त हुई है, तो वह उस पूज्य गुरु-मण्डलके प्रसादसे, जो पूज्य गुरुत्रय महोदय श्रीमान् पं० मुकुन्द-शास्त्रीजी खिस्ते साहित्याचार्य, श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, श्रीमान् पं० द्विजेन्द्रनाथजी मिश्र साहित्याचार्य, श्रीमान् पं० बटुकनाथजी खिस्ते साहित्याचार्य, एवं श्रीमान् प्रो० ठाकुर राममूर्ति सिंहजी एम० ए०, एल० टी० काशी; श्रीमान्

डा० वाबूरामजी सक्सेना एम० ए०, डी०लिट्, श्रीमान् पं० क्षेत्रेश-चन्द्रजो चट्टोपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्य, श्रीमान् पं० रघुवर मिट्ठूलालजी शास्त्री एम० ए० साहित्याचार्य, श्रीमान् डा० आद्या-प्रसादजी मिश्र एम० ए०, पी० एच० डी०, श्रीमान् डा० राज-कुमारजी वर्मा एम० ए, पी० एच० डी०, डी० लिट्, श्रीमान् पं० दयाशङ्करजी दुबे एम० ए०, एल० एल० वी० प्रयाग, श्रीमान् पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य एवं श्रीमान् वाबू जिनेश कुमारजी 'संघो' वी० ए०, एल० एल० वी० सागर, श्रीमान् पं० गोरेलालजी शास्त्री द्रोणगिरि तथा श्रीमान् मा० पूरनलालजी ज्योतिषी घुरावासे समय-समयपर प्राप्त होता रहा है, अतः सबका चिर ऋणी हूँ।

मेरी भानजी शुभश्री चम्पाबाईजी प्रधानाध्यापिका जैन कन्या पाठशाला सीकरने पुस्तकके अनेक स्थलोंकी प्रतिलिपि बहुत ही परिश्रमसे की है।

श्री बाबू रामस्वरूपजी एवं धर्ममाता श्री ज्वालादेवीजी बरुआ-सागरका विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने अपने सरस्वतीसदनसे वर्णीजी-की अनेक दैनन्दिनियाँ (डायरियाँ) खोज निकालनेका अवसर गत वर्ष प्रदान किया था।

इस तरह प्रत्यक्ष परोक्ष सभी सहायक एवं सहयोगियोंका आभारी हूँ। भविष्यमें इसी तरहकी कृपाका आकांक्षी एवं भूलोंके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

पूज्य वर्णी सन्तकी विमल वाणी—'वर्णी-वाणी' से जग-जनका कल्याण हो, यही भावना है।

काशी।
स्वतन्त्रता-दिवस
वि० सं० २००९

विद्यार्थी नरेन्द्र

गणेश वर्णी : जीवन-झाँकी

श्री नीरज जैन

अबसे १०० वर्ष पूर्व उत्तर-प्रदेशके झाँसी जिलेमें हंसेरा ग्रामके सद्-गृहस्थ श्री हीरालाल एवं उजियारी देवीके यहाँ आसोज कृष्णा ४ संवत् १९३१ विक्रमाब्दमें एक अत्यन्त होनहार और सुलक्षण पुण्याधिकारी बालकका जन्म हुआ। इसी बालकका नाम गणेशप्रसाद था। गणेशप्रसाद बचपनसे ही शान्त-स्वभावी, धर्मपरायण और जिज्ञासु थे। यद्यपि उनका कुलधर्म वैष्णव था, परन्तु दिगम्बर जैन धर्मकी जीवदया और व्यावहारिक पवित्रतासे प्रभावित होकर वे उसमें दीक्षित हो गये थे। उनके पिताश्रीको भी णमोकारमन्त्रपर दृढ़ आस्था थी।

दस वर्षकी अल्पवयमें ही मड़ावरामें अपने घरके सामने जैन मन्दिरकी शास्त्रसभामें होनेवाले प्रवचनोंसे प्रभावित होकर उन्होंने स्वयमेव रात्रि-भोजन एवं बिना छानें जलका त्याग कर दिया था। उनके जीवनका प्रारम्भ अध्यापनकार्यसे हुआ। युवावस्थामें ही उनके माता-पिताका, तथा विवाहके दो-तीन वर्ष बाद ही पत्नीका चिरवियोग हो गया।

सर्वप्रथम वे मदनपुर ग्राममें अध्यापक नियुक्त हुए तथा अपनी योग्यताके कारण नार्मल ट्रेनिंगके लिए आगरा भेजे गये। धार्मिक जिज्ञासावश ट्रेनिंग छोड़कर वे जयपुर पहुँच गए, किन्तु वहाँ अध्ययनकी व्यवस्था न होनेसे उन्हें घर वापस आना पड़ा।

धर्मपर उनकी अटूट आस्था और ज्ञान-पिपासा देखकर सिमरा (टीकमगढ़, म० प्र०)की विदुषी महिलारत्न सिंघैन चिरोंजाबाईने उन्हें प्रश्रय दिया। वे धर्मनिष्ठ, ज्ञानवती, सम्पन्न, निःसन्तान, विधवा महिला थीं। बालक गणेशसे उन्होंने कहा—"मैं तुम्हारा पुत्रवत् पालन करूँगी। तुम निःशल्य होकर ज्ञानार्जन करो। जैन धर्म संसारसे पार होनेकी नौका है। प्रमादी मत होना, जो भी काम करो, समतासे करो।"

वालक गणेशने उनके इस वात्सल्यको देखकर उन्हें अपनी धर्ममाता वनाया। और धर्ममाता चिरोंजावाईने उन्हें अपना पुत्र।

वाईजीने अपने शेष जीवनका प्रत्येक क्षण और विपुल सम्पत्तिका प्रत्येक कण वालक गणेशके जीवन-निर्माणमें व्यय किया और अन्तमें समाधिपूर्वक शरीर त्याग किया। इन्हीं धर्ममाता चिरोंजावाईने वालक गणेशको विद्वच्छिरोमणि एवं वर्णीजी वनाया। वर्णीजीने सदैव उन्हें माता सदृश सम्मान दिया।

जतारा (टीकमगढ़)के स्कूलमें वे पुनः अध्यापक हुए। डाकखानेका काम भी उन्हें करना पड़ता था। यहाँके कड़ोरेलाल भायजीके सत्संगमें उनका स्वाध्याय आरम्भ हुआ। वे विद्यार्जन हेतु पुनः जयपुर गये। मार्गमें सारा सामान चोरी हो जानेसे उन्हें फिर निराश लौटना पड़ा।

ज्ञानकी अमिट प्यासने उन्हें तीस दिन भी घर वैठने नहीं दिया। इस वार मार्गमें चने खाते, प्रायः पैदल चलते, अनेक कष्ट उठाते वमराना, रेशंदीगिरि, कुण्डलपुर, रामटेक, मुक्तागिरि, गजपंथा होते हुए वे वम्वई पहुँचे। एक जगह मजदूरी भी करनी पड़ी, पर किसीके सामने हाथ नहीं फैलाया। उनकी लोभहीनता, विनम्रता और लगनने वम्वईमें पंडित पन्नालालजी वाकलीवाल एवं वावा गुरुदयालजी आदिको प्रभावित किया, जिनकी सहायतासे जीविकोपार्जन करते हुए रत्नकरण्डकश्रावकाचार तथा कातन्त्रपचसंधिकी परीक्षाएँ सम्मानसहित उत्तीर्ण करके वम्वई-परीक्षालयका वास्तविक उद्‌घाटन उन्होंने किया। इसी समय 'गुरूणां गुरुः' पंडित गोपालदासजी वरैयाका सान्निध्य उन्हें प्राप्त हुआ।

अस्वास्थ्यके कारण वे वम्वईसे पूना और केकड़ी होते हुए एक वर्षके लिए पुनः जयपुर पहुँचे, जहाँसे गुरु गोपालदास वरैयाने उन्हें अपने नव स्थापित विद्यालयमें मथुरा वुला लिया। मथुरामें दो वर्ष तक न्यायदीपिका तथा सर्वार्थसिद्धिका अध्ययन करके न्याय तथा व्याकरणके विशेष अध्ययन हेतु वे खुरजा गये और सम्मेदाचलकी सातिशय वन्दना करते हुए संवत् १९५९ में पुनः सिमरा पहुँच गए।

उन दिनों शिक्षण बहुत दुर्लभ था। जैन पाठशालाएँ नहीं थीं, तथा जैन विद्वानोंका प्रायः अभाव था। छात्रगण गुरुके पास रहकर सेवा तथा दक्षिणासे विद्यार्जन किया करते थे। साहित्य, तर्क-न्याय और व्याकरण शास्त्रोंपर ब्राह्मण-विद्वानोंका एकाधिकार था और उनसे विद्या प्राप्त करना सुलभ नहीं था। इन प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी गणेशप्रसादजीकी ज्ञान-पिपासा अमिट रही और सं० १९६१ में वे पुनः काशी पहुँचे। पंडित अम्बादास शास्त्रीने उन्हें विद्या-दान दिया। पश्चात् चकौती, नवद्वीप आदिमें विशिष्ट विद्वानोंसे विद्यालाभ लेकर उन्होंने न्यायाचार्यकी उपाधि प्राप्त की।

अध्ययनमें जो बाधाएँ उनके समक्ष आयीं, उनसे उन्हें जैनोंकी शिक्षा-सुविधाकी आवश्यकताका अनुभव हुआ। सर्वप्रथम उन्होंने काशीमें एक जैन विद्यालयकी स्थापनाका प्रयास किया। कामा (मथुरा)के बाबा झम्मनलाल जीसे इस हेतु एक रुपयेका प्रथम दान प्राप्त हुआ। कर्मवीर गणेशप्रसादने उस रुपयेके ६४ पोस्टकार्ड लाकर समाजके प्रमुखोंको लिखे। उत्तरमें सौ रुपया मासिक सहायताके वचन प्राप्त हुए और श्रुतपंचमी सं० १९६२ को बाबू देवकुमारजी आरा, बाबा भागीरथजी वर्णी और पंडित पन्नालालजी बाकलीवाल आदिकी उपस्थितिमें सेठ माणिकचन्द्रजी बम्बईके करकमलोंसे इस स्याद्वाद-महाविद्यालयका उद्‌घाटन हुआ। वर्णीजी स्वयं इसके आदि छात्र थे। अब यह विद्यालय एक प्रथम श्रेणीकी आदर्श और राष्ट्रीय शिक्षा-संस्था है। धर्म, दर्शन, साहित्य और व्याकरणमें निष्णात यहाँके शतशः स्नातक सारे देशमें इस संस्थाका गौरव प्रसार कर रहे हैं।

विद्याको वर्णीजी जीवनमें सर्वोपरि महत्त्व देते थे, अतः शिक्षा-प्रसार-का यह पवित्र उद्देश्य उनका जीवनव्रत बन गया था। बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालयके पाठ्यक्रममें जैन विषयोंके समावेशका प्रयास उनके ही समक्ष पंडित मोतीलाल नेहरूके सहयोगसे सफल हुआ। सागरमें अक्षय तृतीया १९६५ को सर्वश्री पूर्णचन्द्र बजाज, मूलचन्द्र बिलौआ, सिंघई कुन्दनलाल,

शिवप्रसाद मलैया आदिके सहयोगसे "सत्तर्क-सुधातरंगिणी दिगम्बर जैन पाठशाला' की स्थापना हुई, जो आज 'गणेश-विद्यालय'के नामसे एक विख्यात विद्या-केन्द्र है। सागरका दिगम्बर जैन महिलाश्रम, खतौलीका कुंदकुंद विद्यालय (कालेज) तथा ललितपुरका वर्णी-कालेज आदि अनेक महती संस्थाओंकी स्थापना भी उन्हींके सदुपदेशसे हुई।

समस्त बुन्देलखण्ड उनका प्रमुख कर्म-क्षेत्र रहा और हजारों मीलकी पदयात्रा करके उन्होंने जन-साधारणको सत्य, अहिंसा, दया, सदाचार तथा त्यागका उपदेश किया। लाखों व्यक्तियोंको मद्य, माँस, मधुका त्याग कराकर उन्हें इन व्यसनोंसे मुक्ति दिलाई। उन्होंने स्थान-स्थान पर पाठशाला, विद्यालय, गुरुकुल, महिलाश्रम, सरस्वतीभवन, स्वाध्यायशाला और उदासीन आश्रम आदि संस्थाओंकी स्थापना कराई। उनके उपदेशसे प्रचुर द्रव्यका दान हुआ तथा समाज-विकास, विद्या-प्रचार और धर्मप्रभावनामें उसका उपयोग हुआ।

ज्ञानाराधनके साथ साधक गणेशप्रसादके मनमें संसार, शरीर और भोगोंके प्रति उदासीनता भी क्रमशः बलवती होती गई और उन्होंने कुण्डलपुरमें आश्रमके संस्थापक गुरुवर्य बाबा गोकुलदासजीसे सातवीं प्रतिमा सहित ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण किया। दीक्षित होकर वे 'वर्णीजी' कहलाने लगे। यह सम्बोधन अन्त तक उनके महान् व्यक्तित्वका प्रतीक बना।

उनका यह त्यागमय जीवन प्रारम्भसे ही स्वपरकल्याणकी भावनासे ओत-प्रोत हो गया। उन्होंने समष्टिके कल्याणकी दिशामें अनेक सफल प्रयास किये। सदैव दलित और पीड़ित वर्गको त्राण दिलाया।

सैकड़ों समाज-बहिष्कृत और उपेक्षित कुटुम्बोंका उद्धार कराया और हजारों लोगोंको आपसी द्वेष तथा पुरातन रूढ़ियोंसे मुक्ति दिलाई, फिर भी वे सदैव सबके सम्मान्य और श्रद्धास्पद रहे।

वर्णीजीकी करुणा अनुपम थी। दीन, दुःखी, दुर्बल या आक्रान्तको देखकर उनका सदय हृदय तड़प उठता था। वे मानका मर्दन करते हुए—

लकड़हारेके पैरका काँटा निकालकर, विषमताका परिहार करते हुए—दलित पिपासुको अपने पात्रसे पानी पिलाकर या शीतसे ठिठुरती भिखारिन को अपना चादर ओढाकर अपनी सदय वृत्तिका परिचय देते थे।

उनका विवेक जागृत और वाणी निर्भीक थी। राष्ट्रीय महत्त्वके प्रश्नों तक भी उनकी दृष्टि पहुँचती थी। जबलपुरकी जनताने उन्हें आजाद हिन्द सेनाके बन्दियोंकी मुक्ति हेतु आशीर्वादके साथ शरीरपरकी एकमात्र चादर दान करते हुए देखा है, जिसके फलस्वरूप जनताने उक्त कार्यमें अच्छा आर्थिक सहयोग देकर यह चादर पुनः उनके चरणोंमें अर्पित की। ललितपुरमें आचार्य विनोबा भावेने उनकी समता एवं निष्पृहताकी सराहना करते हुए उन्हें प्रणाम किया।

समाज और राष्ट्रके जीवनमें उन्होंने सदैव सदाचार और अपरिग्रहको अनिवार्य निरूपित किया। भारतके प्रथम गणतंत्र दिवस पर उन्होंने कहा था :—

"भारतको स्वतन्त्रता मिली, परन्तु इसकी रक्षा निर्मल चरित्रसे होगी। यदि हमारे अधिकारी महानुभाव अपरिग्रहवादको अपनायें तथा अपने आपको स्वार्थकी गंधसे दूर रखें, तो सरल रीतिसे स्व-परका भला कर सकते हैं।"

मानवताके प्रति वर्णीजीकी जो दृढ़ आस्था थी उसी आधार पर "हरिजन मंदिर-प्रवेश" जैसे क्रान्तिकारी प्रश्नों पर भी उनका अभिमत स्पष्ट, निर्भीक और दृढ़ रहा है। तत्सम्बन्धी विरोधोंका सामना करते हुए उन्होंने कहा था—

"हरिजन भी संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त मनुष्य हैं। उनमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी सामर्थ्य और व्रत धारण करनेकी भी योग्यता है। समन्तभद्राचार्यने तो सम्यग्दर्शन-सम्पन्न चाण्डालको भी 'देव'की संज्ञा दी है; पर आजके मनुष्य धर्मकी भावना जागृत होने पर भी उसे जिन-दर्शन-मंदिर प्रवेशका अनधिकारी मानते हैं।"

"शूद्र, जिन्हें हरिजन कहते हैं—उनके भी व्रतप्रतिमा हो सकती है। वे बारह व्रत पाल सकते हैं। धर्मकी भी अकाट्य श्रद्धा इनके हो सकती है, फिर इनको देवदर्शनसे क्यों रोका जाय ?

वर्णीजीकी उस क्रान्तिकारी आवाजने समाजमें उथलपुथल मचा दी थी। समाजके उदारतावादी प्रबुद्ध वर्गने एक ओर जहां इसके समर्थनकी होड़ लगा दी वहीं कुछ संकीर्णतावादी महानुभावों द्वारा इसका विरोध भी किया गया। पर वर्णीजीने चट्टान जैसी अडिगतासे उसका सामना किया और अपनी समताका अलौकिक उदाहरण प्रस्तुत किया।

समाज-कल्याणकी इस क्रान्तिकारी भावनाके साथ वर्णीजीके मनमें वैराग्य एवं त्यागकी भावना भी निरन्तर उत्कर्षित हो रही थी। फाल्गुन शुक्ला ७ सं० २४७४ वीराब्दको उन्होंने बरुआसागरमें एक आष्टाह्निक उत्सवके अवसरपर भगवान् जिनेन्द्रके समक्ष क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण कर ली। हर प्रकारके वाहनका त्याग पहिले ही हो चुका था। अब एक कौपीन तथा एक वस्त्रखण्ड ही उनका परिग्रह था और दिनमें एक ही वार आहार-जल ग्रहण करनेका नियम था।

वर्णीजीका इतिहास दिगम्बर जैन समाजके उत्कर्षका इतिहास है। इस कालमें जो अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य हुए उनमें शतशः दुष्प्राप्य दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक ग्रन्थोंका उद्धार, सम्पादन एवं प्रकाशन, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषदकी स्थापना, अनेक विशाल शास्त्र भण्डारोंकी सूचियोंका प्रकाशन, आदि उल्लेखनीय हैं। उनकी शिष्य परम्पराके अनेक सदाचारी विद्वान् प्रायः देशभरमें ज्ञानकी ज्योति प्रज्वलित करते हुए उनके सपनोंको साकार कर रहे हैं।

फिरोजाबादमें सेठ छदामीलाल द्वारा माघ, सं० २००७ विक्रमाब्दमें एक विराट् मेलेका आयोजन हुआ। उत्तरप्रदेशके तात्कालिक मुख्यमन्त्री श्रीयुक्त पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त द्वारा उद्घाटित उस मेलेमें वर्णीजीका

हीरक-जयन्ती-महोत्सव बड़ी धूमधामसे मनाया गया तथा देशके अग्रणी विचारक काका कालेलकर द्वारा उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया गया।

वर्णीजीने क्षुल्लक अवस्थामें भी पदयात्रा करके अनेक वर्षों तक भ्रमण किया। उनके प्रवाससे ग्वालियर, आगरा, मथुरा, अलीगढ़, मेरठ, खतौली, हस्तिनापुर, सरसावा, जगाधरी, दिल्ली, इटावा, फिरोजाबाद, बरुवासागर, ललितपुर, टीकमगढ़, शाहगढ़, सागर आदि अनेक स्थानोंकी लक्ष-लक्ष जनताने सदुपदेश और सम्बोधन प्राप्त किया। इसी बीच इन्होंने अतिशय क्षेत्र कुंडलपुर, पपौरा, अहार, खजुराहो तथा सिद्ध क्षेत्र द्रोणगिरि, रेशंदीगिरि आदिकी वन्दना की।

वर्णीजीने सं० २००९ में पुनः सम्मेदाचलके लिए प्रस्थान किया। बुन्देलखण्डसे यह उनकी अन्तिम यात्रा थी। स्थान-स्थानपर लाखों नर-नारियोंने अश्रुसिक्त श्रद्धा-सुमन चढ़ाकर उन्हें विदा दी और वे पदयात्रा करते हुए कुण्डलपुर, कटनी, सतना, मिरजापुर, वाराणसी, गया, होते हुए ईसरी पहुँचे। मार्गमें गयामें उनका चातुर्मास हुआ, जहाँ समयसारपर उनका प्रवचन रिकार्ड किया गया। यहीं श्रावण कृष्णा १० सं० २०१० को सर्वोदयी संत आचार्य विनोवा भावेसे पुनः उनका मिलाप और वार्तालाप हुआ। सन्त विनोवा भावेके प्रति उन्होंने कहा था—

"सर्व प्राणी सुखके पात्र हैं तथा कोई दुःखका अनुभव न करे, यह भावना आपमें पाई जाती है।"

पूज्य वर्णीजी महाराज मनुष्य-मात्रको समान भावसे देखते थे। उनकी मान्यता थी कि श्रद्धा और सदाचारसे प्रत्येक जीव अपना कल्याण कर सकता है। वे दिगम्बर जैन धर्मके सच्चे अनुयायी और प्रबल प्रचारक थे, परन्तु अन्य धर्मोंकी अच्छाइयोंको भी उदारतापूर्वक स्वीकार करते थे। भगवान् कुंदकुंदाचार्यका धर्मग्रन्थ 'समयसार' उनका आलम्बन था और वे प्रायः प्रति समय उसका जपन, चिंतन, मनन और अनुभव किया करते थे। समयसारकी यह गाथा उनका गुरुमंत्र थी—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग-संपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥

रागी प्राणी कर्मोंको बाँधता है और राग रहित कर्मोंको छोड़ता है। बन्धके विषयमें राग मत करो। भावोंकी समता और अभिप्रायकी निर्मलताके साथ शुद्ध खादीकी लँगोटी और चादरमें आवृत वे पवित्रता, सरलता तथा भव्यताको प्रतिमूर्ति ज्ञात होते थे।

पूज्यश्री अपना अन्त समय निराकुलतापूर्वक आत्माराधनमें व्यतीत करना चाहते थे। इस हेतु उन्होंने ईसरीके उदासीन आश्रमको अपना आवास बनाया था। यह संयोगकी बात है कि पूर्वमें उन्हींके सदुपदेश और निमित्तसे इस आश्रमकी स्थापना और निर्माण हुआ था। यहाँ रहकर उन्होंने पाँच बार भक्तिभाव-पूर्वक सम्मेदाचलकी वन्दना की। यहीं उनकी छत्रछायामें वाराणसी और सागरके विद्यालयोंके सविशेष स्वर्ण-जयन्ती महोत्सव सम्पन्न हुए। यहीं सं० २०१२ में भारतीय गणतन्त्रके तत्कालीन राष्ट्रपति, भारत-रत्न, डॉ० राजेन्द्रप्रसादजीने उनका दर्शन किया। यहीं सं० २०१३ में सोनगढ़के सन्त श्री कानजी स्वामी और सं० २०१६ में श्वेताम्बर तेरापंथी आचार्य तुलसी गणी उनसे मिले। यहींसे मानवमात्रकी समानताका उद्घोषक उनका जन-कल्याणकारी अमृतमय उपदेश देश भरमें सात वर्षों तक प्रसारित होता रहा।

इन्होंने संसारकी दशाका अवलोकन करके स्व-परविवेक जागृत किया था। 'समयसार' उनकी साँसोंमें बस गया था। शरीर आदि समस्त पर वस्तुओंमें उनका राग क्षीण हो गया था और आत्मशांतिके अमृतका स्वाद उन्हें प्राप्त हो गया था। शरीरकी अशक्तिको लक्ष्य करके उन्होंने सल्लेखना-मरण अङ्गीकार किया तथा अन्न, दूध, फल आदिका क्रमशः त्याग करते हुए अन्तमें जल भी छोड़ दिया। अन्त समयमें सर्वपरिग्रहका बुद्धि-पूर्वक त्याग करके दिगम्बरी मुद्रा और पंचमहाव्रत उन्होंने धारण किए

तथा उनका दीक्षा नाम "**१०८ श्री गणेशकीर्तिजी महाराज**" घोषित हुआ। उनकी क्षुल्लक-दीक्षाके समान यह दीक्षा भी भगवान् जिनेन्द्रके समक्ष हुई।

उदासीन आश्रमके मध्यमें जिस स्थान पर पार्थिव शरीर भस्मीभूत हुआ उस स्थान पर 'वर्णी-स्मारक समिति' की ओरसे एक विशाल और दर्शनीय स्मारकका निर्माण किया गया। यह स्मारक पूज्य वर्णीजीके व्यक्तित्व और कृतित्वको दीर्घकाल तक प्रकाशस्तम्भ की तरह हमें उनका संदेश-स्मरण दिलाता रहेगा।

●

कहाँ क्या पढ़िये ?

ॐ

वर्णी-वाणी

दूसरा भाग

ॐ

यः शास्त्रार्णवपारगो विमलधीर्यं संश्रिता सौम्यता ।
येनालम्भि यशः शशाङ्कधवलं यस्मै व्रतं रोचते ।।
यस्मात् दूरतरं गता प्रमदता यस्य प्रभावो महान् ।
यस्मिन् सन्ति दयादयः स जयति श्रीमान् गणेशः सुधीः ।।

कल्याण कुटीर

१. जो व्यक्ति स्वयं शुद्ध भोजन करते हैं उन्हें अतिथियोंको शुद्ध भोजन देनेमें कोई आपत्ति नहीं होती। मनुष्यको सदा शुद्ध भोजन करना चाहिये। इससे उसकी वुद्धि शुद्ध रहती है। शुद्ध वुद्धिसे तत्त्वज्ञानका उदय होता है, तत्त्वज्ञानसे परभिन्नताका ज्ञान होता है। परभिन्नताका ज्ञान ही कल्याणका मार्ग है।

(४।४।४९)

२. कल्याणका मार्ग आत्मामें है। आत्मा जव पाप-पङ्कसे पृथक् हो जाता है तव संसार-बन्धनसे स्वयं मुक्त हो जाता है।

(१३।५।४९)

३. जहाँ तक बने संयत वननेका प्रयत्न करो। असंयत ही संसार-बन्धनके लिये ब्रह्मा है। मनुष्योंके सम्पर्कसे वचो। अपनी परिणति निर्मल वनानेका प्रयत्न करो। संसारमें ऐसा कोई शक्ति-शाली पुरुष नहीं जो सारे संसारको सुधार सके। वड़े-वड़े पुरुष हो गये वे भी संसारकी गुत्थियाँ नहीं सुलझा सके। अल्पज्ञानी इसकी चेष्टा करे यह महती दुर्वोधना है। यदि कल्याण करनेकी इच्छा है तव अपने भावोंको सुधारो।

(१७।६।४९)

४. त्यागसे ही कल्याणमार्ग सुलभ है।

(३।७।४९)

५. जगत्को प्रसन्न करनेका भाव त्याग दो, जो कुछ वने स्वात्म-हितकी ओर दृष्टिपात करो। संसारमें ऐसा कोई नहीं जो परका कल्याण कर सके। कल्याणका मार्ग स्वतन्त्र है।

(६।७।४९)

६. हम निरन्तर कल्याण चाहते हैं परन्तु उस पथ पर आरूढ़ नहीं रहते, केवल उसके गीत गा गा कर अपनेको धन्य मान लेते हैं या बहुत अगाड़ी चेष्टा की तब मौन धारण कर लिया, इससे अगाड़ी चेष्टा की तब भोजनमें नमक और हल्दी के त्याग करनेका उद्योग किया।

(२१।७।४९)

७. मनुष्योंका कल्याण तत्त्व-विवेक मूलक रागद्वेषकी निवृत्तिसे होता है। केवल तत्त्व विवेकके परामर्शसे शान्तिका लाभ नहीं।

(२७।७।४९)

८. प्राणीमात्रका कल्याण उसके आधीन है। जिस कालमें वह अपनी ओर दृष्टिपात करता है, अनायास बाह्य पदार्थोंसे विरक्त होकर आत्माके कल्याण-मार्गमें लग जाता है।

(११।८।४९)

९. परको प्रसन्न करनेकी अपेक्षा अपनी परिणतिको सुधारो। परसे प्रशंसाकी आशा मत करो। परकी निन्दा मत करो। पर निन्दा केवल आत्मप्रशंसामें ही सहायक हो सकती है। परकी समालोचना करना यह भी एक महान् व्यसन है, इसको त्यागो। इसीसे आत्मलाभ होगा। ऐसे कार्योंसे दूर रहे जिनसे दूसरे आलोचना करें या स्वयं आत्म-समालोचना करनी पड़े।

(२५।८।४९)

१०. कल्याणका मार्ग तो निराकुलतामें है। जहाँ आकुलता है वहाँ शान्ति नहीं। वास्तवमें हमारा झुकाव आजन्म प्रवृत्तिमार्गकी ओर है, अतः निरीहमार्गकी ओर जाना अति कठिन है। धन्य है उन महापुरुषोंको जिनकी प्रवृत्ति निर्दोष रहती है।

(२३।९।४९)

११. आत्महित क्या है ? केवल उस आत्मतत्त्वकी ओर लग जाना जहाँ पर न पर वस्तुको अवकाश है और न पर वस्तुका त्याग ही है, केवल वही वही है।

(८।१०।४९)

१२. व्यवहारमें पड़ना आत्म-कल्याणका बाधक है। जहाँ परके साथ सम्बन्ध हुआ वहीं संसारका पोषक तत्त्व आ गया। इसीका नाम आस्रव है।

(९।१०।४९)

१३. कल्याणका मार्ग निरीहवृत्ति है, आराधना करो परन्तु फलकी वांछा न करो।

(७।११।४९)

१४. अन्तरङ्गकी निर्मलता बिना बाह्य वेष वकवेषके समान है। तोता राम राम रटता है परन्तु उसका तात्पर्य नहीं समझता, अतः जो कुछ रटो उसको समझो।

(१०।११।४९)

१५. कल्याणका अर्थ है पर पदार्थोंसे ममता त्याग। ममता-का कारण अहम्बुद्धि है।

(१६।११।४९)

१६. संसारमें सभी दुःखोंके पात्र हैं। सारांश यह है कि संसारमें जो सुख चाहते हैं वे मूर्च्छा त्यागें। मूर्च्छा त्याग बिना कल्याण नहीं।

(६।१२।४९)

१७. जो भाव हृदयसे उत्थित हो, उसे पूर्वापर विचार करके तदनुकूल कार्य करनेकी चेष्टा करो। यद्वा तद्वा प्रवृत्ति मत करो। हृदयको यत्र तत्र न भटकाओ, जब इस आत्माका एक अणुमात्र भी नहीं तब इतना प्रयास परके ग्रहण करनेका व्यर्थ प्रयास मत करो।

उतना व्यवहार करो जो आत्म-तत्त्वका बाधक न हो। संसारकी यातनाओंके अर्थ ही तो व्यवहार है।

(३ । १ । ५१)

१८. यदि कल्याणकी अभिलाषा है तब विषयोंको विषवत् त्यागो। क्षमा, मार्दव, आर्जव, दया, सत्यको अमृतकी तरह सेवन करो। इस जीवका वैरी काम है उसे त्यागो। और अनर्थकी सन्तान जो अर्थ है उसे त्यागो। उन दोनोंका मूल जो धर्म है उसे त्यागो। चतुर्थ पुरुषार्थ जो मोक्ष है उसमें प्रेम करो। यही एक पुरुषार्थ है जो कदापि नाश नहीं होता।

(४ । २ । ५१)

१९. आत्मकल्याण करना चाहो तब परकी समालोचना त्यागो। आत्मीय अपराधोंकी समालोचना करो। समालोचनाका यह अर्थ है—उसको त्यागो। केवल 'हममें दोष हैं' इतनेसे कुछ न होगा। जो आत्मामें दोष हों उनको त्यागो। तथा भविष्यके लिये सदा सतर्क रहो।

(१८ । २ । ५१)

२०. कल्याणका मूल कारण समता है और समता उसीके होगी जिसके मोहका अभाव होगा और मोहका अभाव उसीके होगा जिसके तत्त्वज्ञान होगा और तत्त्वज्ञान उसीके होगा जिसके स्व और पर पदार्थोंका सम्यग्दर्शन होगा।

(रा० १७ । ५ । ४१)

२१. कल्याणका मार्ग कल्याणस्वरूप रागादि कलङ्क रहित देवकी उपासनासे होता है।

(रा० २० । ५ । ४१)

२२. कल्याणका मार्ग वीतरागविज्ञान है। उसका सम्बन्ध आत्मासे है न कि शरीर से। परन्तु यह अवश्य है कि पर्यायके

अनुकूल ही तो कार्य होगा, केवल संहनन ही कल्याण अकल्याणमें प्रयोजक नहीं। प्रथम संहननवाला सप्तम नरक भी जा सकता है और मोक्ष भी जा सकता है। जहाँ पर अन्तरङ्ग सामग्रीकी पूर्णता होती है वहाँ पर वाह्य सामग्री भी तदनुकूल मिल जाती है। वाह्य वेष हो और अन्तरङ्ग सामग्रीकी विकलता हो तव कुछ नहीं बन सकता। अस्तु, वास्तवमें हमें अपने अन्तरङ्ग विभवको देख उसकी रक्षा करनी चाहिये। अन्तरङ्ग विभव केवल रागादिककी कृशता है और कुछ नहीं।

(रा० २२। ५। ४१)

२३. परके परिणमनको देखकर हर्ष विषाद करना संसार-वृक्षको पानी देना है। अनन्तानन्त जोव हैं, उनके अन्तर्गत तावत् परिणमन हो गये, हो रहे हैं, और होंगे इसलिये केवल अपनी परिणति पर विचार करो। वही तुम्हारे कल्याण-अकल्याण में उपयोगिनी है।

(१३। २। ३९)

२४. संसार-दशाको देखकर जो विरक्त होते हैं उनकी अपेक्षा आत्मदशा देखकर विरक्त होनेवाले विशेष प्रशंसाके पात्र ही नहीं, किन्तु आत्म-कल्याणके भी भागी होते हैं।

(१४। २। ३९)

२५. प्रायः परकल्याणके लिये प्राणीमात्रका यत्न रहता है। इसमें केवल आत्म-प्रशंसाकी ही गन्ध रहती है और वह गन्ध कदापि कल्याण-पथमें अग्रसर नहीं होने देती।

(९। ४। ३९)

२६. 'कल्याणका मार्ग अति कठिन है' ऐसी धारणा हमारी कायरताकी परिचायक है। अनादि कालसे हम अपने स्वरूपको भूल रहे हैं और परको ही अपना समझ रहे हैं, निरन्तर उसीका

पोषण करते हैं। जितनी आत्मशक्ति है उसी ओर लगा देते हैं। संसारमें पुद्गलद्रव्यके जितने भी विकास हुए हैं उनमें मूल कारण जीव ही है। जीवद्रव्यकी शक्तिका सदुपयोग यदि इस ओर करें तो पुद्गलद्रव्यकी तरह कल्याणपथ भी विकसित हो सकता है।

(१५।४।३९)

●

कल्याण

१. जिन जीवोंका कल्याण समीप है उनकी प्रवृत्ति अलौकिक होती है। वही भव्य जीव तो निकटतम संसारी हैं। ऐसे जीव ही शुद्धदशाके पात्र होते हैं। ज्ञानकी वृद्धि कल्याणकी नियामिका नहीं, परन्तु मोहकी कृशता नियमसे कल्याणकी अविनाभाविनी है। जिन जीवोंने मोहको कृश किया या जिनका मोह कृश हो गया वही पूज्य और महापुरुष हैं।

(७ । ८ । ३९)

२. सब जीवोंसे क्षमाभाव रखो, अन्तरङ्ग निर्मल रखो, यही कल्याणका मार्ग है। प्रतिदिन ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक समय उसी भावनाका उपयोग करो जो आत्माका वञ्चक न हो।

(१६ । ८ । ३९)

३. यदि कल्याणकी कामना है तब लौकिक मनुष्योंका संसर्ग त्यागो और पारमार्थिक शास्त्रोंका अध्ययन करो।

(२ । १ । ४०)

४. जिनको आत्म-कल्याणकी रुचि है वे किसीके संकोचमें नहीं आते। किसीके संकोचमें आकर आत्मघात करना कषायी जीवोंकी क्रिया है।

(१२ । १ । ४०)

५. कल्याणका पथ तो कल्याणमें ही है, केवल बातोंमें नहीं। बहुतसे मनुष्य संसारकी अनित्यताका आलाप करते हैं परन्तु यह केवल ऊपरी प्रक्रिया है। अनित्यता तथा नित्यता कोई वैराग्यके प्रधान कारण नहीं, उपचार मात्रसे कारण हैं।

(१५ । १ । ४०)

६. आत्मकल्याणके हेतु जगत्में भ्रमण करनेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता यह है कि जहाँ पर दोष हो उसे अन्वेषण कर दूर कर दो। संसारमें कोई भी किसीको न तो कल्याणपथ पर ले जाता है और न अकल्याणपथपर।

(८।२।४०)

७. समय पाकर मनुष्योंके अनेक प्रकारके परिणाम होते हैं, पुण्य पाप उभय परिणाम हीका तो संसार है। इसमें दोनों ही प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। उन्हें देखकर ही मनुष्य श्रेयोमार्ग और अश्रेयोमार्गकी कल्पना करते हैं। परन्तु इनसे परे जो वस्तुकी परिणति है, जिसके द्वारा तत्क्षण आत्मा कल्याणमार्गका अनुभव करता है वह भाव किसीके गोचर नहीं।

(२०।२।४०)

८. आत्मामें आत्मत्ववुद्धि होना ही केवल कल्याणका मार्ग है। परमें परत्वबुद्धि होना भी इसीका मार्ग है। जाननेमें अन्तर है, यह नहीं, दोनों सम्यग्ज्ञान हैं। एक अपनेको जानता है, दूसरा परको जानता है। केवल पदार्थका भेद है, वास्तव ज्ञानभेद नहीं। ज्ञान तो प्रकाशक पदार्थ है उसके समक्ष जो आवेगा उसे ही प्रकाशित करेगा।

(२६।२।४०)

९. पर्वपूजा या देवी-देवताके नामपर परजीवका घात कर आत्मकल्याणकी भावना करना केवल मिथ्या चेष्टा है।

(८।४।४०)

१०. कल्याणमार्गका उदय अपनी आत्मामें है परन्तु जबतक अज्ञानकी विशिष्टता है तबतक वह अति दूर है। अज्ञानके नाशका उपाय भी अन्यत्र नहीं, आत्मामें ही है। केवल हमें अपनी भूलको मिटाना है। उस भूलके लिए गुरु-उपदेश और आगमज्ञानकी महती

आवश्यकता है, यह निर्विवाद है। परन्तु उस अज्ञानको मेटनेका प्रयास हमें स्वयं करना पड़ेगा।

(९ । ७ । ४०)

११. कल्याणकी गल्पमात्रसे हम कल्याण चाहते हैं। कल्याण-के अर्थ हम कायक्लेश करते हैं, मानसिक शुभ चिन्तनाकी वृद्धि करते हैं। परन्तु वह मार्ग इन तीनोंसे परे है। जहाँ पर संकल्प और विकल्पका अभाव हो जाता है, सभी सांसारिक कार्योंके करनेकी चेष्टासे निवृत्ति हो जाती है वही कल्याण है।

(२१ । ११ । ४०)

१२. चाहते तो कल्याण हैं और चेष्टा भी कल्याणकी है। अभिप्रायमें मलीनता भी नहीं। परन्तु कषायोदयमें कुछ बनता नहीं।

(२५ । १ । ४४)

१३. कल्याणका मार्ग आत्मीय गुणोंका अन्यथा परिणमन न होना ही है।

(१५ । २ । ४४)

१४. यह कितनी भूल है कि केवल जानना ही आत्म-कल्याण का मार्ग समझते हैं। जानना तो एक देखनेकी क्रिया है, कल्याण-का मार्ग ज्ञानमें नहीं किन्तु अहङ्कारके अभावमें है।

(३ । ५ । ४४)

१५. कल्याणकी लिप्सा सभीको है। उदयकी सामग्री मिलना काललब्धिके आधीन है। फिर भी पुरुषार्थ करना अपना कर्तव्य है। कोई भी कार्य कारणपूर्वक ही होगा।

(१० । ५ । ४४)

१६. कल्याण सब चाहते हैं परन्तु वाह्य साधनोंके अभावमें उपादानका विकास रह जाता है।

(१२ । ५ । ४४)

१७. अपनी आत्माको अपने वशमें रखना कल्याणका पूर्ण उपाय है। जिसने संसार-परवशता चाही वह कभी भी संसार-महोदधि पार नहीं हो सकता।

(२५ । ७ । ४४)

१८. जो मनुष्य केवल गल्पवादमें रत हैं उनसे आत्महित होना असम्भव है, अतः जो आत्महितैषी हैं उन्हें संसारकी झंझटोंसे परे रहना चाहिए। जो मनुष्य इनसे परे हैं वही इससे पार होते हैं।

(२९ । ७ । ४४)

१९. कल्याणका मार्ग मोही जीवोंने इतना गहन बना दिया है कि सामान्य आदमी श्रवण कर उसे धारण करनेमें असमर्थ हो जाता है। बाह्यमें इतने आचरण उसके साथ लगा दिए जाते हैं कि उन्हींके करनेमें सारा समय चला जाता है। अतः आचरण करनेको समय ही नहीं बच पाता।

(१३ । ९ । ४४)

२०. केवल द्रव्यदानसे कल्याण नहीं, कल्याणका कारण रागादिनिवृत्ति है।

(१९ । १२ । ४४)

२१. जिस आत्मकल्याणके लिए प्रयास है यदि वह नहीं हुआ तब पर-उपदेशोंमें क्या सार है? सार तो अपने कल्याणमें है। अपने कल्याणमें हम स्वयं ही कारण हैं, परके द्वारा न तो कल्याण ही होता है और न अकल्याण ही होता है। यह तो हमारी अज्ञानता है जो हम अहर्निश उन्हीं परपदार्थोंकी जानकारीमें अपनी सम्पूर्ण वृत्तिको लगा देते हैं, होता जाता कुछ भी नहीं।

(२५ । १२ । ४४)

आत्म चिन्तन

१. जगत्में कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं। जो आज था वह कल नहीं। 'संसार क्षणभङ्गुर है' इसमें आश्चर्यकी बात नहीं। हमारी आयु ७४ वर्षकी हो गयी परन्तु शान्तिका लेश भी नहीं आया और न आनेकी सम्भावना है, क्योंकि मार्ग जो है उससे हम विरुद्ध चल रहे हैं। यदि सुमार्ग पर चलते तब अवश्य शान्तिका आस्वाद आता। परन्तु यहाँ तो उल्टी गङ्गा वहाना चाहते हैं। धिक् इस विचारको जो मनुष्यजन्मकी अनर्थता कर रहा है। केवल गल्पवादमें जन्म गमा दिया, वाह्य प्रशंसाका लोभी महान् पापी है।

(१ । १ । १९४९)

२. भगवन्! तुम अचिंत्य शक्तिके स्वत्वमें क्यों दर-दरके भिक्षुक वन रहे हो? 'भगवान्' से तात्पर्य स्वात्मासे है। यदि तुमने अपनेको सँभाल लिया तो फिर जगत्को प्रसन्न करनेकी आवश्यकता नहीं।

(५ । १ । ४९)

३. संसारसे उद्धार करनेके अर्थ तो रागादिकी निवृत्ति होनी चाहिए। परन्तु हमारा लक्ष्य उस पवित्र मार्गकी ओर नहीं जाता। केवल जिसमें रागादि पुष्ट हों उसी ओर अग्रेसर होता है। अनादि कालसे परपदार्थोंको अपना मान रक्खा है, उसी ओर दृष्टि जाती है। कल्याणमार्गसे विमुख रहते हैं।

(७ । १ । ४९)

४. हम वहुत ही दुर्वल प्रकृतिके मनुष्य हैं। हर किसीको निमित्त मान लेते हैं। अपने आप चक्रमें आ जाते हैं। अन्यको व्यर्थ ही उपालम्भ देते हैं। कोई द्रव्य किसीका विगाड़ सुधार

करनेवाला नहीं यह मुखसे कहते हैं, परन्तु उस पर अमल नहीं करते।

(१२। १। ४९)

५. आचरणके पालन विना केवल श्रद्धा अर्थकरी नहीं। श्रद्धाके अनुरूप ज्ञान भी हो। परन्तु आचरणके बिना वह श्रद्धा और ज्ञान स्वकार्य करनेमें समर्थ नहीं। शारीरिक शक्ति क्षीण होती जाती है, आत्मा कल्याण चाहता है, अतः स्वाध्याय आदि में चित्तवृत्ति स्थिर रखना चाहिये, प्रपञ्चोंमें पड़कर व्यर्थ दिन व्यय करना उचित नहीं। संसारकी दशाका खेद करना लाभ-दायक नहीं। गल्पवादके दिन गये, अब आत्मकथाका रसिक होना चाहिये।

(१६, १७, १८, १९ जनवरी १९४९)

६. किसी पर विश्वास मत करो, जो आत्मा माने उसी पर विश्वास करो। आत्मपरिणतिको निर्मल बनानेके लिए भेदविज्ञान ही ऐसी वस्तु है जो आत्माका बोध कराता है। स्वात्मबोधके बिना रागद्वेषका अभाव होना अति कठिन ही नहीं असम्भव भी है। अतः आवश्यकता इस बातकी है कि तत्त्वज्ञानका सम्पादन करना चाहिये। तत्त्वज्ञानका कारण आगमज्ञान है, आगमज्ञानके अर्थ यथा-शक्ति व्याकरण, न्याय, अलङ्कार शास्त्रका अभ्यास करना चाहिए।

(२४। १। ४९)

७. हम इतरको उपदेशदानमें चतुर हैं, स्वयं करनेमें असमर्थ हैं। केवल वेष बना लिया और परको उपदेश देकर महान् बननेका प्रयत्न है, यह सब मोहका विलास है।

(३०। १। ४९)

८. प्रतिज्ञा करना कुछ कार्यकारी नहीं यदि उसके अनुसार आचरण न किया जाय। गल्पवादसे यथार्थ वस्तुका लाभ नहीं होता।

(२। २। ४९)

९. अपनी दिनचर्या ऐसी वनाओ कि विशेषतया परसम्पर्क न्यून रहे। परसम्पर्कसे वही मनुष्य रक्षित रह सकता है जो अपनी परिणतिको मलीन नहीं करना चाहता। मलीनताका कारण परमें राग-द्वेष ही है अतः स्वीय मोह-राग छोड़ो।

(२।३।४९)

१०. 'समागम ही वन्धका कारण है' यह भ्रम छोड़ देना चाहिये। वन्धका कारण स्वयं कलुषित परिणाम विशिष्ट आप है। चेतन पदार्थमें जो भी व्यापार होता है इच्छासे होता है, इच्छा ही पापकी माता है। हिंसादिक पञ्च पापोंका मूल कारण इच्छा है और यह मोहकर्मके निमित्तसे होती है।

(४।३।४९)

११. शारीरिक शक्ति क्षीण हो गई, आत्मामें स्फूर्ति नहीं, इसका कारण मोहकी सवलता है। कह देते हैं कि मोह-शत्रु प्रवल है, पर स्वयं उसके कर्ता हैं। परपदार्थके शिर व्यर्थ ही दोष मढ़ते हैं।

(१९।३।४१)

१२. आत्मा स्वतन्त्र है, उसकी स्वतन्त्रताका वाधक अपनी अकर्मण्यता है। अकर्मण्यताका अर्थ है कि उसकी ओर उन्मुख नहीं होते, परपदार्थोंके रक्षण-भक्षणमें आत्माको लगा देते हैं।

(२२।४।४९)

१३. परपदार्थोंके गुण-दोषोंकी समालोचनाकी अपेक्षा आत्मीय परिणतिको निर्मल करना वहुत लाभदायक है। देवपूजा करनेका तात्पर्य यह है कि आत्माकी परिणति निर्मल होनेसे वह विशुद्धावस्था हो जाती है, व्यक्ति देवपदको प्राप्त हो जाता है। मेरा आत्मा भी यदि इनके कथित मार्ग पर चले तव कालान्तरमें हम भी तत्तुल्य (देवकी तरह) हो सकते हैं।

(१२।६।४९)

१४. लोक-निन्दाके भयसे व्रतको पालना कोई लाभप्रद नहीं। आत्माकी जो भयादि परिणति है उसे दूर करनेकी चेष्टा करो। "संसार दुःखमय है" इस भयके भूतको त्यागो। संसार तो संसार ही रहेगा, यदि उससे अपनेको रक्षित रखना चाहते हो तब मध्यस्थ हो जाओ। परपदार्थके निमित्तसे राग-द्वेष होता है यह भ्रान्ति निकाल दो। राग-द्वेषकी जननी तुम्हारी ही प्रवृत्ति है। जिस दिन उस प्रवृत्तिसे मुख मोड़ लोगे यह सब जाल-बन्धन अपने आप टूट जायगा।

(१३।६।४९)

१५. हमारी प्रकृति इतनी दुर्बल है कि हम स्वयं जालमें फँस जाते हैं। स्वात्मतत्त्वके सम्मुख नहीं होते। स्वात्मतत्त्वमें दर्शन और ज्ञानकी ही मुख्यता है, उसे हम उस रूप नहीं रहने देते। निरन्तर परपदार्थोंके सम्पर्कमें अपनी प्रवृत्ति करना चाहते हैं, यही हमारी महती अज्ञानता है, इसे मेटना ही हमारे कल्याणपथमें साधक होगा।

(१४।७।४९)

१६. हमने निरन्तर यह प्रयास किया कि जगत् कल्याणपथ पर चले। परन्तु हम स्वयं कहाँ चल रहे हैं? हमने अपनेको समझा नहीं। इस मनुष्यभवको पाकर भी यदि अपनेको नहीं पहिचाना तब कब ऐसा सुअवसर आत्मभिन्न जाननेका आवेगा? वैसे तो ऐसा कौन होगा जो अपनेको न जानता होगा? 'हम' कहनेसे ही तो हम अपनी सत्ता स्वीकार करते हैं, अनुभव भी होता है कि 'मैं बोल रहा हूँ।' इस प्रतीतिके होने पर भी हम व्यर्थकी झंझटोंमें अपनी आयुके दिन बिता देते हैं।

(२४।७।४९)

१७. व्यर्थ बात करना आत्म-पवित्रताकी अवहेलना करना है। संकोच करना आत्माको दुर्बल बनाना है। अतः जहाँ तक बने

परसे सम्बन्ध त्यागो। परके साथ सम्बन्धसे ही जीव दुर्गतिका पात्र होता है। इसलिये स्वात्म-सम्बन्धी ज्ञानमें ही चेष्टा करनी चाहिये।

(३१।७।४९)

१८. दृढ़प्रतिज्ञ रहो, कार्यसिद्धि दृढ़ प्रयत्नसे होती है। प्रयत्न सम्यग्दर्शन व ज्ञानपूर्वक होना चाहिये। गल्पवादसे स्वात्मलाभ नहीं होता। स्वात्मलाभ कहीं अन्यत्र नहीं, पास ही है। उस तरफ आज तक हमने दृष्टिपात नहीं किया। हम अन्यको समझानेकी चेष्टा करते हैं। कोई भी शक्ति आज तक परको न समझा सकी, और न समझा सकती है, केवल आत्मीय मोह ही तुम्हारी यह दुर्दशा कर रहा है, और यथार्थ जाने विना तुम्हारी यह दशा हो रही है।

(१।८।४९)

१९. 'आत्माका अस्तित्व है' इसमें सन्देह नहीं परन्तु उसमें जो विकृत परिणमन है वही उपद्रवोंकी जड़ है। उसे निर्मूल करना चाहिये।

(२६।८।४९)

२०. शुद्ध चित्तके वास्ते शुद्ध आत्माको जानो। शुद्ध ज्ञान वह है जिसमें रागादि भावकी कलुषता न हो। शत्रु रागादिक ही हैं, अन्य कोई नहीं। रागादिकके अनुकूल परपदार्थ होता है तब तो उसकी रक्षाका प्रयत्न होता है और रागादि प्रतिकूल होनेसे उसके नाशके लिये प्रयत्न करनेकी सूझती है। धिक् इस परिणतिको।

(२२।९।४९)

२१. अन्तरङ्गसे देखो तब सभी पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं, स्वतन्त्र हैं, अद्वैत हैं उन्हें अपना मानना इसका अर्थ यदि वे हमारे

हो गये तब उनका स्वत्व गया और हम उनरूप होनेसे अपने स्वत्वसे वञ्चित हुए, दोनों हीका अभाव हो गया।

(५ । १० । ४९)

२२. अन्तरायका होना लाभदायक है। जो दोष होते हैं वे अपगत हो जाते हैं। क्षुधा परीषहके सहनेका अवसर आता है, अवमौदर्य तपका अवसर अपने आप हो जाता है। आत्मीय परिणामोंका परिचय सहज हो जाता है।

(१ । १२ । ४९)

२३. हे आत्मन्! अब तुम इधर-उधरके विकल्पोंको त्यागो। केवल स्वात्म-कल्याणकी चेष्टा करो। अब तुम्हारी बाह्यशक्ति क्षीण हो गई, चला जाता नहीं, अन्न हजम नहीं होता, बोलनेकी शक्ति घट गई, मुखसे लार बहती है, पैर उठते नहीं। अब तो शान्तिसे अपनी ओर देखो! केवल लौकिक प्रतिष्ठामें अपना जीवन उत्सर्ग मत कर दो, इसका पाना अतिदुर्लभ है। प्रशंसा पुद्गल शब्दमय है, उसका स्पर्श आत्मासे नहीं। आत्मा अखण्ड अचिन्त्य है। उसीपर विजय प्राप्त करो, व्यर्थके उपद्रवोंसे उसे सुरक्षित रखो।

(१९ । ११ । ४४)

आत्मतत्त्व

१. 'आत्म-चिन्ता क्या है' इसका विकल्प वहुतसे मनुष्योंको रहता है। तथा आत्मद्रव्यके जाननेके लिए वड़े-वड़े पुराण पढ़ते हैं, बड़े-बड़े पुरुषोंसे सत्सङ्ग करते हैं। परन्तु वह कोई अदृष्ट वस्तु नहीं। जिसमें यह विचार होते हैं वही तो आत्मा है। जहाँ सुख दुःख एवं इष्टानिष्टकी कल्पना होती है वही आत्मा है।

(८।३।३९)

२. 'आत्मा क्या है' यह जो प्रश्न करता है वही तो आत्मा है। तथा जो उत्तर देता है वही आत्मा है। जिसमें यह वात उत्पन्न होती है कि मैं अज्ञानी हूँ अतः ज्ञानी वननेका प्रयत्न करूँ, जिसमें ऐसे अनेक भाव होते हैं वही आत्मा है।

(१२।३।३९)

३. आत्मा द्रव्य है, क्योंकि वह ज्ञानादिक गुण तथा रागादिक पर्यायोंका आश्रय है। जैसे पुद्गल द्रव्यमें रूपादि गुण और संस्थानादि पर्यायोंकी वृत्ति होनेसे 'द्रव्य' व्यवहार होता है तद्वत् ही आत्मामें जानना। पुद्गल तो प्रत्यक्षज्ञानगोचर है अतः उसके अस्तित्वमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु आत्मा तो प्रत्यक्ष नहीं, इसलिये उसके अस्तित्वमें क्या प्रमाण है? यह प्रश्न अवोधसूचक है। जिस दीपकके द्वारा घटका ज्ञान होता है उसे स्वीकार न किया जाय और उससे प्रकाशित घटको स्वीकार किया जाय, तव आप उसे क्या कहेंगे? इसी प्रकार पुद्गलको तो प्रत्यक्ष माने, परन्तु जिसने पुद्गलको प्रत्यक्ष कराया उसे न माने, तो यह कहाँतक सङ्गत है? जो घटादिकको जाननेवाला है वह तो ज्ञान है और वह गुण है। इसी गुणका आश्रयीभूत आत्मा है। अतएव यह प्रतीति

होती है कि 'घटविषयक ज्ञानवान् मैं हूँ'। आत्मद्रव्यके द्वारा ही संसारके यह समस्त व्यापार हो रहे हैं, उसीकी विकृतावस्थाका नाम संसार और विकाराभाव होनेपर जो अवस्था शेष रहती है उसीका नाम मोक्ष है।

(२८, २९ । ६ । ३९)

४. परमार्थसे सभी द्रव्योंका परिणमन स्वद्रव्योंमें ही होता है। इसलिये जो आत्मद्रव्य है उसका भी परिणमन उसीमें होता है। उसका मुख्य परिणमन ज्ञान है, ज्ञान ही आत्माको अन्य पदार्थोंसे पृथक् कराता है। जब आत्माको श्रुतके द्वारा जानता है। तब कौन जानता है ? आत्मा ही जानता है, जाननेवाला ही आत्मा है, और जाननेके योग्य भी वही है, और जाननेकी शक्ति भी उसीकी ही एक पर्याय है। इसलिये यही ध्वनित होता है कि आत्मा आत्माको, आत्माके द्वारा, आत्माके लिये, आत्मासे, आत्मामें जानता है, यही परमार्थसे श्रुतकेवली है। और जो सम्पूर्ण श्रुतको जानता है वह श्रुतकेवली है, यह व्यवहार है। यहाँपर परपदार्थोंको जाननेकी मुख्यतासे कथन किया है—पूर्व जो श्रुतकेवली कहा उसमें मुख्य ज्ञेय आत्मा ही है, यहाँपर ज्ञेयान्तर है।

(६ । १० । ३९)

५. आत्माकी प्रकृति जाननेकी है परन्तु तुमने उसको नाना प्रकारके पदार्थ-संसर्गसे इतना दूषित बना लिया है कि वह जब भी अपना कार्य करेगी, परपदार्थके सहयोगमें ही कर सकेगी। जिसके पास जाओ, यही राग आलापेगा कि बिना परके कुछ नहीं हो सकता। भला सोचो तो सही, इस महती अज्ञानताकी भी कोई अवधि है ?

(१६ । १२ । ३९)

६. आनन्दकी जननी आत्माकी ही परिणति है। और वह कहीं नहीं। न तो उसका उत्पत्तिस्थान तीर्थ है, और न पुस्तक है,

और न यह साधुसमागम ही है। अपितु जिस समय हम इन सभी वाह्यकारणोंसे विरक्त होकर अपने ज्ञाता द्रष्टाकी ओर लक्ष्य करेंगे, उसी समय वह कल्याण-जननी आविर्भूत हो जावेगी। वह जननी कल्याणरूपा है, उसके होते ही हमारे जो ज्ञानादिक गुण अनादि कालसे तिरोहित हो रहे हैं, अपने आप उदयको प्राप्त हो जावेंगे।

(२४।१२।३९)

७. आत्माका ध्येय दुःखसे निवृत्ति है। उसके लिये प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं, जिन कार्योंसे आकुलता होती है उन कार्योंके उत्पादक कारणोंको त्यागना ही दुःख-निवृत्तिका उपाय है।

(१।१।४०)

८. आत्मा एक ज्ञाता-द्रष्टा पदार्थ है, उसके साथ न जाने हर्ष और विषादकी वला कहाँसे आकर लग गई? उत्तर यह है कि आत्मा ही इसके उपार्जनमें मूल कारण है। अनादि कालसे यह गोरखधन्धा चला आया है और इसकी कड़ियों (राग-द्वेष) को अव न तोड़ा गया तो आगे भी चलता रहेगा।

(२३।१।४०)

९. सर्वप्रथम आत्मनिश्चयकी आवश्यकता है। उसके बाद अन्य ज्ञानकी आवश्यकता है; क्योंकि भेदज्ञानके विषय ये दो ही पदार्थ हैं—एक आप और दूसरा अपनेसे भिन्न परपदार्थ। आपको जाननेका साधन अपने ही पास है। जैसे दीपकको जाननेके लिये अन्य दीपककी आवश्यकता नहीं होती उसी तरह आत्माको जाननेके लिए अन्य ज्ञानकी भी आवश्यकता नहीं है। अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा हम जगत्‌के पदार्थोंको जानते हैं उसीसे अपने आपको भी जानते हैं।

(२९।१।४०)

१०. औरको समझनेकी अपेक्षा अपने ही को समझना अच्छा है। यदि अपनी प्रकृति ज्ञानमें आ गई तब सभी आ गया। अन्यथा

कुछ नहीं आया। ठीक ही है—"आपको न जाने सो क्या जाने जहानको।"

(४।२।४०)

११. आत्माओंमें हीनाधिकता होना कोई आश्चर्यकारी नहीं, क्योंकि कर्मोंकी विचित्रता हीनाधिकतामें प्रयोजक है।

(१८।२।४०)

१२. जितनी प्रवृत्ति है, बन्धमूलक है। इस जीवकी शरीरमें आत्मबुद्धि हो रही है और शरीरको अपना माननेसे उसकी रक्षाके लिये परपदार्थोंमें राग करना स्वाभाविक है। अतः जिनको इन रागादिकसे भय है उन्हें उचित है कि वे शरीरको आत्मासे भिन्न समझें।

(१३।४।४०)

१३. आत्मा ही आत्माका मित्र है और आत्मा ही आत्माका शत्रु है। जिस शुद्ध स्वरूप आत्माने रागादि कलंकित अपने आत्माको जीत लिया उस आत्माका आत्मा ही मित्र है। और आत्मासे भिन्न सभी परकीय पदार्थ अनात्मीय हैं अतः उन्हें अपना माननेकी जो परिणति है वही आत्माका शत्रु है।

(१०।५।४०)

१४. संसार बन्धनरूप है, रहे। आत्मा भी वह वस्तु है जो इस बन्धनको बनाता और मिटाता है। आत्मा ही संसारका एक मुख्य पदार्थ है, वह चाहे तो चौरासी लाख योनियोंका निर्माण करे और यदि चाहे तो अन्तर्मुहूर्तमें इनका नाश कर दे। इसकी महिमा अचिन्त्य और अनन्त हैं, इसके इशारे पर संसारका निर्माण और विनाश होता है।

(१६।५।४०)

१५. आत्मतत्त्व तक जाना कोई कठिन नहीं; क्योंकि इसके लिये क्षेत्रान्तरमें जानेकी आवश्यकता नहीं है, अपने ही विचारमें

तो वह अनायास प्राप्त हो सकता है। परन्तु हम अपने विचारोंको अति अपवित्र बनाकर अपनेको उत्तम मान रहे हैं। यही तो बड़ी भारी भूल है। जिस समय आत्मासे यह भूल निकल जाय, कषाय चली जाय, समझो कि वह तत्त्व स्वयं प्रकाशमान हो जायगा।

(२१।५।४०)

१६. आत्मद्रव्यकी ही नहीं, सभी द्रव्योंकी अचिन्त्य महिमा है। परन्तु आत्माको जो विशेष आदर प्राप्त है उसका कारण जानना गुण है। अन्य जो पदार्थ हैं वे स्वकीय स्वरूपके भोक्ता नहीं, क्योंकि उनमें जाननेरूप चैतन्य गुणका अभाव है। आत्मातिरिक्त जो शेष पञ्च द्रव्य हैं वे अचेतन हैं। उनमें स्वपरको जाननेकी शक्ति नहीं। आत्मा अपनेको भी जानता है और परको भी जानता है। यह जानना गुण सर्वोपरि है। परन्तु संसारमें मोहोदयके निमित्तसे आत्मामें मिथ्यादर्शन रूप परिणाम होता है, जिसके सद्भावमें हमें स्वपर-भेदविज्ञान नहीं होता। और इसके अभावसे हम शरीर, पुत्र, कलत्र ही में आत्मीयताकी कल्पना कर उनके सद्भावके लिये अनेक प्रकारके पापोंका संचयकर अहर्निश इसी पाप कार्यमें संलग्न रहते हैं। धर्मकर्मोंकी अवहेलना करनेमें पटु रहते हैं। यद्यपि उनका अस्तित्व अपने पुरुषार्थके अधीन नहीं, जब उनकी पर्यायका अन्त आ जाता है, उस समय हमारे नाना प्रकारके संसर्ग होने पर पर्यायका अन्त हो जाता है।

(२४।६।४०)

१७. आत्मा अनन्त शक्तिका धनी है। अतः कायरताको छोड़कर हमें उसकी अचिन्त्य अनन्त शक्तिका लाभ लेना चाहिये।

(१७।७।४०)

१८. हर एक अपनी परिणति निरन्तर उच्चतम होनेकी अभिलाषा रखता है। जघन्यसे जघन्य और अधमसे अधम अपनेको

हीन नहीं समझता, वास्तवमें आत्मामें कलुषितपना नहीं। यह जो उसमें होता है नैमित्तिक है। आत्मा स्वभावसे ही मलीन नहीं, क्योंकि वह उस मलीनताको दूर करनेकी चेष्टा करता है। यदि उसके साथ उसका तादात्म्य होता तो कदापि उसके दूर करनेका साहस न करता।

(६।८।४०)

१९. 'आत्मा अनन्त सुखका पात्र है' केवल यह कथा करनेसे क्या प्रयोजन निकला? उसके जाननेका भी तो प्रयत्न करो। 'सुख क्या वस्तु है' पहिले इसका निर्णय करो, तब फिर अनुमान करो कि किस आत्मामें यह पूर्ण होगा? जब तक आंशिक सुखका ज्ञान नहीं तबतक अनन्त सुखकी अनुमिति होना कठिन है। आंशिक ज्ञानका सद्भाव देखकर ही तो यह अनुमान होता है कि किसी आत्मामें इसकी पूर्णता होगी। धूम-वह्निकी व्याप्ति जिसे गृहीत है वही तो धूमको देखकर अग्निका अनुमान कर सकता है।

(३१।८।४०)

२०. यह आत्मा अतिसूक्ष्म है, क्योंकि प्रत्येकके ज्ञानगम्य नहीं। यह बहुत जनोंकी कथा है परन्तु इसमें कुछ तत्त्व नहीं। आत्मवस्तु प्रत्येक मनुष्यके ज्ञानगम्य है। यदि यह अनुभवका विषय न होता तब सुख-दुःखका अनुभव ही न होता।

(१३।१।४४)

२१. आत्माका स्वभाव जानना-देखना है। परन्तु जो देख जानकर विकृत होता है वह आत्मपरिणतिसे च्युत हो जाता है और उसी समय संसारकी यातनाओंका पात्र होता है।

(३०।५।४४)

२२. आत्मबोध होना कोई कठिन बात नहीं। केवल दृष्टिकी विषमता ही बाधक है। जहाँ बाधकता गई, कल्याण समीप है।

(२२।७।४४)

२३. आत्मदृष्टिके बिना यह सब उपद्रव है। जिन जीवोंने अपने आपको न जाना वे कदापि परका हित नहीं कर सकते। इसका मूल कारण यह है कि जब मेघोंसे आच्छादित सूर्य स्वयं ही ही प्रकाशमान नहीं तब परको प्रकाशित कैसे करेगा ?

(२।८।४४)

●

आत्म-निर्मलता

१. यदि आपकी आत्मा निर्मल है तो वह स्वयं कठिन-से-कठिन भी कार्य करनेमें समर्थ हो जायगी। निर्मल आत्माके जो भाव हैं वही धर्म है और उनके जो वाक्य हैं वही आगम है।

(४।४।३९)

२. चारित्र-परिपालनमें बाह्य क्रियायें भी सहायक होती हैं; क्योंकि वे कथञ्चित् शुभ परिणामोंकी नियामक होती हैं। परन्तु कुछ लोग बाह्य व्यापारको कुछ भी न समझ अपने आचरणको एकदम मलिन कर लेते हैं। ऐसे लोगोसे कभी भी आत्महित नहीं हो सकता। जो मनुष्य मदिराको पानी समझ उसका उपयोग करेगा वह नियमसे पागल होगा। अतः बाह्य आचरण भी पवित्र बनानेका प्रयत्न करो। इस प्रयत्नसे एक दिन कषायकी प्रवृत्ति रुकेगी, अन्तरङ्गकी निर्मलता होगी।

(२५।५।३९)

३. आपकी अन्तरात्मा जितने अंशोंमें निर्मल होगी उतने ही अंशोंमें शान्तिकी वृद्धि होगी। शान्ति शब्दोंमें नहीं, कायमें नहीं, मनमें नहीं, इसका उदय आत्मामें ही होता है। तथा इसके विरुद्ध जो अशान्ति है वह भी मन, वचन, कायके परे है। इसका भी मूल कारण आत्मा है। यदि इस अशान्तिसे बचना चाहते हो तो आत्माकी रक्षा करो, आत्मा ज्ञाता द्रष्टा है, उसे अन्यथा न होने दो, विपरीताभिप्रायसे मलिन या अशान्त मत होने दो।

(५।१०।३९)

४. अभिप्रायको निर्मल बनानेके लिये आत्मतत्त्वपर विश्वास करो, पञ्चेन्द्रियके विषयोंसे सुरक्षित रहो। ज्ञानार्जन करना ही

आत्माका कल्याणकारक नहीं, साथमें रागादिक छोड़ना भी आवश्यक है।

(१६ । १० । ३९)

५. बन्धका कारण अपनी मलिनता ही है। और इस मलिनताकी उत्पत्तिका कारण निमित्तकारण कर्मोंकी विपाकावस्था और नोकर्म—वाह्य पदार्थोंकी निमित्तता है। और यह निमित्तता यहाँ तक प्रवलताको प्राप्त हो गई है कि अन्तरङ्ग कारणोंको मात कर चुकी है। चालके भूलनेसे वजीरका पतन और चालके सुधारसे प्यादा वजीर वन जाता है। ठीक शतरंजकी तरह इसकी चाल हो रही है।

(६ । १ । ४०)

६. वृत्तिको स्वच्छ रखनेके लिये मनको जितना वशमें रखोगे उतना ही सुख पाओगे।

(२२ । ३ । ४०)

७. संसारकी विचित्रता ही परलोककी अनुमापिका है। अतः संसार कुछ भी रहे, हमें आवश्यकता स्वकीय परिणतिको निर्मल रखनेकी है। और वह तभी निर्मल रहेगी जव कि हम सभी औपाधिक भावोंसे होनेवाले विकारयुक्त परिणामोंका दूषित प्रभाव अपने ऊपर न पड़ने दें।

(२४ । ३ । ४०)

८. आत्मनिर्मलता पापहारिणी है। आत्मामें मलिनता ही एक ऐसी विकारावस्था है जो आत्माको संसारके वंधनमें डाले है। वह मलिनता दो रूप है—पुण्य और पाप। पापको सव वुरा समझते हैं परन्तु पुण्यको वुरा समझनेवाले संसारमें वहुत थोड़े हैं, किन्तु परमार्थरसके जो रसिक हैं वे इसे भी विषकी जड़ी समझते हैं, जिसके खानेसे आत्मा मूर्च्छित हो जाता है।

(४ । ४ । ४०)

९. अनन्त कालसे आत्माकी परिणति परात्मामें ही निजत्वका अध्यास कर रही है। यही इसकी मलिनता है। इन मलिनतासे आत्मा अनन्त संसारका पात्र होता है। क्षेत्र और कालादि संसारके कारण नहीं, कारण तो आत्माको मलिन करनेवाले यह मिथ्यात्व और कषाय ही हैं। इनका अन्त होते ही आत्मा निर्मल हो जाता है, संसारका अन्त हो जाता है।

१०. अपने परिणामोंकी निर्मलता और मलिनता किसी अन्यके अधीन नहीं, हम ही उसमें मूल कारण हैं।

(२७।५।४०)

११. किसी भी कार्यमें अपनी प्रवृत्ति मन, वचन और कायकी सरलतापूर्वक करो। जहाँ तक बने, अपने अभिप्रायको निर्मल रखो। उसकी निर्मलतासे ही आत्माका कल्याण है।

(८।७।४०)

१२. परिणाम निर्मल होना अनिवार्य है परन्तु तात्त्विक वोध शून्य होनेसे निर्मलताकी विरलता है।

(५।५।४४)

१३. उपयोगकी निर्मलता आत्मगुणके विकासमें कारण है। आत्मामें मोहकी लहर आनेसे रुकी कि कल्याण पास है।

(२६।५।४४)

१४. कार्यकी सिद्धिका मूल कारण हृदयकी पवित्रता है, उस ओर किसीका लक्ष्य नहीं। केवल जो मनमें आता है वही कर वैठते हैं।

(३।६।४४)

१५. उत्तमता अपने निर्मल आत्म-परिणामोंमें है और सव जगह उपद्रव है।

(१।७।४४)

१६. जहाँ अन्तरङ्गमें स्वच्छता है वहाँ बाह्य समागम भी कुछ उपद्रवजनक नहीं। जहाँ चित्तवृत्ति कलुषित है वहाँ अन्य पदार्थ भी विपरीत ज्ञात होते हैं।

(८। ८। ४४)

१७. हर कोई आत्म-निर्मलताके लिये लालायित है। दृष्टि भी प्रायः कल्याण-मार्गकी ओर है परन्तु चारित्रमोहकी प्रबलता उसके कार्यरूपसे परिणत होनेमें बाधक है।

(१३। ८। ४४)

१८. निर्मलता पुण्यकी जननी है। निर्मलताके लिये सबसे पहिले अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मीयता पृथक् करनेकी है अनन्तर और कार्य करनेकी आवश्यकता है। परन्तु हम लोग अनादिसे मोहमें उन्मत्त हो रहे हैं, यही महती त्रुटि है।

(१६। ८। ४४)

१९. आत्माकी परिणति ज्ञान-दर्शनरूप है। वह स्वभावसे तो निर्मल है। केवल राग-द्वेषके वशीभूत जब आत्मा हो जाता है तब ज्ञानमें किसी पदार्थको इष्ट और किसीको अनिष्ट रूप देखता है।

(२६। १०। ४४)

मानवता की कसौटी

१. मनुष्यको सागरके समान गम्भीर होना चाहिये, सिंहके सदृश स्वाभिमानी और शूर होना चाहिये। यही लौकिक और पारमार्थिक सुखकी जननी है।

(३ । १ । १९४९)

२. सबको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करनेवाला महान् मूर्ख है। परोपकार करनेका अभिमान करनेवाला मनुष्य नहीं। जो कार्य निरपेक्षतासे करेगा वही मनुष्य है। मनुष्य वह है जो आत्माको कष्टोंसे बचावे। परोपकारकी भावना शुभोपयोग है। यह भी बन्धकी जननी है। जो बन्धमें डाले वह आत्माको उज्ज्वल बनानेमें समर्थ नहीं।

(१ । ९ । ४९)

३. मनुष्य-जन्मकी सार्थकता संयमके पालनेमें है और संयमका अर्थ कषायसे आत्माकी रक्षा करना है। इसके लिये पर-पदार्थोंसे सम्पर्क त्यागो। पर-पदार्थोंका सम्पर्क सर्वदा ही रहेगा। लोकमें सभी पदार्थ सर्वत्र हैं, केवल उनमें हमारी जो आत्मीय कल्पना है वही त्यागने योग्य है। त्यागनेका अर्थ यही है जो यह भाव न हो कि 'यह पदार्थ मेरा है।' पदार्थ कुछ मार्गमें न तो साधक है, न बाधक है। उससे ममभाव ही बाधक और आत्मभिन्न भाव ही साधक है।

(१५ । ९ । ४९)

४. जो मनुष्य परका उपकार करनेमें अपना समय लगाते हैं उनके चित्त सदा प्रसन्न रहते हैं। आत्माकी परिणति प्रायः उच्च-तम होनेकी रहती है। इसीसे सिद्ध होता है कि आत्मा तुच्छ नहीं

है। किन्तु कर्मके विपाकसे आत्मा उस अवस्थाको प्राप्त कर लेता है जिसे देखकर उत्तम पुरुषोंको दया आती है। विष्टा खानेवाले शूकर, गली-गलीमें पिटनेवाले कूकर और शक्तिसे बाहर भार ढोनेवाले गर्दभको देखकर किसे दया नहीं आती ?

(२।१०।४९)

५. मनुष्यता वह वस्तु है जो आत्माको संसार-बन्धनसे मुक्त करा देती है। अमानुषता ही सांसारिक दुखोंकी जननी है। मनुष्य वह जो अपनेको संसार-बन्धनोंसे मुक्त रखनेके लिए उसके कारणोंसे बचे।

६. मनुष्य वही है जो कुत्सित परिणामोंसे स्वात्मरक्षा करे। केवल गल्पवादसे आत्माकी शुद्धि नहीं होती। शुद्धिका कारण निर्दोष दृष्टि है।

(१८।१०।४९)

७. जिसके वहुत सहायक होते हैं उसे कभी साता नहीं मिल सकती। अनेकोंके साथ सम्बन्ध होना यही महासंकट है। जिसके अनेक सम्बन्ध होवेंगे उसका उपयोग निरन्तर झंझटोंमें उलझा रहेगा। मनुष्य वही है जो परको सवसे हेय समझे, हेय ही न समझे उनमें न राग करे न द्वेष।

(२७।१०।४९)

८. मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। वह चाहे तब अपनी परिणतिको स्वच्छ बनाकर निर्मल बन सकता है। परन्तु इसके अन्दर ईर्ष्या भावका वेग रहता है, अतः वह अन्यका उत्कर्ष नहीं देख सकता। यद्यपि इससे अपना कुछ लाभ नहीं, परिणामोंमें संक्लेशता रहती है। इसका मूल कारण आपको अपनी प्रशंसा रुचती है, एतदर्थ अन्यका उत्कर्ष सहन नहीं होता, अतः जान-बूझकर परमें जो दोष नहीं उनका आरोप करता है। यदि इस

लोकैषणाका त्यागकर मानवताको पहिचाने तो नररत्न बन सकता है। कल्याणपथका अवलम्बन ले मोक्ष जा सकता है।

(१५ । १ । ५१)

९. बहुत ही विचारशीलतासे काम लेना चतुर मनुष्यका काम है। मनुष्य प्रायः प्रतिष्ठाका लालची होता है।

(९ । २ । ५१)

१०. संसारमें वही मनुष्य सुखका पात्र हो सकता है जिसे निन्दासे अप्रसन्नता और प्रशंसासे प्रसन्नता न हो।

(५ । ३ । ५१)

११. संसारमें काम करके नाम-ख्यातिकी जिसे इच्छा नहीं वही उत्तम पुरुष है और जो काम न करके भी ख्याति चाहते हैं वही अधम हैं, क्योंकि संसारमें जिसको अपनी ख्यातिकी इच्छा है वह कोई मनुष्य नहीं।

(१५ । ३ । ३९)

१२. अन्तरंग परिणतिकी ओर जिसकी दृष्टि नहीं वह मनुष्य होकर भी मनुष्य नहीं। मनुष्य वही है जो आत्महित करे।

(२९ । ५ । ३९)

१३. मनुष्योंके साथ व्यर्थ विवादमें समय नष्ट कर देना मनुष्यता नहीं, मूर्खता है, क्योंकि व्यर्थ विवादसे स्वपर-वञ्चना होती है, आत्माकी अवहेलना होती है, जिसका फल अनन्त संसार-के सिवा और कुछ नहीं है।

(२९ । ५ । ३९)

१४. 'मैं किसीका उपकार कर रहा हूँ' इस भावनासे रहित होकर जो उपकार करेगा वह उत्तम मनुष्य है। जो उपकारबुद्धि-से सहायता करेगा वह मध्यम मनुष्य है। जो प्रत्युपकारके भावसे सहायता करेगा वह जघन्य मनुष्य है। जो अपनी ख्यातिकी भावनासे सहायता करेगा वह अधमाधम मनुष्य है।

(१९ । ८ । ३९)

१५. एक तो वे मनुष्य हैं जो आत्म-कल्याण करते हैं और दूसरे वे मनुष्य हैं जो स्वपर-कल्याण करते हैं। ये दोनों ही उत्तम हैं। एक वे मनुष्य हैं जो परकी सहायता पाकर स्वात्मकल्याणके मार्गमें लग जाते हैं, एक वे मनुष्य हैं जो निरन्तर अपना और परका अकल्याण करना ही अपना ध्येय बना बैठे हैं। तथा निरन्तर अपना ही अकल्याण करते रहते हैं।

(१९। ६। ४०)

१६. मनुष्य वही है जो संसारकी वासनाओंका दास न हो। गल्पवादमें तो सभी चतुर और धर्मात्मा हैं किन्तु जो कार्यमें तत्पर हों उन्हींकी गणना भद्र मनुष्योंमें हो सकती है।

(१४। ५। ४४)

१७. मनुष्य वही है जिसके द्वारा संसारका भला हो। अपना भला तो सभी चाहते हैं और वह भला केवल बाह्य पदार्थोंसे सम्बन्ध रखता है। परन्तु जिस कल्याणमार्गसे संसार-परम्पराका उच्छेद हो जावे उस ओर बहुतोंकी दृष्टि नहीं।

(१७। ७। ४४)

१८. इन मनुष्योंका संसर्ग अहितकर है—

१—जो हृदयका स्वच्छ न हो।

२—जो पक्षपाती हो।

३—जो आगमकी आज्ञाकी अवहेलना करता हो।

४—जो दम्भ रखता हो।

५—जो धर्मात्मा बननेकी चेष्टा करे, परन्तु वास्तविक सिद्धान्तको न माने।

(२१। ५। ४४)

१९. मनुष्य-जन्मकी सफलता इसीमें है कि अपनेको परसे भिन्न जानकर आपरूप होनेका प्रयत्न करना, क्योंकि यही जन्म ऐसा है जिसमें आपरूपमें लीन होनेकी योग्यता है परन्तु देवोंके

भेद-ज्ञानके अनुरूप चारित्र धारण करनेकी योग्यता नहीं है। यही कारण है कि उनको सर्वार्थसिद्धि पद मिलने पर भी ३३ सागर असंयममें जाते हैं।

(१२।८।४४)

२०. मनुष्य वह है जो आत्मीय गुणोंमें अनुरक्त रहता है। जो आत्माके प्रतिकूल आचरण करता है वही संसारी है। संसार एक विषम, भयावह, दुखद अरण्य है। इसमें मोहरूपी सिंह द्वारा क्षुद्र जीवोंको नाना यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। जो इन यातनाओंसे बचना चाहते हैं वे अपनी मनुष्यताका ध्यान रखते हैं।

(१८।८।४४)

धर्म और धर्मात्मा

१. लोगोंकी धर्मके प्रति श्रद्धा है किन्तु धर्मात्माओंका अभाव है। लोग प्रतिष्ठा चाहते हैं परन्तु धर्मको आदर नहीं देते। मोहके प्रति आदर है धर्मके प्रति आदर नहीं।

२. धर्म आत्मीय वस्तु है, उसका आदर विरला ही करता है। जो आदर करता है वही संसार सागरसे पार होता है।

(दैनन्दिनी ३। १। ४९)

३. खेद इस वातका है जो हमने यह मान रक्खा है कि धर्मका अधिकार हमारा है। यह कुछ वुद्धिमें नहीं आता। धर्म तो वह वस्तु है जिसके पात्र सभी आत्मा हैं। वाधक कारण जो हैं उन्हें दूर करना चाहिये।

(२१। १। ४९)

४. धर्म वाह्य चेष्टामें नहीं, न अधर्म ही वाह्य चेष्टामें है। उसका सम्वन्ध सीधा आत्मासे है। आत्माकी सत्ताका अनुमापक सुख दुःखका अनुभव है तथा प्रत्यभिज्ञान भी आत्माकी नित्यतामें कारण है। प्रत्येक मनुष्य सुखकी अभिलाषा करता है।

(७। २। ४९)

५. परोपकार करनेकी ओर लक्ष्य नहीं, इसका कारण यह है कि हम लोग आत्मतत्त्वको नहीं जानते अतः यद्वा तद्वा प्रवृत्ति कर अपनेको धर्मात्मा मान लेते हैं। धर्मात्मा वही हो सकता है जो धर्मको अङ्गीकार करे।

(२०। १। ४९)

६. हम लोग रूढ़िके उपासक हैं, धर्मके वास्तविक तत्त्वसे दूर हैं। धर्म आत्माकी शान्ति परिणतिके उदयमें होता है, अतः

उचित तो यह है कि परपदार्थोंसे जो आत्मीय सम्बन्ध है उसे त्यागना चाहिये। जब तक यह न होगा सभी क्रियाएँ निःसार हैं। इसका अर्थ यह कि अनात्मीय पदार्थोंके साथ जब तक निजत्वकी कल्पना है तब तक वह कभी भी धर्मका पात्र नहीं हो सकता।

(२२ । १ । ४९)

७. धर्मका स्वरूप तो निर्मल आत्माकी परिणति है। उसकी प्राप्ति मोह रागद्वेषके अभावमें होती है। यदि रागद्वेषकी प्रचुरता है तब आत्माका कल्याण होना असम्भव है।

(९ । ५ । ४९)

८. प्रत्येक व्यक्तिको धर्मसाधनमें सावधान होना चाहिये। धर्मसाधनका अर्थ है परिणामोंकी व्यग्रतासे अपनी रक्षा करना। धर्मका तात्पर्य बाह्य क्रियाओंसे नहीं है। अज्ञानी लोग ही बाह्य आचरण और अन्नादिके त्याग मात्रमें धर्म मानते हैं।

(९ । ६ । ४९)

९. धर्म जीवनका स्वच्छ स्वभाव है। इसका उदय होते ही आत्मा कैवल्यावस्थाका पात्र हो जाता है।

(१३ । ६ । ४९)

१०. धर्मका विकास उत्कृष्ट आत्मामें होता है।

(२० । ६ । ४९)

११. धर्मका तत्त्व सरल है किन्तु अन्तरङ्गमें माया न होनी चाहिये।

(२२ । ७ । ४९)

१२. धर्म आत्माकी निज परिणति है, उसका प्राप्त होना कठिन नहीं परन्तु फिर भी हमारी प्रकृति अनादिसे परपदार्थोंमें उलझी रहती है। इससे हम सर्वथा स्वात्मतत्त्वसे वञ्चित रहते हैं। इधर-उधरके कार्योंमें व्यग्र रहते हैं और व्यग्र मनुष्य आत्म-तत्त्वके पात्र नहीं।

(५ । ८ । ४९)

१३. लोग अभ्यन्तरसे धर्मको धारण नहीं करते। केवल लौकिक प्रतिष्ठाके लिये व्रत धारण करते हैं। मर्मका समझना कठिन है। मर्म वही समझता है जिसके अन्तरङ्गसे धर्मकी रुचि हो। रुचिके अनुकूल ही क्रिया होती है।

(१८।८।४९)

१४. सब मनुष्य अपने विषय भोगमें आसक्त हैं। कुल-परम्पराकी परिपाटीसे धर्मकी रक्षा हो रही है। धर्मके सिद्धान्तोंसे धर्मकी प्रवृत्ति नहीं है किन्तु "हमारे प्राचीन पुरुषोंकी यही पद्धति रही, इससे हमको भी करना चाहिये" इस रूढ़िवादपर ही है। यदि मानव धर्मके वास्तविक रहस्यको समझते, सिद्धान्तोंपर चलते, तब यह रूढ़िवाद कभीका ध्वंस हो जाता।

(३१।८।४९)

१५. संसारमें परिग्रह पापकी जड़ है, यह जहाँ जावेगा वहीं पर अनेक उपद्रव करावेगा। करावे; किन्तु जिनको आत्म-हित करना है वे इसे त्यागें। त्यागना परिग्रहका नहीं, मूर्च्छा त्यागना ही धर्म है।

(७।१०।४९)

१६. धर्मका स्वरूप सुननेमें नहीं आता, सुननेका विषय तो शब्द है। शब्दसे हम अर्थकी कल्पना करते हैं, वह कल्पना भी परम्परासे चले आनेवाले संकेतों द्वारा व्यवहारमें चली आती है। जैसे घट शब्दसे घट अर्थका बोध होता है और पट शब्दसे पटका प्रतिबोध होता है। सङ्केतोंकी रचना वक्ताकी इच्छाके अनुकूल होती है।

(१६।१०।४९)

१७. मनुष्य धर्मका आदर करता है, धर्मका आदर होना ही चाहिये, क्योंकि वह निज वस्तु है, वह परकी निरपेक्षता ही से होता है। हम अनादिसे जो भ्रमण कर रहे हैं उसका मूल कारण

हमने आत्मीय परिणतिको नहीं जाना। बाह्य पदार्थोंके मोहमें आकर रागद्वेष सन्ततिको उपार्जन करते रहे और उसका जो फल हुआ वह प्राय: सबके अनुभवगम्य है।

(२८ । १० । ४९)

१८. लोगोंकी श्रद्धा धर्ममें है परन्तु धर्मका स्वरूप समझनेकी चेष्टा नहीं करते। केवल पराधीन होकर कल्याण चाहते हैं। कल्याणका अस्तित्व आत्मामें निहित है किन्तु हमारी दृष्टि उस ओर जाती नहीं।

(२३ । ११ । ४९)

१९. मनुष्योंकी धार्मिक रुचि कुछ समयके प्रभावसे ह्रास हो रही है। स्त्रीगण धर्मकी इच्छा रखता है परन्तु मनुष्योंमें इतनी शक्ति और दया नहीं जो उनको सुमार्गपर ला सकें। जब स्वयं सुमार्गपर नहीं तब औरोंको क्या सुमार्गपर लावेंगे ? जो स्वयं अपनेको कर्म-कलङ्कसे रक्षित नहीं रख सकते वह परकी क्या रक्षा करेंगे।

(२४ । ११ । ४९)

२०. दया सच्चा धर्म है। दयासे ही संसारकी स्थिति योग्य रहती है। जहाँ निर्दयता है वहाँ परस्परमें कलह रहता है। वर्तमान संसारमें जो कलह हो रहा है वह दयाके अभावके कारण ही है। वर्तमानमें मनुष्य इतने स्वार्थी हो गये कि एक दूसरेकी दया नहीं करते।

(२८ । ११ । ४९)

२१. मनुष्य धर्मके पिपासु हैं परन्तु धर्मका मर्म बतानेवाले विरले हैं। अपने अन्तरङ्गमें यद्वा-तद्वा जो समझ रखा है वही लोगोंको सुना देते हैं। अभिप्राय स्वात्म-प्रशंसाका है। यह समझते हैं कि हमारे सदृश अन्य नहीं। धर्मके ठेकेदार बनते हैं। धर्म आत्माकी मोह-क्षोभसे रहित परिणतिका नाम है, उसपर दृष्टि नहीं।

(२९ । ११ । ४९)

२२. प्रायः धर्मका आदर सभी करते हैं और दृष्टि भी मनुष्यकी धर्मकी ओर है और उसका फल भी शान्ति मानते हैं। धर्मके विरोधी मोह राग-द्वेषमें भी विश्वास है। आत्माका हित भी धर्मसे मानते हैं परन्तु अनादि कालसे परपदार्थोंके द्वारा धर्मकी उत्पत्ति मान रहे हैं। तथा इसी तरह अधर्मकी भी उत्पत्ति परसे मान रहे हैं। जैसे जब पर-जीवका वध होता है तब हिंसाका कारण उस पर-जीवको ही मानते हैं। तथा जो पर-जीवका घात हुआ उसे ही हिंसा मानते हैं। वास्तवमें मारनेके जो परिणाम हुए वह परिणाम हिंसा है और वही आगामी बन्धका कारण है। अतः जिन्हें हिंसासे आत्माकी रक्षा करना इष्ट है उन्हें सबसे पहिले परिणामोंको निर्मल करना चाहिये।

"अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।"

रागादि भावोंकी उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है। इसके विपरीत परिणाम ही हिंसा है।

"यत् खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणत्वकरणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥"

कषायके योगसे द्रव्य भाव रूप प्राणोंका जो घात होता है वही हिंसा है ऐसा जानकर अहिंसक होना चाहिये। जो जीव अहिंसक होंगे वही सच्चे परम धर्मके उपासक हैं और वही संसार बन्धनसे मुक्त होंगे।

(१।३।५१)

२३. धर्म उसको कहते हैं जो समयके अनुकूल हो, जिसमें आत्माको शान्ति मिले। जहाँ आत्माको शान्ति नहीं मिलती वहाँ धर्मका लाभ नहीं प्रत्युत अधर्म होता है।

(२३।३।३९)

२४. धर्मका यथार्थ आचरण किये बिना कभी भी धर्मात्मा नहीं हो सकता। वञ्चना करना धर्म नहीं, धर्म तो आत्म-तत्त्वकी वास्तविक पहिचान है।

(७ । ४ । ३९)

२५. धर्मकी उत्पत्ति यथार्थ ज्ञानीके ही होती है।

(३० । ५ । ३९)

२६. धर्म कोई पृथक् वस्तु नहीं, धर्मीसे अभिन्न परिणाम ही धर्म है। धर्मोका जो समुदाय वही धर्मी है। धर्म और धर्मीके पृथक् प्रदेश नहीं, दोनोंके प्रदेश एक ही हैं। परन्तु लोकमें धर्म शब्दका व्यवहार पुण्यके लिये होता है और अध्यात्म शास्त्रवाले चारित्रको धर्म कहते हैं।

(१३ । ६ । ३९)

२७. धन खर्च करनेसे धर्म नहीं होता। शरीरको कृश करनेसे भी अल्पांश धर्म नहीं होता।

(२९ । ३ । ४०)

२८. धर्मके नामपर जितना रुपया अनायास ठगा जाता है उतना सट्टामें नहीं। सट्टामें तो लाभ और हानि दोनों हैं परन्तु यहाँ तो हानिका नाम भी नहीं, क्योंकि यहाँ तो बातोंकी सफाई और कामकी सरलता भर दिखाना है, इस वाग्जालमें अच्छे-अच्छे आ जाते हैं। कारण भी है कि संसारी जीव सदा आर्त रहते हैं और उससे छूटनेके लिए जिस किसीने जो कुछ भी उपाय बताया कि उसके जालमें आ जाते हैं।

(१३ । ५ । ४०)

२९. त्याग धर्म ही धर्म है, क्योंकि वस्तु स्वभावका विकास केवल वस्तुमें ही होता हैं। वस्तु स्वभावसे तो सदा ही है परन्तु अनादि परद्रव्यकी ममतासे परद्रव्यके साथ सम्बन्धित हो रहा है। वह सम्बन्ध आत्माके मोहादि परिणामसे जन्य है अतः जो

मनुष्य केवल अवस्थाको चाहते हैं उन्हें इन परपदार्थोंसे रागादिककी निवृत्ति कर लेना ही परम श्रेयस्कर है।

(३१ । १० । ४०)

३०. धार्मिक भावोंकी प्रीति घटती जाती है और वह यहाँ तक घटेगी कि दो या तीन पुस्तमें नाममात्र रह जावेगी, क्योंकि जो बड़े हैं वह बालकोंको धर्ममें नहीं लगाते।

(५ । १२ । ४०)

३१. धर्मके नामसे संसारको धोखा दिया जा सकता है। अनेक मनुष्य धर्मकी ओटमें जन साधारणसे अनेक वस्तुएँ छीन लेते हैं।

(१५ । १ । ४४)

३२. हम लोग वास्तवमें धर्म साधनके कारणोंसे अभी परिचित नहीं। बड़े आदमियोंके समागमसे प्रमादी और लालची हो गये हैं।

(३० । १ । ४४)

३३. लोगोंकी रुचि धर्म-श्रवणमें उत्तम रहती है परन्तु उसपर अमल करनेवाले बहुत अल्प हैं। धर्म वह पदार्थ है कि यदि उसपर अमल किया जावे तब संसार यातनाओंसे मुक्ति मिल सकती है।

(३० । ६ । ४४)

३४. संसारमें बहुतसे मनुष्य व्यवहार क्रियामें धर्म मान रहे हैं। क्रिया नाम व्यापारका है। व्यापार करनेमें उपयोग और योगकी आवश्यकता है। जहाँ कषाय सहित उपयोग होता है और योगोंकी चञ्चलता है वहीं संसारका अस्तित्व है। कषाय जानेके बाद फिर योगोंकी चञ्चलता बाधक नहीं।

(२२ । १२ । ४४)

सहज सुख साधन

१. पारमार्थिक सुख कहीं नहीं, केवल लौकिक सुखकी आशा त्याग देना ही परमार्थ सुखकी प्राप्तिका उपाय है। सुख शक्तिका विकास आकुलताके अभावमें होता है।

(३ । १ । ४९)

२. वास्तवमें वही आत्मा सुखका पात्र है जो कथन पर आरूढ़ होता है।

(२६ । १ । ४९)

३. आनन्दका उद्भव तो कषाय भावके अभावमें होता है।

(२ । २ । ४९)

४. अल्प बात करो, सहसा उत्तर मत दो, हठ मत करो, किसीका अनिष्ट मत सोचो, अप्रिय और असत्य मत बोलो, जो उचित बात हो कहनेमें संकोच मत करो, आगमके विरुद्ध आचरण मत करो।

(७ । २ । ४९)

५. किसीकी मायामें मत आओ, जो कहो उसपर दृढ़ रहो, व्यर्थ उपदेष्टा मत बनो, किसीसे रुष्ट मत होओ, तथा अत्यधिक प्रसन्नता भी व्यक्त मत करो, किसी संस्थासे अनावश्यक सम्बन्ध मत रखो, अपने स्वरूपका अनुभव करो, परकी चिन्ता मत करो, कोई किसीका उपकार नहीं कर सकता अतः उपकार करो परन्तु उपकारी बननेकी अभिलाषा मत करो, जो कुछ भी किसीकी सहायता करो केवल कर्तव्यका निर्वाह करना आवश्यक समझ कर करो।

(११ । २ । ४९)

६. स्पष्ट और सरल व्यवहार करो। परको अपराधी बनाना महती अज्ञानता है। परकी समालोचना अपनी आत्मीय कलुषताके बिना नहीं होती।

(१५ । २ । ४९)

७. परके सम्बन्धसे जीव कभी भी सुखी नहीं हो सकता, क्योंकि जहाँ पराधीनता है वहीं दुःख है; अतः जहाँतक बने परकी पराधीनता त्यागो यही कल्याणका मार्ग है।

(१९ । २ । ४९)

८. स्वतन्त्रता सुखकी जननी है, सुखका साधन एकाकी होना है।

(२२ । २ । ४९)

९. सुख उसीको हो सकता है जिसकी प्रवृत्ति निर्मल हो, प्रवृत्तिकी निर्मलता उसीके हो सकती है जिसका आशय पवित्र हो, आशय पवित्र उसीका हो सकता है जिसने अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मबुद्धि त्याग दी। जो इतना कर सकता है वही सांसारिक बन्धनोंसे छूटकर सच्चा सुखी हो सकता है।

१०. आशाका त्याग सुखका मूल है। आशा सभी दुःखोंकी जड़ है। जिन्होंने आशा जीत ली उन्होंने करने योग्य जो था सब कर लिया। आशाका विषय इतना प्रबल है कि उसका गर्त कभी भरा नहीं जा सकता। एक सौ रुपयेकी आशा हुई उसके पूर्ण होनेपर एक हजारकी आशा हो उठती है और उसके पूर्ण होनेपर दस हजारकी आशा हो जाती है। इस तरह इसका गर्त सदा दसगुणा बढ़ता ही जाता है।

(२३ । २ । ४९)

११. स्वाध्याय करो, किसीसे भी व्यर्थ वार्तालाप मत करो, समयकी प्रतिष्ठा आत्माकी प्रतिष्ठा है, इसलिये जितना भी हो सके समयका सदुपयोग करो।

(२।६।४९)

१२. किसी कार्यका संकल्प मत करो, यदि कुछ करना ही इष्ट है तब सब कार्य करनेकी इच्छा त्याग दो। इच्छा ही दुःखकी जननी है, उसे रोकना ही सुखका कारण है।

१३. सुख कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो याचना करनेसे प्राप्त हो सके। उसके लिये प्रयत्न आवश्यक है, पुरुषार्थ अपेक्षित है। कुम्भकार घड़ा चाहता है, और यह भी जानता है कि घड़ा मिट्टीसे बनाया जाता है, तथा अपने घरमें मिट्टीका एक ढेर भी रखता है परन्तु यदि वह निरन्तर मिट्टीके ढेरकी पूजा करता रहे, सिद्धि मन्त्रका जाप्य भी कराता रहे तो भी घड़ा बननेका नहीं। घड़ा तभी बनेगा जब वह घड़ा बनानेके सभी आवश्यक प्रयत्न करेगा। यही व्यवस्था सुखके सम्बन्धमें है।

(१८।६।४९)

१४. जहाँतक बने परकी वञ्चना मत करो। इससे परकी वञ्चना हो, न हो, परन्तु आत्मवञ्चना तो हो ही जाती है। आत्मवञ्चनाका तात्पर्य यह कि जिस कषायसे आप वर्तमानमें दुखी हैं उसीका बीज फिर बोते हैं।

(२६।६।४९)

१५. आत्माको दुःख देनेवाली वस्तु इच्छा है। वह जिस विषयकी हो उसकी जबतक पूर्ति नहीं होती तबतक यह जीव दुःखी रहता है। आत्मा भी आगामी दुःख ही का पात्र होता है। यह सब होनेपर भी यह आत्मा निज हित करनेमें संकुचित रहता है। केवल

संसारकी वासनाएँ इसे सताती रहती हैं। वासनाओंमें सबसे बड़ी वासना लोकैषणा है जिसमें सिवाय संक्लेशके और कुछ नहीं।

(२६ । ६ । ४९)

१६. किसीके व्यामोहमें पड़कर प्रतिज्ञा भङ्ग मत करो। उसीकी प्रतिज्ञाका पालन भलीभाँति हो सकता है जो दृढ़विश्वास और अथक प्रयत्नपर निर्भर है। गल्पवादके कारण सुखकी सुगन्धि नहीं आ सकती।

(१४ । ९ । ४९)

१७. यद्वा तद्वा मत बोलो, वही बोलो जिससे स्वपरका हित हो। यों तो पशु पक्षी भी बोलते हैं पर उनके बोलनेसे क्या किसीका हित होता है ? मनुष्यका बोल बहुत कठिनतासे मिलता है।

(१५ । १० । ४९)

१८. वास्तवमें अन्तरङ्ग वासनाकी ओर ध्यान देना चाहिए। यदि अन्तरङ्ग वासना शुद्ध है तब सब कुछ है। अनादि कालसे हमारी वासना परपदार्थोंसे ही निजत्वकी कल्पना कर असंख्य प्रकारके परिणामोंको करती है। वे परिणाम कोई तो रागात्मक होते हैं और कोई द्वेषरूप विपरिणम जाते हैं, जो अनुकूल हुए उनमें राग और जो प्रतिकूल हुए उनमें द्वेष हो जाता है।

(२६ । १० । ४९)

१९. सब मनुष्य सुख चाहते हैं परन्तु सुखप्राप्ति दुर्लभ है। इसका मूल कारण यह है कि उपादान शक्तिका विकास नहीं। वक्ताओंको यह अभिमान है कि हम श्रोताओंको समझाकर सुमार्ग-पर ला सकते हैं। श्रोताओंकी यह धारणा है कि हमारा कल्याण वक्ताके आधीन है।

(११ । ११ । ४९)

२०. न्यायमार्गमें जिनकी प्रवृत्ति होती है उनको अन्तमें विजय होती है। अन्यायमार्गमें जो प्रवृत्त होते हैं वही न्यायमार्गमें चलनेवालों द्वारा पराजित होते हैं अतः मनुष्यको चाहिये कि न्यायमार्गसे चले। संसार दुःखमय है इसका कारण आत्मा परपदार्थको निज मानकर नाना विकल्प करता है।

(१३ । ११ । ४९)

२१. जीवन उसी का सार्थक है जो पराये दुःखमें सहायता करता है। गल्पवादकी अपेक्षा कर्तव्यपथमें विचरण उत्तम है।

(१४ । ११ । ४९)

२२. मोहके उदयसे यह जीव पदार्थका अन्यरूप श्रद्धान करता है इसीसे दुःखी होता है। जैसे कोई मनुष्य सर्पभ्रान्तिसे भयभीत होता है। यह भ्रम दूर हो जावे तव भय नहीं। इसी प्रकार परपदार्थोंसे निजत्व वुद्धि त्याग देवे तब सुखी हो जावे।

(१८ । ११ । ४९)

२३. हम लोग अपनेही परिणामोंसे दुःखी होते हैं और निमित्त कारणोंपर आरोप करते हैं। इसी तरह सुखी भी अपने परिणामोंसे होते हैं। कहाँतक कहें जो कुछ करते धरते हैं, हम स्वयं उसके कर्त्ता हैं, परमें आरोपकर संसारको अपना शत्रु मित्र बनानेकी चेष्टा करते हैं। यह सब अज्ञानकी चेष्टा है। वह अज्ञान कोई अन्य वस्तु नहीं अपना ही मोहजनित अज्ञानका परिणाम है।

(रा० २० । ५ । ४१)

२४. आत्मविश्वास संसारमें सुखका मूल उपाय है। इसके साथ ही जो अनावश्यक परिग्रह है उसे अलग करो, अपनी बात जल्दी प्रकट न करो, धार्मिक आचरण निष्कपट ही शोभाप्रद है। अतः जो नियम लिए हैं उन्हें निरतिचार पालन करो यही सुखका कारण है।

(१ । १ । ३९)

२५. संसारमें प्रत्येक मनुष्य सुखकी चाह करता है। सुख किसी वस्तुमें नहीं, आत्मा ही जिस समय परपदार्थके विषयमें राग-द्वेष नहीं करता उसी समय इसके स्वच्छ हृदयमें आकुलता नहीं आती। अतः चाहे कोई भी हो कभी भी उसके साथ संसर्ग करनेकी चेष्टा मत करो।

(७।१।३९)

२६. सुखकी जड़ आत्माश्रित है। हमारा आत्मा जिस समय सुखरूप होता है उस समय 'मैं सुखी हूँ' ऐसा अनुभव जो करता है वही आत्मा है, जिसका अनुभव किया वह सुख है।

(३१।१।३९)

२७. कलुषताका कारण स्वकीय ध्येयका अनिश्चय है? 'हमारा क्या कर्तव्य है?' जब यही निश्चय नहीं तब हम परमार्थ 'मार्गके पथिक कैसे बन' सकते हैं? हम आजतक दुःखमय जीवन यापन कर रहे हैं। उसका मूल कारण हमारे लक्ष्यकी अनिश्चितता है।

'गङ्गामें गङ्गादास, यमुनामें यमुनादास।'

जिसने जो कहा, जहाँ जो मिला, उसीकी हाँ में हाँ मिला दी, निजका कुछ भी नहीं। यही दुःखका कारण है। यह मिटे तो सुख ही सुख है।

(१०।२।३९)

२८. आत्मामें जो भाव अहितकर प्रतीत हों उन्हें न होने दो यही तुम्हारा पुरुषार्थ है। हम प्रायः सुख भी चाहते हैं और आकुलताजनक कार्य भी करते हैं अतः यदि सुखकी इच्छा है तब जिस कार्यमें आकुलता होती है उसे न करो। 'जगत् सुखी हो'

ऐसी भावना बुरी नहीं, परन्तु 'मैं जगत्को सुखी करूँ' यह चेष्टा सुखकर नहीं।

(८ । ३ । ३९)

२९. जब मनोरथमें नाना कल्पनाएँ हैं और शक्ति एक कल्पनाके पूर्ण करनेकी नहीं तब सुखकी प्राप्ति दुर्लभ क्या असम्भव ही है।

(१० । ८ । ३९)

३०. संसारमें सभी प्राणी सुखकी इच्छा करते हैं और कारण भी इस प्रकारके संग्रह करते हैं कि जिनसे सुख मिले परन्तु वह कारण सुखके नहीं, क्योंकि निमित्त कारणोंसे न आजतक सुख मिला और न आगे भी उनसे मिलनेकी आशा है। जब वर्तमानमें बाह्य-पदार्थ सुखके कारण नहीं तब उत्तर कालमें होंगे यह मानना सर्वथा मिथ्या है।

(१३ । ११ । ३९)

३१. संसारमें वही मनुष्य सुख और शान्तिमय जीवन व्यतीत कर सकता है जिसने अपनी मनोवृत्तिको स्वाधीन बना रखा है।

(१० । १ । ४०)

३२. यथार्थ बात सुननेसे भी मनुष्योंको दुःख होता है। यदि सुखी होना चाहते हो तब इन परपदार्थोंके साथ सम्पर्क छोड़ो। इनकी मीमांसा करनेसे अपने परिणामोंमें कषायका उदय होता है और वही दुःखका कारण होता है। जहाँ कषायकी परिणति है वहीं जीव दुखी होता है।

(२३ । २ । ४०)

३३. शान्तिसे जीवन व्यतीत करो। वर्वर प्रकृतिको त्यागो। किसीके भी साथ अनुचित व्यवहार मत करो। जो तुम्हें कष्टप्रद ज्ञात होता है वह व्यवहार दूसरोंके प्रति मत करो। संसारमें ऐसी कोई भी पद्धति नहीं है जिससे प्रत्येकको प्रसन्न किया जा सके। केवल अपनी आत्मामें उत्पन्न विकारोंको शान्त करनेकी चेष्टा करो

यही एक पद्धति सुख प्राप्तिकी है। परको आनन्दित करनेकी चेष्टा स्वात्मानन्दकी वाधिका है। आनन्द नाम निराकुल आत्माकी परिणतिका है, उसमें परको सुखी करनेकी इच्छा आनेसे उसके स्वरूपका घात ही है, क्योंकि आकुलता ही तो आत्माकी निराकुलतारूप आनन्द परिणामोंका घात करनेवाली व्याधि है।

(३, ४, १५ । ४०)

३४. संसारकी दशा अति शोचनीय है। जो आज राजा है वह कल दरिद्र हो जाता है, जो दरिद्र था वह कुवेर जैसा धनिक देखा जाता है। यह भी हमारे मोहकी लहर है। राजा होकर न तो यह आत्मा सुखी हो सकता है और न रंक वनकर दुःखी हो सकता है। यह सव हमारी कल्पनाओंकी महिमा है कि जिसके पास धन होता है उसे हम सुखी कह देते हैं और जिसके पास धन नहीं होता उसे हम दुःखी कह देते हैं। परन्तु सुख और दुःखका सम्बन्ध वस्तुतः धनसे नहीं अपितु उसका सम्वन्ध आत्मपरिणामोंसे है। जिसके पास धन है फिर भी उसके वढ़ानेकी तीव्र इच्छा है तव वह दुःखी है। और उसके घटनेसे यदि अपनेको निर्धन समझता है तव भी दुःखी है और उसके होते हुए भी यदि उसकी रक्षाकी चिन्ता है तव भी दुखी है। अतः यह निष्कर्ष निकला कि धनादिक वाह्य वस्तु सुखके कारण नहीं अपितु अन्तरंगकी मूर्च्छाका अभाव ही सुखका कारण है।

(२१ । ६ । ४०)

३५. वहुत विकल्प वहुत दुःखकर होते हैं। दुःख किसीको इष्ट नहीं, क्योंकि उसके होने पर शान्ति नहीं मिलती। शान्ति कोई भिन्न वस्तु नहीं, केवल जिसके होने पर अपने आत्माको किसी प्रकारका दुःख न हो वही शान्ति है। वेचैनीके अभावमें जो सुख स्वाधीन है उसका आस्वाद आ जाता है और वह सुख अनिर्वचनीय है।

(२६ । ६ । ४०)

३६. परपदार्थके अस्तित्वमें स्वामीपनेकी कल्पना कर सुख मानना अज्ञानी जीवोंकी चेष्टा है। यही कारण है कि ज्ञानी जीव तो परपदार्थोंके सम्बन्ध होनेपर अपनेको मुनीम मानता है और अज्ञानी जीव उनका स्वामी बनता है। यह महती अज्ञानता ही तो है।

(२७। ६। ४०)

३७. निमित्त कारण न तो दुखदायी हैं, न सुखदायी। हमारी कल्पनाके अनुसार वे सुख और दुखरूप हो जाते हैं। देखिये वही चन्द्रोदय संयोगी पुरुष-स्त्रीको सुखदायी और वियोगी पुरुष-स्त्रियोंको दुःखदायी प्रतीत होता है। वह तो जैसा है वैसा ही है। अथवा वही कुमुदका विकासक और कमलका मुद्रित करनेवाला होता है।

(२४। ७। ४०)

३८. आजन्मसे अब तक कितनी अवस्थाएँ हुईं इसका हमें प्रतिभास भी नहीं। केवल उन अवस्थाओंका जो हमारे ज्ञानमें आईं यदि निरूपण किया जावे तब एक पुराण बन जावे। उनमें अच्छी भी मिलेंगी। अच्छीसे तात्पर्य केवल दया आदिके परिणाम जिनमें होते हैं। परन्तु जिससे आत्मामें शान्तिका उदय होता है उसका मिलना कठिन ही होगा। उपाय अनेक शास्त्रोंमें निर्दिष्ट है परन्तु उस रूप परिणतिका होना प्रायः कठिन-सा प्रतीत होता है। कह देना और वात है, उस रूप हो जाना अन्य बात है। ज्ञान और चारित्रमें अन्तर है। चारित्रका उदय चारित्रमोहके क्षयोपशमादिसे होता है और ज्ञानका उदय ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमादिसे होता है। यह अवश्य है कि ज्ञानमें सम्यक्पना सम्यग्दर्शनके होते ही होता है। अतः सम्यग्दर्शनके अर्थ ही प्रयास सुखकर है।

(२७। ७। ४०)

३९. सुखकी जननी निष्पृहता है, लालचका रंग अति बुरा है। इसका रंग जिसके चढ़ जाता है वह कदापि सुखी नहीं हो

सकता। सुखका मूल कारण परपदार्थकी लालसाका अभाव है यह जब तक बनी रहती है तब तक सुख होना असम्भव है।

(२७। १०। ४०)

४०. संसारमें वही मनुष्य सुखी होता है जो अपने परायेका ज्ञानकर सब पदार्थोंसे ममता छोड़ देता है। ममता ही संसारकी जननी है। इसका सद्भाव ही आत्माको दुःखका वीज है।

(३। ३। ४४)

४१. दुःखका कारण अज्ञान और मोह है। अतः जब तुम्हारे मनमें हेय और उपादेयका ज्ञान है तब जो दुःखके निमित्त हैं उनसे पृथक् रहो और जो सुखके कारण हैं उन्हें संग्रह करो। व्यर्थकी कल्पनाएँ कर दुःखके पात्र मत वनो।

(२५। ५। ४४)

४२. सब विकल्पोंको त्यागो, यही आत्मसुखका मूल उपाय है। व्यर्थके विवादमें आत्मगुणका घात होता है। संसारका वैभव असार है परन्तु जो साररूप हो सकते हैं उनके स्वामी कषायके आवेगमें अपनी प्रभुता चाहते हैं।

(२८। ५। ४४)

४३. संसार-यातनाओंके नाशका उपाय आशाको रोकना है। आशाको रोकनेका उपाय अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मीयताका त्याग है।

(१०। ८। ४४)

४४. संसारमें सभी सुख चाहते हैं और उसके लिये प्रयास भी करते हैं फिर भी सुख नहीं पाते। इसका कारण यह है कि सुखके विरुद्ध जो दुःख है उसीकी सामग्रीकी हम योजना करते हैं।

(१०। १०। ४४)

शान्ति सदन

१. सभी लोग संसारमें शान्ति चाहते हैं परन्तु भला जब संसारका स्वरूप ही अशान्तिका पुञ्ज है तब उसमें शान्तिका अन्वेषण करना कदली स्तम्भ (केलेके वृक्ष) में सार अन्वेषण करनेके सदृश है। शान्ति संसारके अभावमें है। लौकिक मनुष्य स्थान विशेषको संसार और विशेष स्थानको मोक्ष समझते हैं परन्तु ऐसा नहीं है। सत्य यह है कि संसार असंसार आत्माकी परिणति विशेष है।

(२० । ५ । ४९)

२. आत्माकी निर्मलता ही सुखका कारण है। सुख ही शान्तिका उपाय है। उपाय क्या सुख ही शान्ति है।

(२ । ६ । ४९)

३. शान्तिका लाभ तो मिथ्याभिप्रायको त्यागनेसे होगा। परन्तु उस ओर किसीकी दृष्टि नहीं। दृष्टिको शुद्ध बनाना ही कल्याणका मार्ग है। परन्तु हमारी भूलसे हम संसारमें परिभ्रमण कर रहे हैं।

(११ । ६ । ४९)

४. अन्तर्गत रागद्वेषका त्याग करना ही आत्मशान्तिका साधक है। अन्तर्गत रागादिक आत्माके शत्रु हैं, उनसे आत्मामें अशान्ति पैदा होती है और अशान्ति आकुलताकी जननी है। आकुलता ही दु:ख है, दु:ख किसीको इष्ट नहीं। सब संसार दु:खसे भयभीत है।

(६ । ७ । ४९)

५. मनके विकल्प छोड़ो, और शान्ति तत्त्वकी ओर दृष्टिपात करो। अन्यथा यह जन्म तो जावेगा ही, पर जन्म भी निरर्थकसा

हो जायगा। और यदि यही व्यवस्था रही तब वही दशा होगी जो अतत्त्वज्ञोंकी होती है। तत्त्वज्ञ होनेका फल तो यह है कि आत्माको इन परपदार्थोंके सम्पर्कसे होनेवाले अनेक विकल्पोंसे जिनमें कुछ सार नहीं दूर करनेकी चेष्टा की जाय। अथवा यह भावना ही त्यागो।

(२०।७।४९)

६. शान्तिका कारण अभ्यन्तर है, वाह्य तो निमित्तमात्र है। निमित्त कारण वलात्कार नहीं करता किन्तु यदि तुम कार्य करना चाहो तब वह सहकारी कारण हो जाता है।

(२६।७।४९)

७. आत्माकी शान्तिका उपाय परसे सम्बन्ध छोड़ो। अपनी परिणति पर विचार करो। विचारका मूल कारण सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति आप्त कथित आगम ज्ञानके अनुकूल विचार-विमर्शसे होती है। आप्त रागद्वेष रहित है। अतः रागादि दोषोंको जानो। उनकी पारमार्थिक दशासे परिचय करो। उसका त्याग ही संसार बन्धनसे मुक्तिका उपाय है। रागादिकोंका यथार्थ स्वरूप जान लेना ही उनसे विरक्त होने एवं शान्ति प्राप्त करनेका मूल कारण है।

(२।९।४९)

८. शान्तिका कारण वीतराग भाव है, और वीतराग भाव-का उदय जिन-दर्शनसे होता है। यद्यपि वीतरागता वीतरागका धर्म है। वीतराग आत्मा मोहके अभावमें होता है किन्तु जिस आत्मामें वीतरागताका उदय होता है उसकी मुद्रा वाह्यमें शान्त रूप हो जाती है। शरीरके अवयव स्वभावसे ही सौम्य हो जाते हैं। यह असम्भव वात नहीं। जिस समय आत्मा क्रोध करता है उस समय क्रोधीके नेत्र लाल और मुखाकृति भयंकर हो जाती है, शरीर-में कम्प होने लगता है, दूसरा मनुष्य देखकर भयभीत हो जाता है।

इसी तरह इस प्राणीके जब श्रृंगार रसका उदय आता है तब उसके शरीरको अवलोकन कर रागी जीवोंके रागका उदय आ जाता है। जैसे कालीकी मूर्तिसे भय झलकता है, वेश्याके अवलोकनसे रागादिकोंकी उत्पत्ति होती है। एवं वीतरागके दर्शनसे जीवोंके वीतराग भावोंका उदय होता है। वीतरागता कुछ बाह्यसे नहीं आती जहाँ राग परिणतिका अभाव होता है वहीं वीतरागताका उदय होता है।

(२६। २। ५१)

९. वस्तुतः शान्ति सभी चाहते हैं परन्तु शान्तिके जो बाधक कारण हैं उन्हें पृथक् करनेकी चेष्टा नहीं करते। प्रत्युत उनके द्वारा ही उसे चाहते हैं। विचार करनेसे यही निष्कर्ष निकलता है कि पूर्वको जानेवाला यदि पश्चिमको चले तब कभी भी अपने गन्तव्य स्थान पर नहीं पहुँच सकता। इससे सिद्ध हुआ कि शान्तिके बाधक कारण जो मिथ्याभाव हैं उन्हें तो त्याग नहीं करना चाहता और जिन पदार्थोंमें विपरीत अभिप्रायसे निजत्वका अभिप्राय हो रहा है उन पदार्थोंको त्यागना चाहता है। वे तो भिन्न हैं—पृथक् हैं।

(८। ३। ५१)

१०. शान्तिका मूल धीरता है। उसके लिये सद्यः किसी पर क्रोध मत करो, धर्मका लक्षण क्षमा समझो, भोजनके समय अति शान्त परिणामोंसे भोजन करो, उदयके अनुकूल जो भोजन मिले उसीमें सन्तोष करो, कर्मोदयकी विचित्रता देखकर हर्ष विषाद मत करो। संसार नाशके उपाय उपवास, एकान्तवास, गृहत्याग आदि बताये हैं उनका अभ्यास करो। उन व्रतों पर अधिक ध्यान दो जिनसे आत्मसंशोधन होता है। ऐसे किसी भी कार्यको कठिन मत समझो जो आत्महित साधक है।

(९। १। ३९)

११. शान्तिका उदय निराकुल दशामें होता है। जहाँ व्यग्रता है वहाँ निराकुलता रूप शान्तिकी उत्पत्ति नहीं।

(११ । ९ । ३९)

१२. परको देख हर्ष विषाद मत करो। झूठी प्रशंसा कर दूसरोंको प्रसन्न करनेका तात्पर्य केवल स्वात्मप्रशंसा है। हमारा व्रत तप ज्ञान दान सभीका प्रयोजन केवल स्वात्मप्रशंसाकी ओर रहता है। यही अशान्तिका कारण है।

(१३ । १ । ३९)

१३. आकुलताका आश्रय हमारा आत्मा बन रहा है, जिस समय आकुलताकी निवृत्ति हमसे हो गई उसी समय शान्तिका उदय हो जायगा। आकुलता और शान्ति यह दोनों परस्पर विरोधिनी पर्यायें हैं, शीत और उष्णकी तरह एक साथ कभी नहीं रह सकतीं।

(१९ । १ । ३९)

१४. कथनीसे आत्महित वहुत दूर है। चित्तको सन्तोष करना अन्य वात है, अभ्यन्तर शान्तिका रसास्वादन करना अन्य वात है। अन्तःकरणमें जव तक आकुलताके अभावका अनुभव नहीं तव-तक शान्तिका आभास भी नहीं। अतः वाह्य आलम्बनोंको छोड़ स्वावलम्बन कर रागादिकोंकी उपक्षीणता करनेका उपाय करो।

(२५ । १ । ३९)

१५. चित्तवृत्ति शान्त रखनेके लिये परपदार्थसे सम्पर्क त्यागो। इसका तात्पर्य परमें इष्टानिष्ट कल्पनाका त्याग करना है।

(२९ । १ । ३९)

१६. आजकल द्रव्योपार्जनकी जो पद्धति है उसके अभ्यन्तरमें अति कलुषता है और उसका ही यह परिणाम है कि धार्मिक कार्योंमें अधिकांश वाधाएँ आती हैं। उपार्जनमें कलुषता और व्ययमें दुरभिमान इस तरह जहाँ कषाय ही का साम्राज्य है वहाँ शान्ति कैसे मिल सकती है?

(७ । २ । ३९)

१७. शान्तिकी परिभाषा यह है कि चित्तमें क्षोभ न हो, कलुषताका अनुभव न हो।

(१६। २। ३९)

१८. संसारकी चिन्ता करनेसे केवल अनर्थ ही होता है। आत्म-चिन्तन करनेसे आत्मगत जो दोष हों उन्हें पृथक् करना और जिन गुणोंका विकास हुआ हो उनकी वृद्धि करना।

(१८। २। ३९)

१९. बहुत प्रयास करने पर भी आत्मामें शान्तिका आस्वाद नहीं आता, अतः यही ज्ञात होता है कि हम अभी शान्तिके यथार्थ पथसे बहुत दूर हैं या अभी काललब्धि अति दूर है, या लोगोंको दिखानेके लिये हमारा यह प्रयास है। इनमेंसे काललब्धि तो सर्वज्ञ ज्ञानगम्य है, उसका हमें क्या प्रत्यय हो सकता है? हम अपनी प्रवृत्तिको स्वयं स्वच्छ बना सकते हैं। स्वच्छता वही है जो अपनेमें परके प्रति निर्ममताका भाव हो। यही शान्तिपथ है।

(८। ४। ३९)

२०. जगत्में शान्ति नहीं, इसका कारण यह है कि जगत् रागादिक द्वारा ही निर्मित है और रागादिक स्वयं अशुचि और आकुलताका आकर है। उसमें शान्तिको खोजना मरुभूमिमें कमल खोजनेके तुल्य है।

(२६। ७। ३९)

२१. शान्तिका आविर्भाव आत्मामें ही होता है और आत्मा ही से होता है। आत्माकी शक्ति द्वारा आत्मा ही उस आत्मभावको अपने द्वारा अपने ही लिये अपनेमें अनुभव करता है। वह शान्ति पुद्गलोंकी पर्यायोंमें नहीं है। लोक निरन्तर परात्मबुद्धि हैं अतः उसे परमें ही अन्वेषण करनेका उद्यम करते हैं।

(७। ३। ४०)

२२. हमें सौम्य बननेका प्रयत्न करना चाहिये। सोम नाम चन्द्रका है। चन्द्रकी ज्योत्स्ना शीतल और प्रकाशक है, उसके सद्भावमें प्राणियोंकी दाह वेदना शान्त होती है। अर्थात् चन्द्रकी ज्योत्स्ना शारीरिक दाहकी उपशान्तिका कारण है, वह भी तभी जब कि अन्तरङ्गमें किसी प्रकारकी शल्य न हो। शल्य अन्तरङ्गकी दाहक है, उसे यह शान्त नहीं कर सकता।

(११ । ३ । ४०)

२३. हम स्थानोंमें, पर्वतोंमें, नदियोंमें, मूर्तियोंमें, शास्त्रोंमें, साधु-समागम और दुर्जनोंसे दूर रहनेमें शान्तिकी कामना करते हैं। यही करते-करते आयु पूर्ण हुई जाती है परन्तु शान्ति आकाश-कुसुम ही बनी है। सच तो यह है कि शान्ति इन सबमें नहीं है, शान्ति तो अपने पास ही है। अज्ञानको हटाकर, विभाव परिणतियोंको छोड़कर शुद्ध आत्माको पहिचानने भरकी आवश्यकता है।

(१४ । ३ । ४०)

२४. शान्तिका अनुभव होना कोई कठिन नहीं, जिन जीवों ने अपने अस्तित्वको जानकर परपदार्थोंमें आसक्ति छोड़ दी, शान्ति उनके पास ही है।

(१४ । ४ । ४०)

२५. यदि शान्तिकी अभिलाषा है तब इस अशान्तिमूलक अभिलाषाको त्यागो। श्री गुरुओंने तो मोक्षाभिलाषा तकका निषेध किया है। अभिलाषा वस्तु ही परजन्य होती है और इसकी प्रकृति निरन्तर ऐसी है कि आत्मा परपदार्थको ग्रहण करनेकी चेष्टा करता हैं। लोकमें परपदार्थको ग्रहण करनेवाला चोर कहलाता है।

(२४ । ४ । ४०)

२६. परमार्थसे कोई क्रिया न तो शान्तिकी साधिका है न बाधिका। शान्तिके बाधक रागादिक भाव हैं और उनका अभाव ही साधक है।

(३० । १० । ४०)

२७. चित्त शान्त रखनेके लिये विशेष विकल्प त्यागो, किसीसे मोह मत करो। जो ज्ञान प्राप्त है उसका सदुपयोग करो। प्राप्तका सदुपयोग न कर अप्राप्तकी आशा करना अशान्तिका कारण है।

(१०।८।४४)

२८. शान्तिका मूल कारण आत्मामें रागादिकी निवृत्ति होना है।

(१६।९।४४)

●

निराकुलता

१. आकुलताकी उत्पत्तिमें मूर्च्छा ही कारण है अतः जिन्हें आकुलता इष्ट नहीं वे मूर्च्छाका त्याग करें। परवस्तुमें आत्मीयत्व की कल्पना ही मूर्च्छा है।

(१६ । ३ । ३९)

२. जिस वस्तुके होनेमें आकुलता हो, चैन न पड़े, वही दुःख है। अतः यह जो वैषयिक सुख है वह भी दुःख रूप ही है, क्योंकि जब तक वह नहीं होते तबतक उनके सद्भावकी आकुलता रहती है, होनेपर भोगनेकी आकुलता रहती है। यह आकुलता ही जीवको नहीं सुहाती अतः वही दुःखस्वरूपा है। भोगविषयिणी आकुलता दुःखात्मक है इसमें तो किसीको विवाद नहीं परन्तु शुभोपयोगसे सम्बन्ध रखनेवाली जो आकुलता है वह भी दुःखात्मक है। यदि ऐसा न होता तो उसके दूर करनेका प्रयत्न ही व्यर्थ हो जाता। यहाँतक कि शुद्धोपयोगको प्राप्त करनेकी जो अभिलाषा है वह भी आकुलताकी जननी है। अतः जो भाव आकुलताके उत्पादक हैं वे सभी हेय हैं। परन्तु संसारमें अधिकतर भाव तो ऐसे ही हैं और उन्हींके पोषक प्रायः सभी मनुष्य हैं।

(१, २ । ८ । ३९)

३. आत्मामें जो इच्छा उत्पन्न होती है वही आकुलताका कारण है। इसीसे आचार्योंने इच्छादि विकारोंके अभावमें शान्ति मानी है। गृहस्थसे परिव्राजक क्यों सुखी है? इसलिये कि सम्पूर्ण परिग्रहोंको त्यागकर उसने निराकुल एवं निरीह वृत्तिका अवलम्बन लिया है।

(६ । ९ । ३९)

४. केवल आकुलताके अभावमें सुख होता है। अन्य कोई कारण सुखका नहीं। अब ऐसी प्रवृत्ति करो जो निवृत्ति-मार्गमें सहायक हो। जबतक परपदार्थोंमें अनुराग है प्रवृत्ति दूषित हो रहेगी।

(२३। ३। ४०)

५. संसारमें नानाप्रकारकी आकुलताएँ हैं और संसारी जीव इनके चक्रमें फँसे हुए अपने दिन व्यतीत कर रहे हैं। किसीको भी चैन नहीं, क्योंकि परपदार्थोंके सम्बन्ध कोई रागके उत्पादक हैं और कोई द्वेषके उत्पादक हैं। इस तरह संसारका चक्र आकुलता द्वारा ही परिचालित है।

(१९। ४। ४०)

६. निराकुलता शान्तिका सरल उपाय है। परन्तु हम दूसरे चक्रमें आ जाते हैं। और आजन्म उन पदार्थोंमें ही अपनी आयु पूर्ण कर पुनश्च संसारके पात्र बनते हैं।

(२६। ४। ४०)

७. जब कोई मनुष्य किसी प्रकारका कार्य करता है उसके पहिले उसके मनमें जो कार्य करना चाहता है उस कार्यके करनेकी इच्छा रहती है और वही इच्छा उसकी आकुलताकी उत्पादक होती है और जो आकुलता है वही दुःख है। अतः निराकुल होनेका जो प्रयास है वही सुखकारक होगा।

(२५। ११। ४०)

त्याग

१. त्याग वह वस्तु है जो त्यक्त पदार्थके अभावमें अन्य वस्तुकी इच्छा न हो। नमकका त्याग मधुर (मिठाई)की इच्छाके विना ही सुन्दर है।

(२०। १। ४९)

२. यदि वास्तवमें धार्मिक वुद्धि है तब उस त्यागीको गृहस्थके मध्यमें नहीं ठहरना चाहिये। गृहस्थोंके सम्पर्कसे वुद्धिमें विकार हो जाता है और विकार ही आत्माको पतित करता है, अतः जिन्हें आत्महित करना है वे इन उपद्रवोंसे सुरक्षित रहते हैं।

(२३। १। ४९)

३. भोजनकी प्रक्रियाको सरल वनाओ। सेवकके मुँहताज मत वनो, अपने कार्यके लिये पर-निर्भर मत रहो। त्यागका अर्थ यह नहीं कि समाजके लिये भारभूत बनो। तत्त्वार्थसूत्रमें गृद्धपिच्छने कहा है—"परस्परोपग्रहो जीवानाम्" (जीव परस्पर उपकार करते हैं) अतः जैसे भोजनादि द्वारा समाज तुम्हारा उपकार करता है उसी तरह तुमको भी उचित है कि यथायोग्य ज्ञानादि दान द्वारा उसका उपकार करो। यदि तुम त्यागी न होते तव निर्वाहके अर्थ कुछ व्यापारादि करते, उसमें तुम्हारा समय जाता, अतः तुम्हारा जो भोजनादि द्वारा उपकार करे उसका ज्ञानादि द्वारा तुम्हें भी प्रत्युपकार कर उऋण होना चाहिये।

(१। १। ५१)

४. सम्पूर्ण व्रत और त्यागका यह तात्पर्य है कि रागादिक दूर हो। यदि वे पृथक् नहीं होते तब उस व्रत और त्यागकी

कोई महिमा नहीं। प्रस्तुत वह दम्भ है और अपनी आत्माको अनन्त संसारका पात्र वनानेका प्रयास है।

५. वर्तमान समयमें लोग ज्ञानादिककी वृद्धि तो करते नहीं केवल व्यर्थके त्यागमें अपनी आत्माको फँसाकर निरन्तर आर्त-ध्यानके पात्र होते हैं। त्यागके मूल भूत उद्देश्यकी उन्हें कोई खवर ही नहीं।

(२४, २६ । २ । ३९)

६. त्याग व्रतकी उत्पत्ति कषायसे होती है और उसका प्रयोजन कषायको क्षीण करना है। अतः जो वस्तु आत्माको क्लेश-कर हो उसे त्यागना ही उत्तम है।

(२७ । २ । ३९)

७. संग्रहमें दुःख और त्यागमें सुख है। सुखका घातक पर-वस्तुका ममत्व है। जवतक वह नहीं जाता तवतक आत्मा संसार के दुःखोंसे नहीं छूटता।

(१७ । ५ । ३९)

८. अन्तरङ्गकी वृत्तिमें जवतक परिवर्तन न होगा, वाह्य त्याग दम्भ है।

(२७ । ५ । ३९)

९. त्याग या चारित्र गुणका विकास विषयी जीवोंके कभी नहीं होता।

(३० । ५ । ३९)

१०. मनुष्य अपनी प्रशंसाके लिए सब कुछ त्याग देता है परन्तु इसके माने त्याग नहीं। कषाय पीड़ासे लाचार होकर द्रव्य-को यों ही खो देता है।

(३० । ५ । ३९)

११. त्यागमें कुछ स्वाद नहीं, स्वाद तो रागादिक विभावोंके अभावमें है। बाह्य त्याग केवल बाह्य प्रशंसाका जनक है। अन्तरङ्गके स्पर्श करनेमें इसकी सामर्थ्य नहीं।

(२१।२।४०)

१२. त्याग उत्कृष्ट है, त्यागके बिना कल्याण नहीं, परन्तु उसमें दम्भ नहीं होना चाहिये।

(९।४।४०)

१३. त्यागकी निर्बलता दूर किये बिना केवल शास्त्रका अध्ययन कर मूर्च्छाको मिटाना मनुष्यों द्वारा पुरुषार्थ किये बिना ही केवल आरासे काष्ठ छेदनेके तुल्य है।

(३९।५।४०)

१४. वास्तवमें त्यागनेमें कारण अन्तरङ्गकी निर्ममता है। ज्ञानसे तो केवल पदार्थका परिचय होता है। वह रागका भी साधक है और वीतरागताका भी साधक है। तत्त्व दृष्टिसे न रागका कारण है। संसारसे विरक्तताका भाव किसी भाग्यशाली जीवके होता है किन्तु भाव होनेपर जो विलम्ब करते हैं वह फिर उसी स्थानपर पहुँच जाते हैं जहाँ कि पहले थे।

(१।१०।४०)

१५. संसारमें गृहत्याग दो तरहका होता है। एक मनुष्यके तो यह भाव होते हैं कि निर्वाहके योग्य परिग्रह रखकर धर्म साधन करना और एक मनुष्यके यह भाव होते हैं कि इस परिग्रह पिशाचको छोड़ो इससे कभी भी कल्याणकी सम्भावना नहीं। एकदम पूज्य वह महात्मा है जो उच्चतम दिगम्बर पदका आलम्बन कर व स्वाधीन वीरचर्याको अङ्गीकार कर धर्म साधन करता है। मार्गमें दोनों ही आरूढ़ हैं—एक साक्षान्मोक्षमार्गका पात्र है और दूसरा परम्परासे।

(१, २।१०।४०)

१६. त्यागी वही प्रशंसाका पात्र है जो जितेन्द्रिय हो।

(२९। २। ४४)

१७. वास्तवमें त्यागके महत्त्वको गृहस्थ लोग जानते हैं। इसीसे वह बड़े प्रेमसे अपने घर त्यागियोंको भोजन कराके घरको पवित्र मानते हैं। हम लोग जो त्यागी हैं वे उस महत्त्वका उपयोग नहीं करते। वास्तवमें त्यागसे आत्महित करना चाहिये। अन्तरङ्गमें जो उद्योग होता है वही क्रोधादि कषायकी शान्तिका कार्य है। हमें उचित है कि उसे दूर करें। केवल नमक, मिर्च, हल्दी छोड़नेकी चेष्टामें आत्मशक्तिका दुरुपयोग न करें। अन्तरङ्ग शत्रुओंको पराजित करनेकी चेष्टा करें।

(२, ३। ७। ४४)

१८. त्यागी लोग संयमकी ओर लक्ष्य रखें तो यह दुरवस्था ही क्यों हो ?

(१६। ७। ४४)

१९. त्यागीगण विवेकसे कार्य नहीं लेते, परस्परमें ईर्ष्या रखते हैं, यह सब कलि का विलास है, अन्यथा गृह त्यागनेपर भी शान्ति क्यों नहीं आती ? गृहत्यागका तात्पर्य यही है कि परपदार्थमें जो मूर्च्छा है उसे त्यागो। घर छोड़ा और अन्तरङ्गकी मूर्च्छा न छोड़ी तब गृहत्याग व्यर्थ है।

(१९। ९। ४४)

२०. जहाँपर त्यागियोंका समागम होता है वहाँपर अनेक विसंवाद उपस्थित होते हैं। लोगोंमें न तो ज्ञानार्जन करनेकी इच्छा है और न त्यागकी चेष्टा है। केवल गृहस्थोंके यहाँ अनेक बाह्य त्याग दिखाकर उन्हें झंझटमें डाल देना है। त्यागके नामपर यह अशोभन कार्य है।

(२६। ९। ४४)

दान

१. मनुष्य जिस वस्तुका दान करता है उसे अपनी समझता है। इसीसे अहंवुद्धि होती है। यही संसार-भ्रमणका कारण है। अतः दान करनेसे धनका धन गया और संसारके पात्र हुए। इसलिये दान करनेका अभिप्राय है कि धन वस्तु पुद्गल द्रव्य है, उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। केवल मोहसे अपनी मानते थे। आज हमारा उससे ममत्वभाव छूट गया इसीका नाम दान है॥ दूसरा अर्थ—

"स्वपरोपकाराय द्रव्यातिसर्जनं दानम्।"

स्वपरोपकारके लिये द्रव्यका त्याग करना दान है।

२. आजकल लोग अभ्यन्तरसे मान कषायके अभिलाषी हैं। यही कारण है कि उसी जगह दान करना चाहते हैं जहाँ अधिकसे अधिक व्यक्ति उनकी प्रशंसा करें। जरासा काम करेंगे परन्तु पत्थरके पाटियेपर नाम लिखा देंगे। मन्दिर आदिमें भी सजावट ऐसी ही वस्तुओंसे करेंगे जिनके लिये खर्च किये गये पैसे भले ही मांसाहारी जीवोंके यहाँ ही क्यों न जावें?

(२९, ३०। ६। ३९)

३. संसारमें जो मनुष्य नामके लोभसे दान देते हैं मेरी समझमें तो उनके पुण्यवन्ध भी नहीं होता, क्योंकि तीव्र कषायमें पापका ही सञ्चय होता है। परन्तु क्या किया जाय पहिले लोभ कषायसे ग्रहण किया था, अब मान कषायसे त्याग रहे हैं। कषायसे पिण्ड न छूटा पर हाँ इतना हुआ कि दानी कहलाने लगे।

(८। ११। ३९)

४. वस्तु दानके समय उच्च नीच जनोंका विचारकर सङ्कीर्णहृदय मत होओ। परवस्तुके देनेमें सङ्कोच करना तथा लघु-गौरव भावकी मनमें कल्पना करना अपनी आत्माको लघु बनाने का प्रयत्न है।

(२३। ११। ४०)

५. लोक केवल दान देनेमें महान् पुण्य समझते हैं, ठीक भी है परन्तु उसके साथ ही दृष्टि भी आत्मीय गुणोंके विकासमें जाना चाहिये। दानसे जो लोभ कषायका त्याग होता है उस ओर हमारी दृष्टि नहीं।

(१३। ५। ४४)

६. शहरोंमें जो दानकी पद्धति है वह अपनी प्रसिद्धिके लिये है। 'संसारमें हमारी ख्याति हो' जहाँ यह भावना है वहाँ लोभके सिवा कुछ नहीं। दानके लोभसे यद्वा तद्वा धन व्यय करते हैं।

(१९। ५। ४४)

७. परोपकारके लिये अपने धनका जो त्याग है उसीका नाम दान है।

(२०। ५। ४४)

८. मेरा तो विश्वास है कि वर्तमानमें पात्रोंकी अपेक्षा दान देनेवालोंके अधिक विशुद्धि रहती है। उनका अभिप्राय अतिकोमल और भक्तिरससे भींगा रहता है।

(११। ९। ४४)

धैर्य

१. अधीरता दुःखोंकी माता है। जो भी कर्म उदयमें आवे धीरताके साथ सहर्ष भोगना ही सुखका उपाय है।

(१८ । ७ । ३९)

२. किसी कार्यको असम्भव समझ हताश न होओ, उद्यमशील रहो, अनायास मार्ग मिल जावेगा। मार्ग अन्यत्र नहीं अपने पास है, भ्रमको दूरकर प्रयत्न करो तो उसका पता अवश्य ही लग जावेगा।

(७ । २ । ४०)

३. मनुष्योंके भाव अनेक प्रकारके होते हैं उन्हें देखकर हर्ष-विषाद करनेकी आवश्यकता नहीं। कषायोंके उदयमें अनेक प्रकारके भाव होना दुर्निवार है। वही जीव संसारमें उत्कृष्ट और पूज्य है जो निखिल आपत्तियोंके उदय होनेपर अपने स्वरूपसे विचलित नहीं होता।

(१८ । ८ । ४०)

४. "भवितव्य दुर्निवार है" इस वाक्यका प्रयोग धैर्य्यशील पुरुष कभी नहीं करते। वह सदा साहसके साथ उद्योग ही करते हैं और कार्य सिद्धिके पूर्व कभी भी उसे नहीं त्यागते।

(१८ । ३ । ४०)

५. जो मनुष्य किसी कार्यमें धैर्य्यपूर्वक अन्तरङ्गसे प्रवृत्ति करता है उसे कोई भी कार्य दुष्कर नहीं। किन्तु जो केवल कार्य-कल्पनाकी विकल्प गङ्गामें ही गोता लगाता रहता है वह कोई भी कार्य नहीं कर सकता। केवल मनोरथके रथपर बैठनेवाले गन्तव्य स्थानपर नहीं पहुँच सकते किन्तु मार्गपर चलनेवाले ही पहुँच सकते हैं।

(२५ । ५ । ४०)

६. जिस कार्यके लिये जो समय नियत है उसे उसी समय करो। ऐसा करनेसे चित्तमें धीरता और स्फूर्ति आवेगी।

(२९।८।४०)

७. विपत्ति आनेपर अच्छे अच्छे मनुष्य धैर्य्य छोड़ देते हैं।

(११।१०।४४)

ध्यान

"एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्"

१. अन्य ज्ञेयोंसे चिन्ताको रोककर एक ज्ञेयमें लगा देना ध्यान कहलाता है। आत्माका उपयोग पदार्थोंको जानता है और फिर एक पदार्थसे पदार्थान्तर जाननेकी जो चेष्टा होती है वह सब कषायके निमित्तसे होती है। हम एक पुस्तक पढ़ जाते हैं फिर भी जो दूसरी पुस्तक पढ़नेकी इच्छा होती है उसमें मूल कारण कषाय ही तो है, अन्य कुछ नहीं। यदि कषायका उदय न हो तब यह सब चेष्टाएँ रुक जावें। शुक्लध्यानमें ही जो भेद आचार्योंने किये हैं उनमें प्रथम शुक्लध्यान तो कषायोंके सम्बन्धसे होता है, दूसरे शुक्लध्यानमें कषायोंका अभाव होनेसे न तो योगका पलटन होता है और न ध्येयसे ध्येयान्तर होता है। इसको ध्यान कहनेका तात्पर्य यह है कि यह क्षयोपशमभावमें होता है। और क्षयोपशमभाव अन्तर्मुहूर्तमें नाश होनेवाला है। अतः इसे ध्यान कह देते हैं। वस्तुवृत्त्या उपचारसे ही ध्यान कहना सङ्गत है।

(२३ । १० । ४०)

२. ध्यानको तपके अभ्यन्तर भेदमें भी आचार्यने कहा है और तपका लक्षण—"**इच्छानिरोधस्तपः**" इच्छाका निरोध तप है। इच्छा कषायोंका परिणमन विशेष है और उसका उदय चारित्र-गुणमें ही होता है अर्थात् चारित्रगुणका विकार ही इच्छा है। तब उसका जो अभाव होगा वह चारित्र ही का परिणमन तो होगा अतः चारित्रगुणकी स्थिर परिणतिका नाम ही ध्यान है।

(२४ । १० । ४०)

●

उपवास

१. उपवासका प्रयोजन कषाय, विषय और आहारका त्याग है। कहा भी है—

"कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते।
"उपवासः स तु विज्ञेयः शेषं लङ्घनकं विदुः॥"

जिसमें कषाय, विषय और आहारका त्याग हो उसे उपवास कहते हैं। जिसमें यह नहीं है वह तो केवल लङ्घन ही है। अतः यदि अन्तरङ्गको कषाय शान्त नहीं हुई तब उपवास करनेसे क्या लाभ?

२. उपवासके दिन यदि धर्म ध्यानमें काल न बिताकर व्यापार आदि गृहकार्यमें काल बीतता है तब उपवासका कोई महत्त्व नहीं। संयमकी रक्षापूर्वक सुख शान्तिके साथ स्वाध्यायमें समय व्यतीत हो तब तो उपवास उचित ही है, अन्यथा रूढ़ि ही है, उससे कोई लाभ नहीं।

३. जो व्यक्ति उपवास करता है वह स्वयं अपनी आत्म-निर्मलताका अनुभव करे। यदि उसे अपनेमें विशुद्धिका आभास न हो तव पुनः आत्मसंशोधन करे कि भूल कहाँ हुई है?

४. धर्मप्रेमी वह हो सकता है जो रागद्वेष जैसे शत्रुओंपर विजय करनेकी चेष्टा करे। केवल उपवास करनेसे यदि रोग-वृद्धि हो जावे तब ऐसे उपवास संयमके साधक नहीं, प्रत्युत घातक हैं।

(२३, २४। २। ३९)

मौनव्रत

१. मौनव्रतका प्रयोजन सांसारिक चिन्ताओंसे मनकी वृत्तिका निरोधकर रागादिकको कृश करना है। यदि इस ओर दृष्टि नही गई तव मौन रखनेसे कोई विशेष लाभ नहीं। यदि बाह्य वचनकी प्रवृत्ति नहीं भी हुई किन्तु अन्तरङ्ग रागादिकोंकी शृङ्खला पूर्ववत वृद्धिरूपा ही होती गई तव इस मौनसे केवल लोगोंकी वञ्चनाकर स्वकीय मान कषायकी वृद्धि करना ही है। जिसका फल नीच गोत्रके वन्धके सिवा और कुछ नहीं है। अतः अन्तरङ्गमें रागादिकोंको स्थान मत दो। जब तक तुम्हारी भावना सराग न होगी कदापि रागादि नहीं हो सकते।

(२७। १। ३९)

२. मौनका अर्थ यह है कि उस दिन अपना अभिप्राय काय द्वारा व्यक्त न करना, तथा लिखकर भी प्रगट न करना। यदि कषाय नहीं घटी तव वोलनेमें क्या हानि? सवसे उत्तम मौन तो वह है कि उस दिन अपनी वृत्तिको स्वाधीन रखा जाय। यदि यह नहीं कर सकते तव लोगोंकी वञ्चनाके लिये तथा अपनी प्रतिष्ठाके लिये इस व्रतका सदुपयोग नहीं प्रत्युत अन्तरङ्गमें कषायकी प्रचुरता होनेसे वह व्रत नहीं व्रताभास है, और उसका फल अधोगति है।

(१८। ३। ३९)

३. जहाँ वोलनेकी इच्छा होगी वहींपर प्राणियोंसे संसर्गकी लालसा होगी। जो कि मूर्च्छा है। इससे छूटनेके लिये मौनव्रत सवसे अच्छा है।

(२८। ९। ३९)

४. मौनव्रत तो वही कहलाता है जिसमें मनमें बोलनेकी कषाय न हो। केवल ऊपरसे न बोलना मौनव्रत नहीं। यदि नहीं बोलनेसे मौनव्रत हो जावे तो एकेन्द्रिय पञ्चस्थावर जीव पृथिवी, जल, अग्नि, हवा और पेड़ पौधोंके भी मौनव्रत हो जायगा। जैसे केवल परिग्रहके न होनेसे अपरिग्रही नहीं किन्तु मूर्छाके अभावसे अपरिग्रही होता है वैसे ही केवल मुँहसे न बोलनेसे मौनव्रती नहीं किन्तु बोलनेकी कषायके अभावसे मौनव्रती होता है।

(१४।५।४०)

सन्तोष

१. सन्तोष का अर्थ यह है कि अनुचित कषायोंके वेगसे अपने परिणामको पृथक् करो। पञ्चेन्द्रियके विषयमें न्यूनता करो, अन्तरङ्गमें जो अभिलाषा है उसे रोको। सन्तोषका यह अर्थ नहीं कि हमारे पास जो कुछ ज्ञान और चारित्र है वही वहुत है, अव उसके लिये आगे और प्रयत्न करनेकी आवश्यकता ही नहीं। हाँ यह विचारधारा उसदिन प्रशंसनीय होगी जिसदिन विषय कषायसे चित्तवृत्तिमें विकार न होगा। अतः जवतक विषय कषायकी अभिलाषाका त्याग नहीं तवतक और ज्ञानार्जनका सन्तोष हितकर नहीं।

(२५।२।४०)

२. संसारमें सुखका मूल कारण सन्तोष है। सन्तोषका अर्थ है कर्मोदयसे जो कुछ लाभ हो उससे अधिकके लिये लालच न करना। प्रथम तो जो वस्तु लाभ हो उसे भी आपत्तिरूप मानना। सन्तोषके लिये ऐसी भावना होना चाहिये कि—"कव मैं इन परपदार्थोंमें भोक्तापनकी वृद्धिसे वच जाऊँ? अनन्तर आत्मा आत्मा रह जावे।"

(६।१०।४४)

•

महावीर सन्देश

१. जिस व्यक्तिकी आत्मामें संशय और भय है वह कभी अपने आपको उन्नत नहीं बना सकता अतः निशङ्क और निर्भय बनो।

२. धर्म सांसारिक सुख देनेके लिए नहीं, और न उससे इन छोटी वस्तुओंकी कामना करना चाहिये। वह तो मोक्षसुख देनेवाली शक्ति है परन्तु वह प्राप्त तभी होगी जब कि व्यक्ति निष्काम रहे।

३. जैसा काल बदलता है, वैसी ही संसारकी समस्त वस्तुएँ बदलती रहती हैं। यह कोई बात नहीं कि जो आज बुरा है वह कल अच्छा न हो, और जो आज अच्छा है वह कल बुरा न हो। इसलिये संसारके किसी भी पदार्थसे राग और द्वेष नहीं करना चाहिये। संसारके समस्त चराचर पदार्थोंमें हेयोपादेयका ज्ञान रखते हुए समभाव ही रखना चाहिये।

४. संसार एक अगाध समुद्र है तो श्रद्धा एक नौका भी तो है। परन्तु स्मरण रहे कि सज्ज्ञान और सदाचार अर्थात्, विवेक एवं विशुद्धताके दो पतवार उसके लिये अवश्य आवश्यक हैं।

५. सद्गुण देखना है तो दूसरोंमें देखो, दोष देखना है तो अपनेमें देखो। अपनी प्रशंसा और पराई निन्दा दोनों अपने आपको ले गिरनेवाले कुवाँ और खाई हैं।

६. कुमार्गपर जानेवाले प्राणियोंको सुमार्गपर लगाना परम पुण्य है। समयके अनुसार उसे हित मित प्रियवचनोंसे समझाकर, आवश्यक सेवा कर और द्रव्यकी उचित सहायता देकर उसका स्थितीकरण करो, यही समीचीन धर्म है।

७. संसारके समस्त प्राणीमात्रके प्रति दया और मित्रताका व्यवहार रखो। दया और मित्रता यह दोनों गुण सुखी जीवनके खजानेकी अक्षम पूँजी हैं।

८. सूर्य और चन्द्रसे कुछ सीखना है तो एक बात सीखो कि तुम्हारा व्यवहार इतना प्रसन्नताका हो कि तुम्हें देखते ही दूसरोंके हृदय कमल प्रफुल्लित हो उठें, कषायसे आतप्त हों तो भी शान्त हो जावें।

९. राजा-रङ्क, धनी-गरीव, स्वामी-सेवक, मित्र-शत्रु, ब्राह्मण या भङ्गी कोई भी क्यों न हो पेड़ अपनी छायामें सभीको वैठने देते हैं, फूल अपनी सुगन्धि सभीको देते हैं, सूर्य अपना प्रकाश और चन्द्र अपनी चाँदनी सभीको देते हैं तव तुम्हें भी आवश्यक है कि अपने धर्मको सभीको दो। विना किसी वर्गभेदके, विना किसी वर्णभेदके, और विना किसी जातिभेदके यदि तुमने यह काम कर लिया तो समझो कि तुमने अपने धर्मका सच्चा स्वरूप समझ लिया है।

१०. ज्ञानका सञ्चय करो परन्तु वह सच्चा ज्ञान होना चाहिये। यदि वह ज्ञान सच्चा (श्रद्धासहित) नहीं है तो न होनेके वरावर ही है। इसलिये यदि विश्वके पदार्थोंका ज्ञान न हो सके तो कमसे कम आत्मज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न तो करना ही चाहिये।

११. चींटी हो या हाथी, हिरण हो या सिंह, छोटे-वड़े-सवल-निर्वल सभी प्राणियोंमें आत्मा एक वरावर है। दुखकी कारण सामग्री मिलनेपर सभीको दुख होता है अतः कभी किसीको न सताओ, न प्राण हरण करो। ऐसा करना हिंसा है, हिंसा सवसे वड़ा पाप है।

१२. सदा सत्य वोलो। हितमित प्रिय और सत्य वचन वोलनेसेही मनुष्यका सन्तरण हो सकता है।

१३. हिंसा जैसा ही पाप चोरी करनेका लगता है। यह एक निन्द्यकृत्य है। जहाँ आवश्यकताएँ बढ़ती हैं लालसा बढ़ती है वहीं चोरीकी भावना होती है। जो न्यायपूर्वक अर्जन करो उसेही सन्तोषपूर्वक व्यय करो।

१४. ब्रह्मचर्य एक रत्न है, मानव जीवन एक खजाना है। रत्नको खो दिया तो खजाना किस कामका ? खजाना खाली होनेपर फिर भर सकते हैं परन्तु इस खजानेको भरना असम्भव है। धार्मिक शारीरिक और आर्थिक उन्नतिका एक केन्द्र है तो वह है ब्रह्मचर्य। पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करो। न कर सको तो परस्त्रीका त्याग और स्वदार सन्तोषव्रतकी प्रतिज्ञा करो। पर्वके दिनोंमें स्वस्त्रीके साथ भी ब्रह्मचर्य रखो। स्मरण रहे कुलटाएँ और वेश्याएँ जीवनका जीवित अभिशाप हैं।

१५. संसारकी कोई भी वस्तु तुम्हारी नहीं। इसलिये उनसे स्नेह छोड़ो, ममत्व छोड़ो, त्याग करनेका प्रयत्न करो। आवश्यकतासे अधिक कोई भी वस्तु मत रखो। आवश्यकतासे अधिक परिग्रह रखना दूसरोंका हिस्सा छीनना है, उन्हें दुःखी करना है।

१६. क्षमा, विनय, सरलता, सन्तोष, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दस मोक्ष महलकी सीढ़ियाँ जितनी कुशलतासे चढ़ोगे उतने ही ऊपर पहुँचोगे।

१७. सद्देवकी भक्ति, सत्शास्त्रका अध्ययन और सद्गुरुकी सेवा ये उन्नतिके तीन मार्ग हैं।

मुक्ति मन्दिर

१. कल्याणका पथ तो केवल आत्मामें है। जहाँ अन्यकी अणुमात्र भी मूर्च्छा है वहाँ श्रेयोमार्ग नहीं हैं। वन्धावस्था ही संसारकी जननी है। अन्यकी कथा छोड़ो। परमात्मामें अनुराग भी परमात्मपदका घातक है। वस्त्रमें मूर्च्छा रखकर अपनेको वीतरागी मानना क्या शोभा देता है? अनादि कालसे इसी मूर्च्छाने आत्माको संसारका पात्र वना दिया है। आत्माकी परिणति दो प्रकारकी है, एक विकृत परिणति और दूसरी अविकृत परिणति। विकृत परिणति ही संसार है। विकृत परिणतिमें ही यह आत्मा परको निज मानता है। विकृत परिणतिके अभावमें परको पर आपको आप मानने लग जाता है। इसीको स्वसमय कहते हैं। जिस समय आत्मा अपनेको परसे भिन्न मानता है उसी समय दर्शन ज्ञानमय आत्माका परपदार्थोंमेंसे निजत्वका अभिप्राय चला जाता है किन्तु चारित्रमोहके सद्भावमें अभी उसमेंसे रागादिका संस्कार नहीं जाता किन्तु रागादि भावोंका कर्तृत्व ही रहता। यही श्रीअमृतचन्द्र सूरिने कहा है—

"कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
अज्ञानादेव कर्त्तायं तदभावादकारकः॥"

आत्माका स्वभाव कर्तापना नहीं है, जैसे भोक्तृत्व नहीं। अज्ञानसे आत्मा कर्ता वनता है और अज्ञानके अभावमें नहीं। चेतना आत्माका निजगुण है, उसका परिणमन शुद्ध और अशुद्ध दो तरहका होता है। अशुद्ध अवस्थामें वह आत्मा पर पदार्थका

कर्ता और भोक्ता बनता है। और अज्ञानके अभावमें अपने ज्ञानपनेका ही कर्ता होता है। कहा भी है—

ज्ञानसे अतिरिक्तका अपनेको कर्ता मानना यही कर्मचेतना है, और ज्ञानसे अतिरिक्तका भोक्ता अपनेको मानना यही कर्मफल चेतना है।

ऐसा सिद्धान्त है—

"यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत् तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥"

जो परिणाम आत्मा स्वतन्त्र करता है, वह परिणाम तो कर्म है और आत्मा उसका कर्ता होता है, तथा जो परिणति होती है वही क्रिया है। ये तीनों परमार्थसे भिन्न नहीं। जिन्होंने आत्मतत्त्वकी ओर दृष्टि दी उन्होंने परसंयोगसे होनेवाले भावोंको नहीं अपनाया। यही बूटी संसार रोगका नाश करनेवाली है। बन्धावस्था दो पदार्थोंके संयोगसे होती है। इस अवस्थामें होनेवाला भाव संयोगज हैं। वे पदार्थ चाहे पुद्गल हों, चाहे जीव और पुद्गल हों। जहाँ सजातीय दो पुद्गल होते हैं वहाँपर एक तरहका भी परिणमन होता है और मिश्र भी होता है। जैसे दाल और चावलके सम्बन्धसे खिचड़ी होती है उसका स्वाद न चावलका है, न दालका है। एवं हल्दी चूनामें दोनोंका एक तृतीय रङ्ग हो जाता है। यद्यपि चूना हल्दी पृथक्-पृथक् हैं परन्तु दोनोंका रङ्ग लाल है।

(२१, २२, २३।१।५१)

२. जिस पदार्थमें चाहे वह चेतन हो, चाहे अचेतन हो, जो गुण और पर्याय रहते हैं, वे गुण और पर्याय उसीमें तन्मय होकर

रहते हैं। इतना अन्तर है कि गुण तो अन्वयरूपसे वरावर सामान्य-रूपसे निरन्तर द्रव्यसे तादात्म्य सम्बन्धसे रहता है और पर्याय क्रमवर्ती होती है। वे व्यतिरेकरूपसे रहती हैं। उनका उस कालमें द्रव्यके साथ तादात्म्य रहता है। स्वामीकुन्द कुन्दमहाराजने कहा है–

"परिणमति जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं होदि।"

जैसे आत्माके चेतन गुण है, और मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्यय यह उसकी पर्यायें है। चेतन तो अन्वयी है और ये पर्यायें क्रमवर्ती है। पर्याय क्षणभंगुर है, और गुण नित्य हैं। यदि पर्यायोंसे भिन्न गुण न माना जावे तव एक पर्यायका भङ्ग होनेपर जो दूसरी पर्याय देखी जाती है वह बिना उपादानके कहाँसे उत्पन्न होगी? अतः मानना पड़ेगा कि पर्यायका कोई आधार है। जो आधार है उसीका नाम गुण है और उसका जो विकार है वही पर्याय है। जैसे आम प्रारम्भमें हरा होता है काल पाकर वही पीला हो जाता है तव यह देखा जाता है कि आमका रूप जो प्रागवस्थासे हरित पर्यायका आश्रय था वही काल पाकर पीत हो गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो आमका रूप हरित अवस्थासे पीत अवस्थामें परिवर्तित हुआ इसीका नाम उत्पाद और व्यय है।

(२४।१।५१)

३. धर्म वह वस्तु है जो आत्माको संसार वन्धनसे मुक्त कर देता है। उसके वाधक पाप और पुण्य हैं। सवसे महान् पाप मिथ्यात्व है, इसके उदयसें जीव अपनेको नहीं जानता। परपदार्थोंमें आत्मीयताकी कल्पना करता है। कल्पना ही नहीं उसके स्वत्त्वमें अपना स्वत्त्व मानता है। शरीर पुद्गल परमाणु-पुञ्जका एक पुतला है। उसको आत्मा मान वैठता है और अहर्निश उसकी रक्षामें व्यग्र रहता है। यदि कोई कहे—"भाई! शरीर तो अनित्य है, इसके अर्थ इतने व्यग्र क्यों रहते हैं? कुछ परलोक-

की भी चिन्ता करो।" तब तत्काल उत्तर मिलता है—"न तो शारीरातिरिक्त कोई आत्मा है और न परलोक है, यह तो लोगोंको ठगनेके लिये ऋषि, आचार्य और पण्डितजनोंने एक मूक जाल बना रक्खा है। सच यह है जो चार्वाकलोग कहते हैं"—

"यावज्जीवं सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
न जन्मनः प्राङ् न च पञ्चतापा,
परो विभिन्नोऽवयवे न चान्तः।
विशन्नतिर्यङ् न च दृश्यतेऽस्मात्,
भिन्नो न देहादिह कश्चिदात्मा॥

जबतक जीवन है सुखसे जिओ, ऋण भी क्यों न लेना पड़े परन्तु घी अवश्य पिओ! मर जानेके बाद खाक हुआ शरीर फिर नहीं लौटता। पृथिवी जलादिका समुदाय ही एक आत्मा है। जैसे गेहूँ आदि सड़कर एक मादक शक्तिको उत्पन्न कर देते हैं वैसे ही एक जीव हो जाता है। शरीरसे अतिरिक्त जीव कोई पदार्थ न तो जन्मसे पहिले और मरणके पश्चात् किसीने कभी देखा है और न सुना है।

यह है चार्वाकका वह शरीर पोषक सिद्धान्त जिसमें आत्माके पोषणके लिये कोई सुविधा आवश्यक नहीं समझी गई है। सोचिये तो सही जब कि इस नश्वर शरीरकी रक्षाके लिये यह भौतिक भोजन प्राप्त करनेके लिये न्याय अन्याय सभी करनेको तत्पर रहते हैं, तब अविनाशी आत्माकी रक्षाके लिये ज्ञान दर्शनका भोजन प्राप्त करनेके हेतु हमें न्यायपूर्ण सभी प्रयत्न करनेमें अपना सर्वस्व क्यों नहीं लगा देना चाहिये?

(२५।१।५१)

४. आत्मकल्याणके लिये जो व्यक्ति तत्पर होना चाहते हैं उनसे तो यही कहना है कि जो काम करो उससे ममता त्याग कर ही कार्य प्रारम्भ करो। निजमें अहङ्कार न आने दो। संसारमें वही मनुष्य अधिकतर दुःखका भाजन होता है जो किसी कार्यका कर्ता बनता है। जो कर्ता बनता है वह भोक्ता नियमसे होता है क्योंकि कर्तृत्व और भोक्तृत्व यह दोनों अविनाभावी धर्म हैं। कर्ता बनना ही अज्ञानमूलक है। जिस समय जो कार्य होता है वह उपादान और निमित्तसे होता है। उपादान और निमित्त दोनों ही कार्य उत्पत्तिमें सहकारी हैं। उपादान तो एक होता है, और सहकारी अनेक होते हैं। पूर्व पर्याय सहित द्रव्य तो उपादान कारण होता और उत्तर पर्याय संयुक्त द्रव्य कार्य होता है। न केवल द्रव्य कारण है, न केवल पर्याय कारण है। अपितु पूर्व पर्याय सहित द्रव्य ही कारण है। पूर्व पर्यायका जब अभाव होता है उसी समय उत्तर पर्यायका उत्पाद होता है। द्रव्य अन्वयी रूपसे जो पहिले था वही उत्तर कालमें है। यदि पर्यायकी विवक्षाकी जावे तब असत्पर्यायका ही तो उत्पाद होता है। द्रव्य दृष्टिसे विचार किया जावे तो न तो उत्पाद है और न विनाश है। सामान्य रूपसे न तो कोईका उत्पाद है, और न विनाश है, पर्याय दृष्टिसे उत्पाद विनाश दोनों ही होते हैं।

(२७ । १ । ५१)

५. यह आत्मा यदि रागादि दोषोंसे मुक्त हो जावे तब परमात्मा सदृश हो सकता है। सद्धर्मका सिद्धान्त है कि सादृश अस्तित्व एक होने पर भी स्वरूपसे पदार्थोंका अस्तित्व भिन्न-भिन्न होता है। सभी मनुष्य सामान्यतया एक सदृश होने पर भी स्वरूप अस्तित्वसे भिन्न भिन्न हैं। ऐसा सिद्धान्त अनेक विवादोंकी शान्तिका साधक होता है।

(२९ । १ । ५१)

६—"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"

अपनी आत्माके प्रतिकूल पड़नेवाले कोई भी कार्य दूसरोंके प्रति मत करो, अथवा ऐसी प्रवृत्ति करो जो अन्यको इष्ट है, तुम्हें भी इष्ट है, जीवमात्रको वही इष्ट है। चेतना स्वभाव सभीमें विद्यमान है, उसके द्वारा ही यह जीव आत्म और परको जानता है। उसका स्वभाव ही जानना देखना है। जो स्वको जानता है उसे दर्शन कहते हैं और जो परको जानता है उसको ज्ञान कहते हैं। आत्मामें एक चेतन गुण है उसमें दीपकके सदृश स्वपरावभासकत्व है। इससे अतिरिक्त जितने गुण हैं वे सब निर्विकल्प हैं। ज्ञान ही ऐसा गुण है जो विकल्पवान् है। विकल्पका अर्थ है अर्थको अवभास करे। यह गुण ही आत्मा और परको अवभास करता है। चैतन्यका चमत्कार ही आत्माका अस्तित्व बनाये है। इसकी महिमासे इस जगत्की व्यवस्था बन रही है। इसीसे कहा है—

"नमस्तस्यै सरस्वत्यै विमलज्ञानमूर्त्तये।
विचित्रा लोकयात्रेयं यत्प्रसादात् प्रवर्तते॥"

उस विमल ज्ञानकी मूर्त्ति सरस्वतीके लिये नमस्कार हो जिसके प्रसादसे संसारकी यह विचित्र यात्रा सानन्द समाप्त होती है। इसीसे गुरुको नमस्कार किया है क्योंकि गुरु ही अज्ञानान्धकारका नाशकर ज्ञानका विकास कराते हैं।

(३०।१।५१)

७. मोक्षमार्गकी सरल पद्धति है, उसको इतना दुरूह वना दिया है कि प्रत्येक प्राणी सुनकर भयभीत हो जाता है। धर्म जब आत्माकी परिणति है तब उसको इतना कठिन दिखाना क्या शुभ है?

(१।३।४९)

८. मोक्ष आत्माकी केवल परिणतिको कहते हैं। उसके अर्थ जितने प्रयत्न हैं यदि उसका लाभ न हुआ तव सब व्यर्थ हैं।

(१३। ६। ४९)

९. परीषह सहन करना तप है। आत्मा अचिन्त्य सामर्थ्य है, अचिन्त्य सामर्थ्यका अर्थ यह है कि यदि इसका अभिप्राय निर्मल हो, तब अनायास ही यह आत्मा संसारके बन्धनसे मुक्त हो सकता है।

(२४। ६। ४९)

१०. आत्मासे कुछ भी याञ्चा न करो, बल्कि आत्माको शुद्ध रहने दो। द्रव्यसे तो शुद्ध है ही, पर्यायकी शुद्धता विना संसार-बन्धन छूटना कठिन है। पर्यायकी शुद्धिका मूल कारण रागद्वेषका परित्याग ही है। रागद्वेषकी उत्पत्तिमें परज्ञेय कारण पड़ते हैं अतः परपदार्थोंका सम्पर्क त्यागो। यद्यपि परपदार्थ बन्धके जनक नहीं फिर भी बन्ध कारणमें विषय पड़ते हैं।

(२। ८। ४९)

११. उचित यह है कि संसारके प्राणी मात्र पर दया करो। हमलोग आवेशमें आकर संसारके प्राणियोंका नानाप्रकारसे निग्रह करते हैं। जो अपने प्रतिकूल हुआ उसे अपना शत्रु और जो अनुकूल हुआ उसे अपना मित्र मान लेते हैं। "वास्तवमें न तो कोई मित्र है, न शत्रु" यदि यह भावना निरन्तर रहे तो कालान्तरमें मुक्ति हो जाय।

(१०। ९। ४९)

१२. यह सब चाहते हैं कि येनकेन उपायेन संसार-बन्धनसे छूटें। उसके अर्थ महान् प्रयास करते हैं। मर्यादासे अधिक त्यागियों और पण्डितोंकी शुश्रूषा करते हैं। यही समझते हैं कि त्यागी और पण्डितोंके पास धर्मकी दुकान है। उनका जितना आदर सत्कार करेंगे उतना ही हमको धर्म लाभ होगा। किन्तु होगा क्या ? सो

कौन कहे। 'फुट्टो देवी ऊँट पुजारी'' वाली बात है।

(१२। ११। ४९)

१३. जिनके विचारोंमें मलिनता है उनके कोई भी व्यापार लाभप्रद नहीं। सभी चेष्टाएँ संसार-बन्धनसे मुक्त होनेके लिये हैं परन्तु मनुष्योंके व्यापार संसारमें फँसनेके ही लिये हैं। व्यापारका प्रयोजन पञ्चेन्द्रियोंके विषयसे है।

(२१। ११। ४९)

१४. करणानुयोगके सिद्धान्त अटल हैं, उनका तात्पर्य यही है कि परपदार्थोंसे ममता हटाओ। हमलोग उन पदार्थोंको त्यागकर प्रसन्न हो जाते हैं कि हमने बहुत ही उत्तम कार्य किया। परमार्थसे विचार करो—''जो पदार्थ हमने त्यागे वे क्या हमारे थे ?'' तब आप यही कहेंगे वे हमसे भिन्न थे। तब आप जो उनको आत्मीय समझ रहे थे, यही महती अज्ञानता थी। यावत् आपको भेद ज्ञान न था उन्हें निज मान रहे थे यही अनन्त संसारके बन्धनका भाव था। भेद ज्ञान होनेसे आपकी अज्ञानता चली गई फिर यदि आप उस पदार्थको दानकर फल चाहते हैं तब दूसरेको अज्ञान बनानेका ही प्रयास है और तुम स्वयं आत्मीय भेद ज्ञानको मिटानेका प्रयत्न कर रहे हो अतः यह जो दानकी पद्धति है अल्पज्ञानियोंके लिये है। भेद ज्ञानवाले तो इससे तटस्थ ही रहते हैं अतः दान लेने-देनेका व्यवहार छोड़ो, 'वस्तुका विचार करो, आत्माका ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव है, उसमें विकार न आने दो। विकारका अर्थ यह कि ज्ञानदर्शनका कार्य जानना देखना है, उसे मोह रागद्वेषसे कलङ्कित मत करो। इसीका नाम मोक्ष है। जहाँ रागद्वेष-मोह है वहीं संसार है। जहाँ संसार है वहीं बन्धन है, जहाँ बन्धन है वहीं पराधीनता है।

(५। १। ५१)

१५. हम निरन्तर इस प्रकारकी चेष्टा करते हैं कि रागकी सत्तापर विजय प्राप्त कर लेवें परन्तु हम आजतक उसपर विजय

प्राप्त न कर सके। इसका मूल कारण यही ध्यानमें आता है कि हमने अभीतक परमें निजत्व कल्पनाको नहीं त्यागा है। अभीतक हम परसे अपनी प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा मान रहे हैं। जहाँ किसी व्यक्तिने कुछ प्रशंसासूचक शब्दोंका प्रयोग किया हम एकदम प्रसन्न हो जाते हैं, निन्दासूचक शब्दोंका प्रयोग किया तो अप्रसन्न हो जाते हैं। इसका मुख्य हेतु अभी हमने यही समझा है कि पर हमारा बुरा-भला कर सकते हैं। संसारमें अधिकांश मनुष्य ईश्वरको ही कर्ता-धर्ता मानते हैं, 'स्वतन्त्र हम कुछ नहीं कर सकते' इसपर भी पूर्ण अमल नहीं। यदि कोई काम अच्छा बन गया तब अपनेको कर्ता मान लिया। यदि नहीं बना तब 'भगवान्‌को यही करना था'— कुछ स्थिर विचार नहीं। यदि इस विचारसे छूटे तब 'शुभाशुभ परिणामोंसे उपार्जित कर्मका प्रभाव है, हम क्या करें? ऐसा ही होना था' ऐसा विश्वास अनेकोंका है। यदि उन भले मानवोंसे पूछिये वह कर्म कहाँसे आये? तब उसका यही उत्तर है कि 'वह प्राक्तन कर्तव्यका फल है' इस प्रकार यह संसारकी प्रणाली चल रही है और चली जावेगी, मोक्षका होना अति कठिन है।

(११ । १ । ५१)

१६. कर्तव्य पथपर चलने वाले ही संसारसे पार होते हैं।

(१५ । १ । ५१)

१७. किसीसे मेल करनेके लिये राग और वियोग करनेके लिये द्वेषकी आवश्यकता है परन्तु मोक्ष एक ऐसा पदार्थ है जिसके लिये न राग आवश्यक है न द्वेष किन्तु उपेक्षा आवश्यक है। इसके लिये संसारके व्यवहारोंसे दूर रहना आवश्यक है।

(३० । १ । ३९)

१८. परपदार्थोंकी परिणति बुरी-भली मानना ही मोक्ष-मार्गसे परे जाना है। मोक्षमार्ग सरल है, उसके लिये बड़े-बड़े शास्त्र

और बड़े-बड़े विद्वानोंके समागमकी अपेक्षा नहीं, केवल अन्तरङ्ग कलुषताके अभावकी अपेक्षा है।

(१८ । २ । ३९)

१९. सभी व्रतोंका तात्पर्य कषाय ह्रास करना है तथा कषायको न्यूनता ही मोक्षमार्ग है।

(१८ । ३ । ३९)

२०. कोई पदार्थ जब इष्ट-अनिष्ट न भासे, स्वकीय रागादि परिणाम हीको सुख और दुःखका कारण समझे। जब सुमति आने लगे तब समझे कि अब संसारका अन्त होनेका सुअवसर आ गया।

(६ । ७ । ३९)

२१. परिग्रह कदापि मोक्षमार्गका साधक नहीं। परिग्रहका त्याग किये विना बाह्यमें नाना प्रकारकी तीर्थ यात्राएँ आदि करनेसे कल्याणका भागी नहीं हो सकता। जैसे राजाकी आज्ञा है कि हिंसादिक पाँच पापोंका करनेवाला दण्डका भागी होगा। अतः कोई मनुष्य इन पाँच पापोंसे विरक्त हुए बिना राजाकी सेवा शुश्रूषाकर दण्डसे नहीं बच सकता। इसी तरह संसार नाशके जो उपाय बतलाये गये हैं उनको उपयोगमें लाये बिना निरन्तर परमात्माके स्मरण मात्रसे कोई भी व्यक्ति संसार-बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता।

(७ । ९ । ३९)

२२. अधिकांश मनुष्य केवल मनोरथ मात्रसे संसार-बन्धनसे मुक्त होना चाहते हैं परन्तु पानीका स्पर्श किये बिना तैरना सीखने जैसी उनकी यह क्रिया हास्यास्पद ही है। संसार-बन्धनसे मुक्त होनेका उपाय तो यह है कि आगामी विषयोंमें प्रेम मत करो।

(२५ । ५ । ४०)

२३. संसारमें इस लोकैषणाने ही हमको आजतक उठनेसे रोका। क्या मोक्षमार्ग कोई अमूल्य और दुर्लभ वस्तु थी ? हमारी ही अज्ञानता उसे आकाश-कुसुम बनाये है। तिलकी ओट पहाड़ है।

(१ । ७ । ४०)

२४. जो अव्यवस्थित है वह मोक्षमार्गका अधिकारी नहीं। ऐसे मनुष्योंके साथ सम्पर्क रखना आत्माको गर्तमें डालनेके सदृश है।

(१९ । ६ । ४४)

सच्ची श्रद्धा

१. विशेषता तो इसका नाम है कि संसारको असार जान उससे विरक्त हों परन्तु विरक्तता तो दूर रही हमारे वन्धुवर्ग श्रद्धानसे भी वञ्चित रहते हैं। श्रद्धान गुण वह वस्तु है जिसके होनेसे यह जीव आपसे आप संसारके पदार्थोंसे उदासीन हो जाता है।

(२६ । ५ । ४९)

२. श्रद्धा आत्माका अपूर्व गुण है, इसके होनेसे सभी गुण सम्यक् हो जाते हैं। इसकी महिमा अचिन्त्य है। इसके होनेपर ज्ञान सम्यक् और मिथ्या चारित्र अविरत शब्दसे व्यवहार होने लगता है।

(२८ । ५ । ४९)

३. शान्तिका मूल उपाय श्रद्धा है। यथार्थ श्रद्धाके बिना शान्तिकी आकांक्षा करना पानीसे घी निकालनेके सदृश है।

(३ । १ । ३९)

४. श्रद्धाका यथार्थ होना ही संसार सागरसे पार उतारनेका कारण है। संसार कोई वस्तु नहीं केवल अपनी श्रद्धाकी विपर्ययता है।

(१७ । १२ । ३९)

५. जिनके सत्य श्रद्धा है, तथा सम्यग्ज्ञान है वह काल पाकर मोक्षके भागी हो सकते हैं किन्तु जिन जीवोंने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं किया, केवल आचरणके ऊपर दृष्टि है वे जीव दिग्भ्रम वालेके सदृश आत्म-कल्याणके भागी नहीं हो सकते।

(१२ । ८ । ४०)

६. जो भी कार्य श्रद्धापूर्वक किया जाता है उसीका समीचोन फल लगता है। अश्रद्धाके द्वारा जो काम किया जावेगा उसका भी फल होगा परन्तु तात्पर्य यह है कि जैसी भावना अभिप्रायमें होगी, बन्ध उसीका होगा। अतः जिनकी भावना सत् श्रद्धासे सुवासित है वही संसारके बन्धनोंसे मुक्त होंगे। असद्भावना संसार-वन्धनका कारण है।

(२७। ११। ४०)

७. सभी धर्मोंकी मूल जननी श्रद्धा है। यदि श्रद्धा नहीं तव उत्तर कालमें ज्ञान और चारित्र नहीं, और ज्ञान और चारित्रके अभावमें प्रायः कुछ भी नहीं। अतः जिन महानुभावोंको अपना सुधार करना हो उन्हें श्रद्धापूर्वक ज्ञान और चारित्रकी रक्षा करना चाहिये।

(२८। ११। ४०)



ज्ञान गुण राशि

१. ज्ञानकी महिमा अपार है, उसका जिसको स्वाद आ गया वह इन बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं करता। क्योंकि ज्ञानपदार्थ केवल जाननेवाला है। उसमें पदार्थ प्रतिभासित होता है अर्थात् पदार्थका परिणमन तो पदार्थमें है, ज्ञानमें पदार्थ नहीं आता, ज्ञानकी परिणति ही ज्ञानमें आती है।

(१८।४।४९)

२. निश्छल, निष्कषाय, निर्भीक, निरीह और नम्र विद्वानोंसे समाजकी महती शोभा है। यदि समाज इनकी प्रतिष्ठा करे तब अनायास ही धर्मका विकास हो सकता है। क्योंकि ऐसे विद्वान् लोग धर्मके स्तम्भ हैं इनसे ही धर्म मन्दिर सुरक्षित रह सकता है।

(१९।४।४९)

३. ज्ञानके बिना न तो हम सम्यग्दर्शनकी वन्दना कर सकते और न चारित्र गुणकी ही।

(१९।४।४९)

४. समाजमें विद्वान् और व्याख्याता बहुत हैं, उत्तम भी हैं, किन्तु वे स्वयं अपने ज्ञानका आदर नहीं करते। यदि वे आज ज्ञानका आदर स्वयं करें, संसार स्वयं मार्गपर आ जावे। अथवा न भी आवे तो स्वयं का कल्याण होनेमें तो कोई सन्देह हो नहीं है।

(१६।६।४९)

५. क्षयोपशम ज्ञानका होना कठिन नहीं, किन्तु सम्यक् ज्ञान होना अति दुर्लभ है। इसका मूल कारण यह है कि हम अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मीय बुद्धि मान रहे हैं। आजतक न कोई किसीका है, और न था, न होगा, फिर भी हम अन्यथा माननेमें नहीं चूकते। फल उसका अन्यथा ही है।

(२२।७।४९)

६ आगमाभ्यास भी उतना ही सुखद है जितना आत्मा धारण कर सके। बहुत अभ्यास यदि धारण-शक्तिसे परे है तब जैसे जठराग्निके बिना गरिष्ठ भोजन लाभदायक नहीं वैसे ही यह अभ्यास भी लाभदायक नहीं प्रस्तुत हानिकारक है।

(२६ । ९ । ४९)

७. शिक्षाके बिना उपदेशका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः सबसे पहिले हमको अपने बालकोंको शिक्षा देना चाहिये। बिना शिक्षाके हम अविवेकी रहते हैं। जो चाहे हमको ठग लेता है, हमारा चरित्र-निर्माण नहीं हो पाता। हम अज्ञानावस्थाके कारण पशु कहलाते हैं। यद्यपि हम चाहते हैं कि संसारमें सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करें परन्तु ज्ञानके अभावमें कुछ नहीं जानते और सदा परके दास बने रहते हैं। ज्ञान आत्माका गुण है परन्तु कोई ऐसा आवरण है जिससे हमारा विकास रुका रहता है। शिक्षागुरु उस विकासमें साधक बनते हैं। विकासका जहाँ उदय होता है वह शिष्यका गुण है। परमार्थसे विचारो तब शिष्यके विचारोंसे शिष्य सुबोध होता है। गुरु तो शब्दोंका उच्चारण करता है, उनका अर्थ तो शिष्य ही विचारता है। मेरी धारणा यह है कि श्री तीर्थङ्कर भगवान्‌के दिव्योपदेशका अर्थ श्रोतागण लगाते हैं, उसमें उपादान कारण श्रोतागण ही हैं।

(४ । ३ । ५१)

८. ज्ञानी होनेकी प्रत्येक प्राणीकी इच्छा है परन्तु परिश्रमसे डरता है। परिश्रमसे डरना और तत्त्वज्ञानका उपासक बनना यह कितनी विरुद्ध कल्पना है? ऐसी ही जैसे कि तैरना आ जावे और पानीका स्पर्श न हो।

(२५ । २ । ३९)

९. जैसे सूर्यका उदय पदार्थोंका प्रकाशक है, चाहे वह पदार्थ सुखद या दुखद कुछ भी हों, यह प्राणियोंकी रुचिपर निर्भर है।

इसी तरह ज्ञान पदार्थोंका प्रकाशक है, अच्छा बुरा स्वकीय कल्पना है।

(३०।३।३९)

१०. ज्ञान वह वस्तु है जिसमें 'स्व' और 'पर' दोनों भासमान हों। किन्तु जब ज्ञानके साथ मोहका सम्बन्ध रहता है तब उस ज्ञानमें इष्टानिष्ट कल्पना होती है। यह कल्पना ही ज्ञानकी निर्मलताको ढकनेवाली है। जब इस कल्पनाका आवरण हट जाता है तब संसारके समस्त पदार्थ दर्पणकी तरह ज्ञानमें प्रतिभासित होने लगते हैं।

(१०, ११।८।३९)

११. ज्ञान आत्माका निज धर्म है। यही एक ऐसा गुण है जो अपनी और परायी व्यवस्थाको बनाए है। जबतक यह गुण अपने पुरुषार्थसे च्युत है तभी तक संसार है। अर्थात् परपदार्थ में जबतक इस जीवकी इष्टानिष्ट कल्पना होती है तभी तक संसार-बन्धन है। उस कल्पनाका उत्पादक यह गुण नहीं, उसकी जो कल्पना होती है उसका मूल तो मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शनकी इतनी प्रबल महिमा है कि अपनेको अपना नहीं मानने देता।

(२५।२।४०)

१२. लौकिक प्रतिष्ठाके लिये यदि तुम ज्ञानादिकका अर्जन करते हो तो अर्जन करना न करनेके ही बराबर है। ज्ञान आत्माका निज स्वभाव है, उसके लिये आवश्यकता इस बातकी है कि जो रागादिक ज्ञान गुणके घातक हैं उनको दूर करनेका प्रयत्न करो। ज्ञान गुणमें पदार्थ प्रतिभासमान होते हैं यह उसकी स्वाभाविक स्वच्छता है। उसमें जो इष्टानिष्ट कल्पना है यही उसके स्वरूपके घातक हैं और यही दुःखके कारण हैं। जप तप समय दान पूजा और परोपकार आदि जितनी क्रियाएँ हैं वह सब इसीकी निर्मलताकी साधिका हैं।

(४।४।४०)

१३. अज्ञानसे उपार्जित कर्मोंका नाश ज्ञानसे होता है। जैसे किसी मनुष्यको रस्सीमें साँपका भ्रम हो गया परन्तु जैसे ही वह इस अज्ञानके विपरीत "यह सर्प नहीं है" ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है, तुरन्त रस्सीमें साँपके भ्रमसे उत्पन्न होनेवाले भयसे मुक्त हो जाता है।

(१७ । ४ । ४०)

१४. इस लोकमें ज्ञानके सदृश और कोई भी पदार्थ पवित्र नहीं है। परन्तु ऐसा पवित्र ज्ञान प्राप्त करनेके लिये श्रद्धालु और संयमी होना परमावश्यक है।

(१८ । ४ । ४०)

१५. ज्ञानका लक्षण स्वपरव्यवसायी है, यह सिद्धान्त है। परपदार्थको जाननेमें चाहे किसीको जाने, न जाने परन्तु अपनेको नियमसे जाने। जैसे दीपक थोड़ी दूरके पदार्थ प्रकाशित करता है परन्तु अपना प्रकाश तो कर ही देता है। अतः परका जानना तो एक तरहसे उपचार ही है, क्योंकि ज्ञानमें ज्ञेय जाता नहीं केवल वह ज्ञान उस पदार्थके निमित्तसे जो अपनेमें परिणमन हुआ उसे जानता है। इसी तरहसे मिथ्या दृष्टिका भी ज्ञान है। जैसे कामला रोगी शंखको जानता है और उसे पीला दिखता है तो क्या उसका ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं। यह नहीं कह सकते, केवल वह ज्ञान मिथ्या है इससे वह कहता है कि मेरे ज्ञानमें वह शंख पीला दीखता है, यदि वह ज्ञानको न जाने तब ऐसा कहना कि मेरे ज्ञानमें पीला शंख आया, नहीं वने और ज्ञानको जाना तव आपको भी जाना। जैसे क्या यह ज्ञान मिथ्यादृष्टिको नहीं होता कि मैं सुखी हूँ। सुखी वस्तु ही तो आत्मा है। इसीसे मेरी यह श्रद्धा है कि वह भी आत्माको जानता है और वह क्षयोपशम सवको होना चाहिये। अन्यथा आत्मा जड़ हो जावेगा।

(३० । १२ । ४०)

१६. सुधारका मूलकारण ज्ञान है परन्तु उसके अर्जनका साधन नहीं।

(१५।३।४४)

१७. आत्मज्ञानकी जिसने अवहेलना की वह मनुष्य होकर भी नर नहीं। नरका अर्थ है संसार-बन्धनसे छूटनेकी जो चेष्टा करे। और जिनके आत्मज्ञान नहीं वे संसार-बन्धनसे नहीं छूट सकते। संसार-बन्धनके दूर होनेका उपाय चारित्र है और चारित्र की सिद्धि सम्यग्ज्ञानाधीन है।

(१७।१२।४४)

१८. ज्ञान बिलकुल स्वच्छ दर्पणवत् है। जैसे दर्पणमें स्वभाव-से ही घटपटादि प्रकाशित होते हैं वैसे ही ज्ञानमें सहज ही सम्पूर्ण ज्ञेय झलकते हैं। अब दर्पणमें घटपटादि प्रतिबिम्बित होते अवश्य हैं तो क्या घटपटादि उसमें प्रवेश कर जाते हैं? नहीं, घटपटादि अपनी जगह पर हैं, दर्पण अपने स्वरूपमें है। केवल दर्पणका परिणमन उनके आकार हो गया है। तुमने दर्पणमें अपना मुँह देखा तो क्या तुम दर्पणमें चले गए? यदि दर्पणमें चले गए तो यहाँ सूरत पर जो कालिमा लगी है, उसको वहाँ दर्पणमें क्यों नहीं मिटाते? अपनी सूरत पर ही कालिमाको मिटाते हो। इससे सिद्ध हुआ कि दर्पण अपनी जगह पर है, हम अपनी जगह पर हैं। कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थमें प्रवेश नहीं करता। यह सिद्धांत है।

१९. ज्ञानका सहज स्वभाव ही स्व-पर-प्रकाशक है। जैसे दीपक अपनेको तथा परको दोनोंको जानता है। स्वभावमें तर्क नहीं चला करता। ज्ञान आत्माका एक विशेष गुण है जैसे अग्नि और उष्ण दोनोंका अभेदपना है। एक आम है उसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श ही है। कहा भी है **'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः'** इन चारोंका समुदाय ही तो आम है। अब किसी महान् वैज्ञानिकको

ले आइए और उससे कहो कि हमें इसमेंसे रूप रसको निकाल दो, क्या वह निकाल सकता है? परन्तु ज्ञानमें वह शक्ति है कि इन्द्रियोंद्वारा पृथक्करण करके रूपको जाने, रसको जाने और स्पर्श को जाने।

२०. ज्ञानमें अचिन्त्य शक्ति है। और वास्तवमें देखो तो ज्ञानके सिवाय कुछ है भी नहीं। मिश्री मीठी होती है, यह किसने जाना? केवल, ज्ञानने पदार्थको वतला दिया कि मिश्री मीठी होती है। अब देखो ज्ञान हीका तो परिणमन हुआ। पर हम लोग ज्ञान-को तो देखते नहीं और पदार्थोंमें सुख मानते हैं। ज्ञेयमिश्रित ज्ञानका अनुभव करते हैं। कोई कहता है कि रूखी रोटी खानेमें अच्छी नहीं लगती। कैसे अच्छी लगे? अरे मूर्ख, अनादि कालसे मिश्रित पदार्थोंका स्वाद लेता आ रहा है। अच्छी लगे तो कैसे लगे? दालमें नमक भी है, मिर्ची भी है, खटाई भी है और घी भी डला हुआ है। पर मूर्ख प्राणी तीनोंका मिश्रित स्वाद ले रहा है और कहता है वड़ी वढ़िया वनी है। अव देखो नमक अपना स्वाद वतला रहा है, मिर्ची अपना स्वाद वतला रही है और इसी प्रकार घी अपना स्वाद वतला रहा है और जिसके द्वारा यह जान रहा है उस ज्ञानका अनुभव नहीं करता। ज्ञेयानुभूतिमें ही सुख मानता है। यही अनादि कालसे अज्ञानकी भूल पड़ी है। ज्ञेयानुभूतिमें ही मगन हो रहा है, ज्ञानानुभूतिका कुछ भी पता नहीं। पर सम्यग्ज्ञानी ज्ञान और ज्ञेयका पृथक्करण करके ज्ञानको जो स्वाश्रित है उसे अपना समझ कर ज्ञेय जो पराश्रित है उसका त्याग कर देता है। वैसे देखो तो ज्ञेय ज्ञानमें कुछ घुस नहीं जाता। ऊपर ही ऊपर लोटता रहता है पर मोही जीव उसे अपना मान वैठते हैं। पर सम्यग्ज्ञानी अपनी भेद-विज्ञानकी शक्तिसे निरन्तर शुद्ध ज्ञानका आस्वादन ही करता रहता है। वह ज्ञानमें किसी परपदार्थका लेशमात्र भी प्रवेश नहीं चाहता। ज्ञानी जानता है मेरी आत्मामें

ज्ञान लबालब भरा है। इस प्रकार वह ज्ञानमें ही उपादेय बुद्धि रखता है। पर बाबाजी स्वाश्रित और पराश्रित ज्ञानमें बड़ा अन्तर है। हमारा ज्ञान कौन काम का ? अभी आँखें बन्द कर लो बताओ क्या दीखता है ? अच्छा, आँखें भी खुली हैं पर सूर्य अस्त हो जाय तब अन्धकारमें क्या दिखाए ? बताओ।

अतः इन्द्रियजन्य ज्ञान किसी कामका नहीं। ज्ञान तो स्वाश्रित केवलज्ञान है जिसकी अखण्ड ज्योति निरन्तर प्रज्वलित होती रहती है। हम ऐसी नित्यानन्दमयी ज्ञान-आत्माको विस्मरण कर पर-पदार्थोंके विषयोंमें सुख मानते हैं। उन्हीं सुखोंकी प्राप्तिमें सारी शक्ति लगा देते हैं। पर उनमें सुख है कहाँ ? परपदार्थके आश्रित जितने भी सुख हैं वे सब आकुलतामय हैं। मनमें भोगोंकी आकुलता हुई तो विषयोंमें प्रवर्तन करने लग गए। रूपको देखनेकी आकुलता मची तो सिनेमा चले गये। कानसे रेडियोके गाने सुन लिए। रसनासे व्यञ्जनादिके स्वाद ले लिए। यह रूप, रस, गंध और स्पर्शके सिवाय और विषय हैं क्या चीज ? हम पुनः पुनः वही स्वाद ले लिया करते हैं जैसे कोल्हूका बैल जहाँ देखो तो वही। और देखो, इन इन्द्रियजन्य विषयोंका कितनी देरका सुख है ? ओसकी बूँदके समान। अतः इन्द्रियाधीन सुख वास्तविक सुख नहीं। पर होते हैं बाबाजी बड़े प्रबल। इनका जीतना कोई सामान्य बात नहीं है।

(सागरमें किये गये प्रवचनके आधारसे)

स्वाध्याय

१. 'स्वाध्याय समान तप नहीं' इसका अर्थ यह है कि आत्मा जब वस्तुविचार करता है तब चित्तवृत्ति सब तरहसे रुक जाती है, केवल तत्त्व विचारमें लीन हो जाती है। उस समय अन्य चिन्ताओं के अभावमें स्वयमेव शान्तभावको प्राप्त हो जाती है।

(१६ । २ । ३९)

२. पञ्चेन्द्रियोंके विषयकी तृष्णा अशान्तिजनक है। रसादिककी प्रवृत्ति तृष्णा विशेषसे होती है। तृष्णाका निरोध स्वाधीन है, कषायोंका निग्रह भी स्वाधीन है, अन्यथा शास्त्र पढ़नेसे कोई पारमार्थिक लाभ नहीं। ज्ञान होना और बात है, कषाय कृश करना अन्य है।

(५ । ३ । ४०)

३. अध्यात्म शास्त्र वह महती दिव्य ज्योति है जिसके द्वारा अन्तस्तम निवृत्ति होकर स्वात्मतत्त्वके आलोकमें आत्माका प्रवेश होता है। कल्याणका निष्कण्टक मार्ग दिखाई देता है।

(२६ । ५ । ४०)

४. शास्त्र पढ़नेका फल उसे अनुभवारूढ़ करना तथा जो आत्मा साक्षी दे उसमें प्रवृत्त हो जाना है।

(३ । ८ । ४०)

५. स्वाध्याय ही मुख्यतासे ज्ञानका वर्धक और वीतरागभावकी उत्पत्तिका कारण है। जबतक स्वपरका ज्ञान न होगा तबतक परको त्यागना अति कठिन है।

(३० । ९ । ४०)

६. आगम बड़े-बड़े महापुरुषोंके पवित्र हृदयोंके उद्गार हैं

और उनके अनुभवसे जो कुछ निकला उसे हम माननेकी चेष्टा करते हैं। ठींक है, परन्तु अपने अनुभवमें उसके यथार्थपनेको तो लाना चाहिये। नहीं तो यह मानना केवल ऊपर दृष्टिसे रहा, अंतरङ्गकी साक्षीभूतसे न हुआ। मिश्री मीठी होती है अथवा, खानेवालेसे सुनकर मीठा माननेवालोंको शाब्दिक बोध होता है तात्त्विक जो मिश्रीका स्वाद है वह नहीं आता। अतः इसकी चेष्टा करना चाहिये कि मिश्रीका जिह्वा इन्द्रियसे स्वयं आस्वाद लिया जाय तब उसकी मधुरता पर विश्वास किया जाय।

(२। ११। ४०)

७. जो बात स्वाध्यायमें होनी चाहिये वह नहीं होती। उसका मूलकारण आत्मामें धीरता नहीं। इसका कारण मोहका प्राबल्य और अनादिकालका मिथ्यासंस्कार ही है।

(१। २। ४४)

८. स्वाध्यायका जो कार्य है वह तो अज्ञान निवृत्ति हैं। पुस्तक बाँच लेना अन्य बात है। उसके अनुकूल आत्मामें उसी रूपसे अज्ञानका हट जाना अन्य बात है।

(१७। ८। ४४)

९. ज्ञानवृद्धिमें मुख्य हेतु स्वाध्याय है। वह पाँच प्रकारका है। उनमें अनुप्रेक्षा स्वाध्याय बहुत ही महत्त्वका है। यही अनुप्रेक्षा परम्परासे मोक्षका कारण है, क्योंकि अनुप्रेक्षामें अभ्यास होनेसे ध्यान होता है, ध्यान ही वस्तुका रागादिकोंकी कृशतामें कारण है।

(७। १२। ४४)

१०. स्वाध्याय करना परम तप है। स्वाध्यायसे आत्मोन्नति होती है, स्वपर भेदज्ञान होता है। भेदज्ञान ही संसारका मूलोच्छेद करनेवाला है क्योंकि संसारकी जड़ परमें निजत्व-कल्पना है। यद्यपि पर निज नहीं होता परन्तु ऐसी कल्पना न होना कठिन है। यद्यपि

शङ्ख धवल होता है परन्तु जिनको कामला रोग हुआ है वे शङ्खको पीला ही देखते हैं।

एक मनुष्यकी स्त्री कृष्णवर्ण थी दैवयोगसे वह बाहर धनार्जन करने चला गया। विदेशमें जलवायुकी प्रतिकूलताके कारण कामला रोगग्रस्त हो गया, अतः विदेशसे घर आया तब स्त्रीको देखकर विह्वल हो पृथिवीपर गिर पड़ा और जो पड़ोसी थे उनसे कहने लगा—"भाइयो! यह स्त्री कौन है जो मेरे गृहकी स्वामिनी बनी है।"

पड़ोसीने कहा—"यह आपकी ही पत्नी है।"

कामला रोगी—"यह आपको विदित ही है कि मेरी स्त्री कृष्णवर्ण थी। यह तो केशर रङ्गवाली पीतवर्णा है। ऐसी सुन्दर स्त्री मेरे जैसे हतभाग्यकी नहीं हो सकती अतः मैं आप लोगोंसे नम्र-निवेदन करता हूँ कि मुझे इस जालसे बचाइये।"

पड़ोसीने कहा—"भूलते हो मेरे भाई! यह स्त्री पीतवर्णा नहीं है, तुमको रोग हो गया है इसीसे यह भ्रान्ति हो रही है। चिन्ता न कीजिये। रोगनिवृत्तिके पश्चात् आप उसे अवश्य पहिचान लेंगे। यह तो अब भी काली है परन्तु कामला रोगके कारण आपको सत्य प्रत्यय नहीं हो रहा है।"

इसी तरह आत्मा ज्ञान दर्शनादि गुणोंका पिण्ड है परन्तु संसारी आत्माओंके मोह कर्मका आवरण है अतः उन्मत्तकी तरह यह अपने स्वरूपको न जानकर शरीरको ही निज मानता है और निरन्तर इसी चिन्तामें काल यापन करता हुआ अनन्तकालसे निरवधि आपदाओंका आलय बन रहा है। और यह तभी मिट सकेगा जबकि अनवरत स्वाध्याय हो, स्वाध्यायसे भेदज्ञान हो।

(जेठ शुक्ल ५ सं० २००७)

आधुनिक शिक्षा

१. आधुनिक शिक्षामें प्रायः चार्वाक मतकी ही पुष्टि होती है। आजकल शिक्षाका प्रयोजन केवल अर्थोपार्जन तथा काम सेवन मुख्य रह गया है। जहाँसे शिक्षाका श्रीगणेश होता है पहला पाठ यही होता है कि आजीविका किस प्रकार होगी ? तथा ऐसा कौनसा उपाय है जिससे संसारकी सम्पत्तिका स्वामी मैं बन जाऊँ ? संसार चाहे किसी भी आपत्तिमें रहे।

(१८।३।४९)

२. लोगोंके आचरण प्रायः देश कालादिके अनुरूप बदल रहे हैं। लड़कोंको स्कूलमें जाना पड़ता है, वहाँपर धार्मिक शिक्षाका प्रायः अभाव है। नागरिक बननेका कोई साधन नहीं, ऊपरी चमक दमकमें सर्वस्व खो दिया। आवश्यकताएँ इतनी विपुल हो गई हैं कि मनुष्य उनके पूर्ण करनेके लिये नाना अनर्थ करते हैं।

(२३।८।४९)

३. देहातोंमें शिक्षाकी बहुत कमी है, ४ कक्षातक हिन्दीकी पढ़ाई होती है। अधिकांश व्यक्ति धनाभावके कारण अपने बालकोंको बड़े नगरोंमें नहीं भेज सकते हैं। कई छात्र बाहर जाकर अध्ययन करते हैं किन्तु वहाँ धार्मिक शिक्षा नहीं मिलती इससे नैतिक और धार्मिक शिक्षाकी कमी रह जाती है। फलतः सदाचरण—ऐहिक और पारलौकिक जीवनको सुधारनेवाली क्रियाओंका ज्ञान नहीं हो पाता, उनका परिपालन भी नहीं हो पाता। केवल विद्यालयसे काम रहता है। धनार्जनमात्रको पुरुषार्थ समझ उसीमें आयु व्यतीत कर देते हैं। धर्म पुरुषार्थको कल्पित, धोखेबाज पण्डितोंकी बिना पूंजीकी दुकान आदि तक कह देते हैं। आवश्यकता इस बातकी है कि उन्हें

धर्मकी शिक्षा दी जाय। ऐसी शिक्षा जिसमें पाखण्ड न हो, छल न हो, धूर्तता न हो, पौंगापन्थ या धर्मके नामपर रूढ़िवादिता न हो।
(६ । ३ । ५१)

४. धर्मके पिपासु जितने ग्रामीण जन होते हैं उतने नागरिक मनुष्य नहीं होते। देहातमें भोजन स्वच्छ तथा दूध घी शुद्ध मिलता है। शाक बहुत स्वादिष्ट तथा जलवायु भी उत्तम मिलती है किन्तु शिक्षाकी कमीसे अपने भावोंको अभिव्यक्त नहीं कर पाते। यदि एक दृष्टिसे देखा जावे तो उनमें आधुनिक शिक्षाका प्रचार न होनेसे प्राचीन आर्यधर्ममें उनकी श्रद्धा है। तथा स्त्री समाजमें भी इस स्कूली और कालेजी शिक्षाके न होनेसे कार्य करनेकी कुशलता है। हाथसे पीसना, रोटी बनाना और अतिथिको दान देना आवश्यक समझती हैं। फिर भी शिक्षाकी आवश्यकता है। वह शिक्षा ऐसी हो जिससे मानवमें मानवता विकसित हो। यदि केवल धनोपार्जनकी ही शिक्षा भारतमें रही तो अन्य देशोंकी तरह भारत भी परको हड़पनेके प्रयत्नमें रहेगा। और जिन विषयोंसे मुक्त होना चाहता है उन्हींका पात्र हो जावेगा।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

भारतमें विश्व-बन्धुत्वकी भावनापूर्ण जो यह सिद्धान्त था वह बालकोंके हृदयमें शिक्षाद्वारा अङ्कित किया जाता था परन्तु अब तो जिनके बालक होते हैं उनके माँ बाप पहिले ही गुरुजीसे यह निवेदन कर देते हैं कि हमारे बालकको वह शिक्षा देना जिससे वह आनन्दसे रोटी खा सके। जिस देशमें बालकोंके पिता ऐसे विचारवाले हों वहाँ बालक विद्योपार्जनकर परोपकार निष्णात होंगे, असम्भव है।

●

संयम

१. मनुष्य पर्यायमें मोक्षमार्गका साधक संयम होता है। यदि इस शुभावसरसे चूक जाओ तब सागरोंतक उस संयमकी योग्यता नहीं। संयम बिना संसारके नाशका उपाय नहीं अतः संयमकी रक्षापूर्वक ही अपने मनुष्य जीवनको यापन करो। अन्य मनुष्योंकी प्रवृत्ति देखकर तद्रूप न हो जाओ। अपने परिणामोंकी शक्ति देखकर ही उसका उपयोग करो।

(३०।८।४४)

२. संयमका पालन करो। अज्ञानावस्थामें जो भूल हो उसका प्रायश्चित्त करो। फिर आगे कभी वह भूल मत करो। संयमका पालना ही आत्महित है। संयमकी रक्षा करना कठिन है। भूख और प्यासका सहन करना कठिन नहीं। यदि अन्तरङ्गमें शान्ति है तब तृषा और क्षुधा कोई बाधक नहीं। और यदि अशान्ति है तब प्रथम तो सहना कठिन है साथ ही संयम और संयमीकी प्रतिष्ठा भी नहीं है।

(१७।५।४४)

३. मनुष्य जन्मकी सार्थकता इसीमें है कि स्त्री पुरुष संयमका पालन करें। संयमके पालन करनेवाले इस लोक और परलोकमें आनन्दके पात्र होते हैं।

(५।७।४४)

४. मनुष्य-जन्ममें संयमकी महती आवश्यकता है। संयम कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे हम प्राप्त न कर सकें। इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका अवबोध होता है तो होने दो परन्तु विषयोंमें रागबुद्धि न हो यही संयम धारण करनेका मुख्य उपाय है।

(१८।८।४४)

५. नारकी और देवोंमें तो संयम ही नहीं, तिर्यञ्चोंमें संयम नहीं, केवल देशसंयम है परन्तु जितनी योग्यता मनुष्योंमें है वह अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसे नरतनको पाकर संयमको न पालना समुद्रसे निकले मोतियोंको फिर उसीमें फेक देना है।

(६।११।४४)

६. मानव जीवनकी सार्थकता संयम पालनेमें है। केवल वाह्य आचरणोंसे कुछ विशेष लाभ नहीं। लाभ तो आत्मामें शान्ति होनेसे है।

(३।११।४४)

संसार के कारण

१. अनादि कालसे आत्मा वास्तविक आत्माको नहीं जानता। इसीसे परको आत्मा मान अनन्त संसारका पात्र बन रहा है। इसी परिभ्रमण परम्परासे चतुर्गति संसारमें नाना जन्म मरण सम्बन्धी दुःखोंका भोक्ता हो रहा है। विपर्यय ज्ञानसे किसीको सुख नहीं हो सकता, क्योंकि जबतक मिथ्या कल्पना है तवतक सुख काहे का ?

२. जिन जीवोंने सङ्कोचमें आकर आत्मतत्त्वकी अवहेलना की वे जीव संसारके ही पात्र हैं। आत्मतत्त्व निर्विकल्प है, परपदार्थके निमित्तसे उसमें अनेकता आती है, वह अनेकता ही संसारकी जननी है। अनेकता हीमें परको अपनानेकी चेष्टा है। इस चेष्टासे हाथ कुछ भी नहीं आता, चन्द्रमाके प्रतिबिम्बको पकड़नेकी चेष्टासे चन्द्रमा नहीं पकड़ा जाता।

(१० । ३ । ३९)

३. जगत्में सर्वदा वैभाविक परिणाम रहेगा। जिसका वैभाविक परिणाम मिट गया उसका जगत् मिट गया।

(१६ । ६ । ३९)

४. 'संसारमें दुःख सिवाय सुख नहीं' यह कहना सामान्य मनुष्योंको मार्गपर लगानेके लिये है। दुःखका मूलकारण मिथ्याभाव है। उसके संसर्गसे ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्या चारित्र कहलाता है। और यही संसारका कारण है।

(५ । ७ । ३९)

५. परकी कथा सुनना रागद्वेषकी जननी है। अनुकूलमें हर्ष, प्रतिकूलमें विषाद, तथा उसी प्रकारकी धारणा होकर कालान्तरमें

उसीकी उत्पादक होती है। जो मनुष्य वर्तमानमें जैसी परिणति करेगा कालान्तरमें उसीके अनुसार बन्ध होकर संसारका पात्र होगा।

(३०।७।३९)

६. आत्माकी शुद्धावस्थाका जो विकास नहीं होने देता उसीका नाम संसार है। संसार नाम पुद्गल द्रव्यका नहीं, क्योंकि वह तो जड़ है। जड़में नाना दुःखोंकी उत्पत्ति नहीं होती।

(२०।१०।३९)

७. मङ्गलमय आत्माको अमङ्गलकारी बनाकर हम संसार यातनाके पात्र बन रहे हैं! अमङ्गल क्या वस्तु है? जो आत्मामें रागादि परिणामोंके निमित्तसे अनेक तथा बहुविध आकुलताएँ उत्पन्न होती हैं वही तो अमङ्गल है। अनादि कालसे हमारी इतनी कुवासनाएँ बन गई हैं कि रातदिन परपदार्थोंके विचारमें नाना प्रकारके इष्टानिष्ट कल्पनाजालमें अपने आपको रेशम कोटककी तरह फँसा लेते हैं जिससे कि अन्तमें वहीं मरणके पात्र बनते हैं।

(९।१।४०)

८. सबको प्रसन्न करनेका अभिप्राय संसारका कारण है। संसारका मूलकारण आप और आप ही मोक्षका कारण हैं। निर्विकार स्वरूपकी प्राप्तिके बिना ही यह संसार है।

(२५।३।४०)

९. पराई वस्तुकी चाह करनेके सदृश अन्य पाप नहीं। अपराध नहीं। इसी पाप और अपराधसे आत्मा अनन्त संसारका पात्र होता है।

(१।५।४०)

१०. संसारका नाम अति कष्टदायक है जिसके श्रवणसे अच्छे अच्छे पण्डित, साहसी और पराक्रमी भी कम्पायमान हो जाते हैं।

परमार्थसे संसार है क्या ? यही तो कि वह केवल आत्माकी विभाव परिणति है, उसे हम रखनेकी चेष्टा करते हैं, इसीसे दुःखके पात्र होते हैं।

(६ । ५ । ४०)

११. यह एक मानी हुई बात है कि जितने विकल्प आत्मामें होते हैं वे सब अनात्मीय हैं। अनात्मीय वस्तुको अपना मानना मिथ्याज्ञान है, मिथ्याज्ञानका फल अनन्त संसार है। जबतक इस मिथ्याज्ञानका उदय रहता है तवतक आत्मा अपने स्वरूपको नहीं समझता। और अपने स्वरूपको समझे बिना पर सम्बन्धी ममता नहीं छूटती और परकी ममतामें चोरोंकी तरह संसार कारागारका पात्र होता है।

(१७ । ६ । ४०)

१२. सब कोई अपनेको संसार-बन्धनसे छुड़ाना चाहते हैं। और उनका विपुल प्रयास भी इस विषयमें रहता है परन्तु प्रयास अन्यथा रहता है। कहाँतक लिखा जावे। जो कारण संसार-बन्धनके हैं उन्हींको मोक्षमार्गका साधन मान रहे हैं।

(२७ । १२ । ४०)

कषाय

१. वह पुण्य भी नहीं जहाँ कषायोंकी तीव्रता रहती है। जिस कार्यके करनेसे अन्तमें कलुषताका उदय हो वह संसारमें ही सुखका उत्पादक नहीं, मोक्ष सुखको कैसे दे सकेगा ? अर्थात् जिस तीव्र कषायके द्वारा पुण्यहीकी प्राप्ति दुर्लभ है उस तीव्र कषाय द्वारा मोक्षमार्ग हो यह अत्यन्त असम्भव है। तीव्र कषायी जीवका मनुष्य भी जब आदर नहीं करते तब उसका देव क्या आदर करेंगे ?

(१८ । ३ । ३९)

२. परके अनिष्ट करनेका भाव क्रोध है। यह आत्माकी विकृत परिणति है। इसीके निमित्तसे आत्मा संसारमें दुःखी होता है। यदि जीव आपको आप समझे, तथा 'कोई भी शक्ति संसारमें ऐसी नहीं जो हमारा विगाड़ कर सके' ऐसी श्रद्धा हो जावे तब अनायास परके प्रति क्रोध न हो।

(१६ । ३ । ३९)

३. जबतक यह कषाय अन्तरङ्गमें रहेगी तबतक बाह्य प्रवृत्ति मोक्षमार्गकी साधक नहीं, प्रत्युत दम्भपोषक ही है। कषायोंके छिपानेके लिये जो प्रयास है वह माया कषाय है। और वह मोक्षमार्गका प्रबल शत्रु है।

(१८ । ३ । ३९)

४. इतनी कलुषता आत्माके अन्दर अनादि कालसे अभेदरूप हो रही है और नाना प्रकारके स्वांग करा रही है। इन स्वांगोंमें कई स्वांग तो इतने भयानक हैं कि आपको दुःखरूप तथा अन्यको भी दुःखरूप ही हैं। जैसे जब आत्मा क्रोधरूप होता है तब आपको तो दुःखदायी है ही किन्तु परको भी पीड़ाका निमित्त होता है।

(१९ । ३ । ३९)

५. कषायके कारण जब अन्तरङ्गमें और बाह्य प्रवृत्तिमें कुछ और ही व्यवहार होता है तब उसे अभद्र तथा अपवित्र व्यवहार कहा जाता है। इसे ही दम्भाचार या मायाचार भी कहा जाता है। ऐसे आचरणवाला व्यक्ति मोक्षमार्गका पथिक नहीं हो सकता।

(२५।५।३९)

६. कषाय आत्माकी विकृतावस्था और चारित्र गुणका विकार है। इसके परिणमन चार तरहके हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ।

जब हमें क्रोध होता है तब हम अन्य पदार्थोंको जो हमें अनिष्ट-कर प्रतीत होते हैं नाश करनेकी चेष्टा करते हैं। चाहे वे नाश हों; न भी हों परन्तु हमारे भाव उनका अभाव करनेके हो ही जाते हैं।

मान कषायके उदयमें जगत्के जीव तुच्छ दीखते हैं। 'हम ही सर्वश्रेष्ठ हैं।' ऐसा भान होता है। इस भावनासे दूसरोंको तुच्छ समझ उन्हें झुकाना चाहते हैं, भले ही वे झुकें, न झुकें परन्तु उन्हें नीचा दिखानेके भाव होते हैं।

माया कषायके उदयमें हृदयकी गति वक्र हो जाती है। स्वाभा-विक सरलताको छोड़ दुनियाको अपने छल कपटसे ठगनेकी भावना होती है। भले ही वह ठगाई जाय, न ठगाई जाय परन्तु उसकी आँखोंमें धूल झोंकनेकी चेष्टा की जाती है।

लोभ कषायके उदयमें सञ्चित सुख-साधनोंको भी उपयोगमें लानेके भाव नहीं होते। उदारता जब अपने प्रति भी नहीं होती तब परके प्रति तो होगी ही कैसे ? संसारकी सम्पत्तिको अपनी बनानेका प्रयास होता है चाहे वह न्याय अन्यायसे कैसे भी हो।

(१५।८।३९)

७. क्रोधादि कषायोंके उद्वेगमें नाना अनर्थ होते हैं और उनका फल भी अत्यन्त भयावह एवं दुःखकर होता है। उनके

सहवाससे आत्मामें निरन्तर अनेक प्रकारकी आधि व्याधि बनी रहती है जिनके कारण इसे स्वप्नमें भी चैन नहीं मिलता। उनको यह दूर करनेकी चेष्टा करे यह भाव दूर हो सकते हैं परन्तु यहाँ तो ऐसा भाव आत्मामें वैठा हुआ है कि यदि मैं इन विभावोंको दूर कर दूँगा तो मेरी मानमर्यादा सब चली जायगी। यह अज्ञात अवस्थामें असाध्य रोग है। हम इसकी जो भी चिकित्सा करते हैं वह सब इसके विरुद्ध है। हम जिन वाह्यपदार्थोंके निमित्तके क्रोधादि कषायरूप परिणमते हैं उन्हें दूर करनेकी चेष्टा करते हैं। जैसे हम घरके माता, पिता, पुत्र,कलत्र, वन्धु, वान्धव आदि जो भी राग होनेमें निमित्त हो सकते हैं उनको त्यागकर शान्ति चाहते हैं परन्तु होता है इसके विपरीत ही। अर्थात् परिमित आदमियोंको छोड़कर अपरिमित आदमियोंके वन्धनमें फँस जाते हैं। घर तो परिचित व्यक्ति थे, उन्हींकी प्रकृतिके अनुकूल प्रवृत्ति करनेसे कभी शान्तिका भी आस्वाद आ जाता था। परन्तु यहाँ तो अहर्निश अपरिचितोंके अनुकूल प्रवृत्ति करते करते जन्म जाता है। घरके त्यागसे त्याग नहीं होता, त्याग होता है इन विषय कषायोंके त्यागसे, अभ्यन्तरकी मूर्च्छाके त्यागसे। परन्तु इस ओर हमारा लक्ष्य नहीं।

(७, ८, ९, १०।८।४०)

८. आजकल मनुष्य अपनेको उत्तम और अन्यको जघन्य माननेकी चेष्टा करते हैं। इसमें उसकी प्रतिष्ठा नहीं प्रत्युत हानि ही है, परन्तु कषायके आवेगमें यही होता है। आत्माका अकल्याण इसी कषायसे होता है। जिसने उसपर विजय प्राप्त की वही नर है।

(२२।९।४४)

९. यह मूढ़ जीव वाह्य प्रशंसामें आत्मगौरवको खो वैठता है। आत्मा न तो गौरवशाली है न लाघवशाली है, जैसा है वैसा ही

है। यह गौरव लाघव विचार कषायके सद्भाव असद्भावसे होता है।

(२८।९।४४)

१०. मनुष्यके सबसे प्रवल मन है। उसकी वशतामें न रहो, प्रत्युत उसको अपने वश करो। उसके वश करनेका उपाय कषायोंकी कृशता करो, कषायोंको कृश किये बिना आत्मनिर्मलता का लाभ असम्भव है। जिन्होंने कषायोंको नहीं जीता उनका ज्ञान और तप निरर्थक है। जिनके लिये हम अपनी सारी शक्ति व्यय करते हैं यदि वही न हुआ तब इन बाह्य कारणोंसे कुछ भी लाभ नहीं।

(६।११।४४)

आग के अङ्गारे—अहंकार

१. यदि क्षयोपशम ज्ञानको पाया है तब उसे पराधीन जान अभिमान त्यागो। 'परका हमने उपकार किया है' यह अहंकार छोड़ो। न कोई किसीको देनेवाला है न कोई किसीका कुछ हरण करनेवाला ही। सभी कार्य साधक सामग्रीके संयोगसे होते हैं। केवल दैव या पुरुषार्थ भी कार्य साधक नहीं। और न तुम उस सामग्रीके उत्पादक या संयोजक ही हो अतः 'किसीका कार्य हमने सिद्ध कर दिया' यह अहंकार छोड़ो।

(२५। ५। ४९)

२. परपदार्थ यदि अनुकूल परिणम गया तब केवल मान कषायकी पुष्टि हुई तथा साथ ही अहं बुद्धिकी पुष्टि हुई। इस चक्रसे जो बचा वही उत्तम है।

(३१। १। ४०)

३. प्रत्येक मनुष्यमें कुछ न कुछ विलक्षणता होती है। सहसा किसीको मूर्ख मत कहो, क्योंकि आत्माका वास्तविक विकास मोहके अभाव होनेपर केवलज्ञानावरणके अभावमें होता है। क्षयोपशम ज्ञान सर्वथा निर्मल नहीं। जिस चन्द्रमाके ज्ञानको संसार सत्य मान रहा है वह रूप गुणकी अपेक्षासे सत्य है। परिणामकी अपेक्षा मिथ्या है। अतः इस अल्प ज्ञानको पाकर अहंकार मत करो।

(१६। २। ४०)

४. कैसी मूर्खता है कि लोग अपने अहंकारकी रक्षाके निमित्त द्रव्य भी व्यय करते हैं और शारीरिक कष्ट भी उठाते हैं फिर भी तात्त्विक लाभसे वञ्चित रहते हैं।

(२९। ३। ४०)

५. किसीके साथ अनुचित व्यवहार मत करो। असातोदयकी प्रबलतामें बड़े-बड़े महापुरुष कष्टभाजन हो जाते हैं। यह सब कर्म-कृत लीला है। यदि किसी कारणसे सामग्री मिली है तब उसका अभिमान मत करो।

(११।१०।४४)

माया

१. माया शल्य व्रतकी घातिका है। इसकी कलुषतासे आत्मा निरन्तर मलिन भावका पात्र रहता है। जहाँ मलिनता है वहाँ व्रत रूपी स्वच्छताका उदय नहीं होता।

(२२ । २ । ३९)

२. संसारमें मायारहित व्यवहार बिना कोई भी कार्य नहीं हो सकता। यह अनर्थोंकी परम्परा है। इसके चक्रमें पड़कर व्यक्ति वैसे ही दुःखी होता है जैसे कांचके भीतर अपनी परछाइँ देखकर भौंकनेवाला और माथा टकरानेवाला कुत्ता दुखी होता है।

(४ । १ । ४०)

३. मायाचारसे आत्मा मलीनताका पात्र हो जाता है और जहाँ मलीनता है वहाँ यथार्थ वस्तुकी प्रतीति नहीं होती। पदार्थ उत्कृष्ट होनेपर भी मलिन द्र्पणमें जिस तरह उसका प्रतिबिम्व स्वच्छ नहीं पड़ता ठीक उसी तरह पदार्थ साङ्गोपाङ्ग सर्वोत्कृष्ट होने पर भी मलिन आत्मामें उसका वैसा प्रतिभासक ज्ञान नहीं होता।

(२८ । ३ । ४०)

४. मायाके द्वारा जिनका चित्त हरा गया है वे मनुष्य आसुरभावको प्राप्त होते हैं।

(९ । ६ । ४०)

५. सरल परिणामोंका उपयोग वही कर सकता है जो निष्कपट होगा। जिनके अन्तरङ्गमें माया है वह यथार्थ व्यवहार करनेके योग्य नहीं।

(२८ । ९ । ४०)

६. संसारकी परिणति अति वक्र हो रही है और वक्रता ही संसारकी मूल है। वक्रताका कारण दुर्वासना है। जबतक वासनाकी निर्मलता न हो तबतक संसारका अन्त न होगा।

(१।११।४०)

७. जो जीव संसारमें रहना चाहते हैं उन्हें ही मायाचारी कथा रुचती है। वे जीव स्वयं मायावी होते हैं। मायावियोंकी ही संसारमें प्रतिष्ठा होती है।

(४।७।४४)

८. जगत् एक मायाका जाल है। जो जीव रागी हैं वही आकर इसमें फँसते हैं और मायाके निर्मम कटाक्षोंके बेधनेसे आत्मज्ञान पराङ्मुख होकर अनन्त संसारकी यातनाओंके पात्र होते हैं।

(११।८।४४)

पापका बाप—लोभ

१. लोभ पापका बाप कहा जाता है। बहुतसे मनुष्य लोभके वशीभूत होकर नाना अनर्थ करते हैं। आज संसार दुखी है, लोभ ही उसका मूल हेतु है। हजारों मनुष्योंके प्राण लोभके वशीभूत होकर चले गये। आज संसारमें संग्राम हो रहा है, उसका कारण राज्यकी लिप्सा है। आज जितने घातक यन्त्रोंका आविष्कार हो रहा है, उसका कारण लोभ है। इन यन्त्रोंसे असंख्य प्राणियोंका जो घात हो रहा है उसको सुनते देखते हृदय काँप उठता है।

(२२।५।४९)

२. वही मनुष्य संकोच करेगा जिसे लोभ या भय होगा। इस कषायके वशीभूत होकर आत्मा नाना अनर्थ करता है। जिन्हें भय है वे मोक्षमार्गसे वञ्चित रहते हैं, जिन्हें लोभ है वे अपना पराया घात करनेमें संकोच नहीं करते। लोभके वशीभूत हो माता पुत्रवध तक करनेमें संकोच नहीं करती।

(१२।१।४०)

३. लोभके अधीन यह आत्मा यथाख्यात चारित्रसे वञ्चित रहता है।

(१२।१।४०)

४. हमारे जो लोभ कषाय होती है तन्मूलक ही हिंसादि पाप होते हैं। लोभके वशीभूत होकर ही क्रोधादि कषायोंकी प्रवृत्ति होती है। ऐसा देखा गया है कि बाह्य परिग्रहके लोभमें पिताने पुत्रको और पुत्रने पिताको कैद कर लिया।

(८।६।४४)

राजरोग—राग

१. विशेष मनुष्योंके साथ सम्पर्क न करो। सम्पर्क ही राग-का कारण है। रागके विषयको त्यागनेसे भी रागकी निवृत्ति होती है। निर्विषय राग कहांतक रहेगा? सर्वथा ऐसा सिद्धान्त नहीं कि पहले राग छोड़ो पश्चात् विषय त्यागो।

(२४ । ५ । ४९)

२. आत्माको निर्मल बनानेके लिये हमें राग-द्वेष-मोहका त्याग करना चाहिये। जिन वस्तुओंके निमित्तसे राग होता है उनका भी त्याग करना चाहिये।

(१२ । ७ । ४९)

३. "जो जो देखा वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।" इस वाक्यसे सन्तोष कर लेना अन्य बात है और पुरुषार्थ कर रागद्वेषका निपात करना अन्य वात है। रागद्वेष ऐसे कोई वज्र नहीं हैं जो भेदे न जा सकें। अपनी भूलसे यह होते हैं और अपनी बुद्धिमत्तासे विलय हो सकते हैं। कायरतासे इनकी सत्ता नहीं जाती। ये वैभाविक भाव हैं, आत्माको क्लेशकारक हैं। इनके सद्भावमें आत्माको बेचैनी रहती है। उसके अर्थ ये नाना प्रकार-के उपाय करता है। उससे बेचैनीका ह्रास नहीं होता प्रत्युत वृद्धि होती है।

(१७ । ९ । ४९)

४. प्रत्येक पदार्थ जबतक विकृत नहीं होता तभीतक उसकी प्रतिष्ठा है। जहां विकृत हुआ उसे छूनेका भी उत्साह नहीं होता। जब आम्रका रस बिगड़ जाता है तब उसे खानेकी इच्छा नहीं होती। इसी तरह जब आत्मा रागादि दोषोंसे कलङ्कित हो जाता

है उस समय उसे पापी, चाण्डाल, नीच आदि अनेक क्षुद्र शब्दोंसे व्यवहृत करने लगते हैं।

(७ । ३ । ५१)

५. अन्तरङ्ग रागद्वेषको जीतनेमें केवल कथा और शास्त्र स्वाध्याय ही कारण नहीं है अपितु परपदार्थोंमें जो इष्टानिष्ट कल्पना होती है उसे न होने देनेका पुरुषार्थ करना भी आवश्यक कारण है। परको पर जानना ही इसका मुख्य उपाय है। अपनेको ज्ञान दर्शन गुणका आधार जान परसे ममत्व हटानेका प्रयत्न ही इसके लिये मुख्य प्रयत्न है।

(२३ । १ । ३९)

६. चाहे पुरुष हो, चाहे स्त्री हो, चाहे बालक हो, सभीके साथ राग रखना अनिष्टकारी है। यहाँतक कि जड़ पदार्थोंके साथ भी राग सुखकर नहीं।

(१५ । ६ । ३९)

७. रागादिक परिणामोंसे आत्मा वर्तमानमें तन्मय हो रहा है। और इन्हींको स्वकीय सर्वस्व समझ रहा है। यही कारण है कि महापुरुषों द्वारा दिये गये उपदेशोंको श्रवण करके भी शान्तिके स्वादसे वञ्चित रहता है। बाह्य पदार्थोंकी अवस्थाके अनुकूल और प्रतिकूल भावोंकी उत्पत्ति कर दुखी होता है।

(२९ । ७ । ३९)

८. आत्माका जो परिणमन आकुलताकी उत्पत्ति करे वही संसारका मूल्य है। संसारका नाम रागादिरूप आत्माकी परिणतिका है। संसारमें मनुष्य मात्रके प्रायः कहीं राग, और कहीं द्वेपरूप परिणाम होते हैं। जो पदार्थ अपने अनुकूल है, उसमें रुचिरूप परिणामका होना ही राग है और जो पदार्थ अनुकूल नहीं उसमें

अरुचिरूप परिणाम होना ही द्वेष है। इन्हीं दोनोंका फल यह संसार है।

(१९ । १० । ३९)

९. परपदार्थ हमें इसके लिये बाध्य नहीं करते कि हममें निजत्वकी कल्पना करो, किन्तु हम स्वयं अपने रागद्वेषके आवेशमें आकर उनमें निजत्व और परत्वकी कल्पना करते हैं। वह भी नियमित रूपसे नहीं। देखा यह गया है कि जिसे निज मान रहे हैं, वही जहाँ हमारे अभिप्रायके विरुद्ध हुआ, हम उसे पर जान त्याग करनेकी इच्छा करते हैं और जो पर है यदि वह हमारे अनुकूल हो गया तो शीघ्र ही उसे ग्रहण करनेकी चेष्टा करते हैं।

(२२ । ५ । ४०)

१०. "संसारमें सभी पदार्थोंको समान देखो" इसका यह अर्थ नहीं कि गधा-घोड़ा, स्वर्ण-लोहा, सभीको समान समझो किन्तु यह अर्थ है कि किसी पदार्थमें राग द्वेष न करो।

(२३ । ५ । ४०)

११. "आत्मवृत्तिको सङ्कुचित करो" इसका यह तात्पर्य नहीं कि पदार्थोंके जाननेका प्रयत्न ही न करो; अपितु इसका यह तात्पर्य है कि पदार्थोंको जानो और उनके गुण पर्यायोंका अच्छी तरह मनन करो, किन्तु उनमें राग-द्वेष न करो, क्योंकि संसार वल्लरीका कारण यह राग-द्वेष ही है, जानना नहीं।

(२ । ६ । ४०)

१२. एक स्थानपर रहनेसे मनुष्य-समाजमें स्नेह हो जाता है और वही स्नेह बन्धका कारण है। आजतक जिनका अधःपतन हुआ इसी स्नेहके द्वारा हुआ है। यदि इसको न त्यागा तब जन्म पाना ही विफल है।

(३ । ११ । ४४)

१३. जब वस्तुका यथार्थ बोध हो जाता है उसके बाद ही रागादि कृश होनेका अवसर आता है। रागादिकोंकी उत्पत्तिमें मुख्यतया तो दर्शन मोह ही कारण है। यद्यपि चारित्रमोहकी परिणति रागद्वेष है परन्तु हम अनादिकालसे अनात्मीय पदार्थोंको आत्मीय समझते हैं और जिसको हम आत्मीय समझते हैं उसमें स्वयमेव निजत्वकी कल्पना कर रागसे उसकी ओर झुकते हैं।

(७, ८। १२। ४४)

मोह महाभट

१. जिस दिन मोहका अभाव होगा यह सब प्रक्रिया मिट जावेगी। मोहकी मन्दता और तीव्रतामें शुभ अशुभ मार्गकी सत्ता है। जिस समय मोहका अभाव होता है ज्ञानावरणादि तीन घातिया कर्म अन्तर्मुहूर्तमें स्वयमेव लय हो जाते हैं, उनके नाशके लिये किसी प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं।

(२१ । ४ । ४९)

२. राग द्वेष मोह संसारके मूल हैं। इन तीनोंमें मोह प्रधान है। इसके बिना राग द्वेष पूर्ण कार्यकारी नहीं।

(२६ । ४ । ४९)

३. अभ्यन्तर मोहकी परिणति इतनी प्रबल है कि इसके प्रभावमें आकर जरा भी रागांशको त्यागना कठिन है। अधिकसे अधिक त्याग केवल बाह्य रूपादि विषयोंका प्रत्येक मनुष्य कर सकता है किन्तु आन्तरिक त्याग करना अति कठिन है।

(२ । ७ । ४९)

४. मानव समुदाय एक मिनिट भी आनन्दसे रहने देनेमें असमर्थ है। मेरा यह विश्वास है कि मोही जीवको कहीं सुख नहीं।

(२२ । ८ । ४९)

५. मदिराके नशासे भी मोहका नशा भयङ्कर है। इस नशेके वेगमें बड़े-बड़े भयङ्कर कार्य होते हैं, भयङ्कर तथा प्रेयस्कर कार्य भी होते हैं।

(२० । १० । ४९)

६. हृदयकी दुर्बलता वहुत ही कार्यबाधक है। मोहके कारण यह दुर्बलता है। इसका जीतना महान् कठिन है।

(१४ । ११ । ४९)

७. लज्जा करना, यथार्थ न कहना, किसीके प्रभावमें आ जाना, यह सब मोहके ही परिणाम हैं।

(३० । ५ । ३९)

८. अशान्तिका मूल स्वयं है और जहाँतक अपनी निर्बलता रहेगी तबतक अशान्ति नहीं जा सकती, क्योंकि अशान्तिका उत्पादक यह बहुरूपिया मोह है।

(५ । १ । ४०)

९. घातिया कर्मोंमें मोहनीय कर्म ही एक ऐसा कर्म है जो अपनी सत्ता रखता है और शेष जो ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्म हैं, उनकी भी सत्ता रखता है; क्योंकि स्थिति और अनुभागबन्धका कारण कषाय भाव है और कषायकी उत्पत्तिमें कारण मोहोदय है। आचार्योंने मोहकर्मके दो भेद किये हैं—एक दर्शनमोह दूसरा चारित्रमोह। इस आत्मामें अनादिकालसे इन कर्मोंका सम्बन्ध है, इनके उदयमें आत्माका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जैसे मदिरा पान करनेवाला पागल हो जाता है, उसे स्वपर विवेक नहीं रहता, ठीक यही दशा मोहकर्मको है। उसके विपाककालमें स्वपरका भेदज्ञान नहीं रहता। स्वपरका विवेक न रहनेसे परपदार्थको अपनानेकी चेष्टा करता है जो कि सर्वथा असम्भव है। जब वह अपने अनुकूल परिणमन नहीं करते तब दुखी होता है।

(२२ । ३ । ४०)

१०. हम लोग मोही हैं। एक घर छोड़कर संसारको अपना घर बनानेकी चेष्टा करते हैं। व्रत त्यागीके लेते हैं परन्तु त्यागके महत्त्वको नहीं समझते। यही कारण है कि दर-दरके स्नेही हैं और यही स्नेह नरकका कारण होगा।

(१० । ७ । ४४)

११. बहुतसे मनुष्य पहिले प्रतिज्ञा ले लेते है परन्तु निर्वाहके समय भङ्ग करनेमें संकोच नहीं करते। यह सब लीला मोहकी है।

मोहका विलास वहुत ही प्रभाव रखता है। यह जो संसारका दृश्य है उसीका परिवार है।

(१५।८।४४)

१२. संसारमें आनेका मोह और जानेका मोह दोनों ही दुःखप्रद हैं। किन्तु आनेमें हर्ष और जानेमें विषाद दोनों ही मोह पोषक हैं। पर वस्तुको उपादेय मानना यह भी मिथ्या और वियोग में विषाद यह भी मिथ्या परिणति है।

(२०।१०।४४)

पिशाच परिग्रह

१. संसारमें दुःखादिका कारण परिग्रह पिशाच है। यह जहाँ आया अच्छे-अच्छे महापुरुषोंकी मति भ्रष्ट कर देता है। परिग्रहकी मूर्च्छा इतनी प्रबल है कि आत्माको आत्मीय ज्ञानसे वञ्चित कर देती है। जबतक इसका सद्भाव है आत्मा यथाख्यात चारित्रसे वञ्चित रहता है। अविरत अवस्थासे पार होना कठिन है।

(१०। ६। ४९)

२. दानके माने द्रव्यसे ममत्व त्याग देना है। दान देकर उससे ममता रखनी दानके परिणामोंका विघात है। मनुष्य आवेगमें आकर दान तो कर वैठता है और लोगोंसे धन्यवाद भी ले लेता है। पश्चात् ज़ब अन्तरङ्गसे विचार करता है कि मैंने वड़ी गलती की जो योंही रुपया दे आया। रुपयेसे संसारमें मेरी प्रतिष्ठा है। इसके प्रसादसे वड़े-बड़े महान् पुरुष मेरे द्वारपर चक्कर लगाते हैं। कहाँतक कहूँ बड़े-बड़े विद्वान् भी इसकी प्रतिष्ठा करते हैं। प्राचीन राजाओंकी प्रशंसाके जो काव्य वने हैं इसी द्रव्यके लालचमें पड़कर उन्होंने यह कार्य किया है।

(१३। ९। ४९)

३. जव परिग्रह नहीं तब कलुषित होनेका कोई कारण ही नहीं। किन्तु वास्तवमें देखा जावे तब हमने परिग्रह त्यागा ही नहीं। जिसको त्यागा वह तो परिग्रह ही नहीं। वह तो परपदार्थ है, उसको त्यागना ही भूल है। उनका तो आत्मासे कोई सम्बन्ध ही नहीं। आत्मा तो दर्शन ज्ञान चारित्रका पिण्ड है। उस मोहके विपाकसे कलुषता आती है। वह चारित्र गुणकी विपरिणति है। उसे त्यागना चाहिये। उसका त्याग यही है परन्तु उसका खेद मत

करो। उसमें निजत्व कल्पना भी मत करो।

(२४ । ९ । ४९)

४. गृद्धपिच्छ स्वामीने **'मूर्च्छा परिग्रहः'** मूर्च्छाहीको परिग्रह कहा है। **'ममेदं बुद्धिलक्षणं मूर्च्छा'** अर्थात् जहाँ प्रमादसे परवस्तुमें 'यह मेरी है' ऐसी भावना होती है वही मूर्च्छा है। मूर्च्छा कहो परिग्रह कहो एक ही बात है। इसके त्यागका उपाय अति कठिन है। मेरी समझमें जब मोहका अभाव हो तभी यह जाती है।

(१५ । ३ । ३९)

५. परिग्रहके सञ्चयसे मूर्च्छा तो होती है किन्तु अधिकतर मनुष्य शत्रु और मित्र बनते हैं। इसका मूल कारण यह है कि परिग्रह प्राणीमात्रको अपने जालसे फँसाए है। कहाँतक कहें इसका दुष्प्रभाव निगोदसे लेकर सर्वार्थसिद्धितक है। परमात्मासे मोक्षकी चाह करना भी परिग्रह है।

(२१ । ७ । ३९)

६. जिसके जितनी बाह्य सामग्री होगी वह कषायोदयसे उत्पन्न वेदनाका उतना ही प्रतिकार करेगा। कल्पना कीजिये कि देवदत्त राजा है, यज्ञदत्त उसका अङ्गरक्षक है। दोनोंको एक साथ बहुत ही भयानक फोड़े हो गये। राजाके फोड़ेकी चिकित्साके लिये अच्छे-अच्छे वैद्य और बहुमूल्य वस्तुएँ लाई गईं, और अङ्गरक्षकके फोड़ेकी चिकित्साके लिये जङ्गलसे एक साधारण जड़ी लाई गई। दोनोंके फोड़े एकसे थे, एक साथ ही आराम हुआ, परन्तु चिकित्सामें अन्तर था। ऐसा ही अन्तर बहु परिग्रही और अल्प परिग्रहीकी लालसा-जन्य वेदनाके शमन करनेवाले कारणोंमें होता है।

(२७ । ८ । ३९)

७. 'परिग्रह दुखदायी है' केवल यह जानकर यदि परिग्रहका त्याग करे तब क्या वह परिव्राजक कहला सकता है? कभी नहीं। राजा जनकको जो 'विदेह' शब्दसे व्यपदेश किया गया है उसका

यही कारण है कि उनकी परिग्रहमें आसक्ति न थी। फिर भी परिग्रह मूर्च्छाका निमित्त कारण हो है यदि ऐसा न होता तव संन्यासमार्गकी आवश्यकता ही न थी। अतः यह परिग्रह मूर्च्छाके निमित्त हैं, इनका त्याग ही श्रेयस्कर है।

(७। ९। ३९)

८. परिग्रहका अर्थ है सम्यक् प्रकारसे परवस्तुको अपना मानना। तव जिसको त्यागकर लोग दानी वनते हैं वह वस्तु तो आत्मासे भिन्न है, उसको अपना मानना ही अन्याय है। वह तो पर है, परवस्तुको जो ग्रहण करते हैं वे चोर हैं।

(३१। १०। ५१)

९. संसारमें परिग्रह छोड़ना उत्कृष्ट है परन्तु छोड़कर संग्रह करना तो अति निन्द्य है। सम्पूर्ण परिग्रहके त्यागी दिगम्बर मुद्रा धारणकर एकान्तवास, या साधुसमागम द्वारा आत्म कल्याण करते हैं परन्तु त्यागी या साधु होकर भी जो इसके विपरीत ही आचरण करते हैं वे संसार समुद्रमें ऐसे डूवते हैं कि किनारे लगनेका कोई ठिकाना ही नहीं पाते।

(१३। ३। ४०)

१०. परिग्रह एक पिशाच है। इसके वशीभूत होकर मनुष्य नाना प्रकारके अनर्थोंको उपार्जन करते हैं। यह संसार ही परिग्रह-मूलक है। अन्तरङ्ग और वहिरङ्गके भेदसे यह दो प्रकारका है। अन्तरङ्ग परिग्रहका सम्वन्ध आत्मासे है और वही पदार्थ जिसमें ममभाव होता है उसे वाह्यपरिग्रह कहते हैं जैसे असिको हिंसक कह देना।

(२८। ४। ४०)

११. अन्तरङ्गसे मूर्च्छा नहीं जाती इसका कारण आत्म-दुर्वलता है। अभी उन परपदार्थोंको हम अपना साधक और वाधक

समझ रहे हैं। यही साधक बाधकभाव मूर्च्छाके साधक हैं। साधक-भाव एक तो पुण्यके कारण हैं और एक पापके कारण हैं।

(५ । ६ । ४०)

१२. वास्तवमें गृहभार अन्य कुछ नहीं अपनी ही मूर्च्छाने यह रूप दे रखा है कि उसे हेय जानता हुआ भी यह जीव उसे त्याग नहीं सकता। मूर्च्छाके अभावमें चक्रवर्तीकी विभूति भी भार नहीं और मूर्च्छाके सद्भावमें एक फूटी कानी कौड़ी भी भार है।

(३० । ६ । ४०)

१३. परिग्रहसे मूर्च्छा होती है चाहे खाओ चाहे न खाओ। आज इसी परिग्रहके कारण यूरोपमें हाहाकार मच रहा है।

(३१ । १२ । ४०)

१४. परिग्रह सबसे बुरी बला है। इससे अपनी रक्षा करना कठिन है। सब पापोंका मूल परिग्रह है। अन्य पाप इसके ही परिवार हैं।

(७, ८ । ६ । ४०)

१५. चेतन परिग्रहके भोगनेमें पर द्रव्यको भोगकर हम अपना ही घात नहीं करते किन्तु उसको भी रागी बनाकर उसका भी घात करते हैं। अचेतन परिग्रहके भोगनेमें हम उतने अपराधी नहीं।

(२४ । ९ । ४४)

पर संसर्ग

१. ताम्बूलका संसर्ग जवतक अधरके साथ नहीं होता तवतक मुखमें लाली नहीं आती। इसी तरह जवतक कषायके अनुकूल विषयका संसर्ग नहीं होता तवतक उस कषायके अनुकूल कार्य नहीं होता। अच्छा यही है कि इन विषय कषायोंके कारण पर संसर्गसे दूर ही रहा जाय।

(७। १। ३९)

२. पर संसर्ग ही संसारमें अति प्रवल मोहका कारण है। इसके निमित्तसे जीवको नाना दुर्गतिके दुःखोंका पात्र वनना पड़ता है।

(१६। १। ३९)

३. जहाँ अपना शरीर ही सुखकर नहीं वहाँ अन्य पदार्थों या अन्य व्यक्तियोंका संसर्ग सुखकर मानना मूर्खताके सिवा और क्या है?

(२०। १। ३९)

४. जितना अधिक सम्पर्क मनुष्योंके साथ करोगे उतने ही कलुषित परिणाम होंगे। वही वर्तमानमें आत्मवोधसे च्युत होनेका निमित्त भी होगा।

(२। २। ३९)

५. परके साथ सम्पर्क त्यागनेके लिये लज्जा त्यागो, भय त्यागो, हास्यादि त्यागो। केवल कथोपकथन करना समय (आत्मा) का दुरुपयोग है।

(१२। २। ३९)

६. परके सहवाससे आत्मा मलिन होता है और मलिनता ही पतन करनेवाली है।

(११ । १ । ४०)

७. जबतक यह जीव परवस्तुओंको अपनाता है और उन्हें अपने अनुकूल परिणमानेकी चेष्टा करता है तबतक अनन्त संसारके अनन्त कल्पनातीत दुःखोंका पात्र होता है।

(३१ । १ । ४०)

८. पर संसर्गसे जितना राग होता है वह एकाकी रहनेसे नहीं होता। पानके चर्वण करनेपर ही मुँह लाल होता है, पृथक् रहनेपर लालिमा नहीं लाता।

(२७ । ७ । ४४)

९. परपदार्थके संसर्गसे जिन्होंने आत्मपरिणतिको मलिन कर दिया उन्होंने मनुष्य जन्मका मूल नहीं समझा।

(१२ । ८ । ४४)

कल्पना

१. कल्पनाके द्वारा यह आत्मा इस जगत्का निर्माण करता है। कोई कहते हैं कि कल्पना मिथ्या है, उसका यह तात्पर्य है कि जिसे कल्पनामें विषय करता है वह ज्ञेय वाह्यमें नहीं। अतः उस बाह्य प्रमेयकी अपेक्षा उसे मिथ्या कहो परन्तु कल्पना तो आत्माका विभाव परिणाम है वह असत् नहीं। जैसे सीपमें चाँदीका ज्ञान हो जाता है और इस ज्ञानको मिथ्या कहते हैं। मिथ्या ज्ञान विषयकी अपेक्षासे मिथ्या है स्वरूपसे तो सत् है अतः जितने विकल्प हैं वे स्वरूपसे सत् हैं।

(३ । ७ । ४०)

२. चित्त क्या है ? आत्माके ज्ञान गुणका परिणमन ही तो है। परन्तु इतना चञ्चल क्यों ? चञ्चलताका अर्थ वदलता रहना है। परिवर्तन होनेसे क्या हानि है, सिद्धस्वरूप भी निरन्तर परिवर्तनशील है, आकाशादि पदार्थ भी निरन्तर परिवर्तनशील हैं। कोई भी वस्तु संसारमें ऐसी नहीं जो परिवर्तनशील न हो, अन्यथा उत्पाद व्यय ध्रौव्यका अभाव ही हो जावे, क्योंकि एतत् त्रितयात्मक ही वस्तु है। अतः विचारना चाहिये कि मनकी चञ्चलतामें कौनसा दुःखकर पदार्थ मिला है, जो हमें निरन्तर दुःखी रखता है। विचारनेसे इसका पता लगता है कि मन तो एक जाननेका साधन है, उस जाननेमें जो इष्टानिष्ट कल्पनाएँ होती हैं वही हमें निरन्तर दुःखी वनाए हैं। यदि वह कल्पनाएँ विलीन हो जावें तो हम अनायास ही सुखके पात्र हो जावेंगे।

(२ । ९ । ४०)

३. कल्पनाएँ क्यों होती हैं? इसका कारण हम अनादिकालसे परपदार्थोंको अपनाते हैं और उनमें जिसको अपनाते हैं उसी रूपमें वह रहे तब तो हम सुखी हो जाते हैं परन्तु यदि अन्यथा रूप हुआ तो हम दुःखी हो जाते हैं।

(३।९।४०)

सङ्कल्प-विकल्प

१. विकल्प जाल इतना भीषण कार्य करता है कि विना शस्त्रादिकके मर्मभेदन करता है। कौन ऐसा व्यक्ति है जो इसके प्रहारसे रक्षित हो ? वही हो सकता है जिसकी आत्मासे मोहका अस्तित्व चला गया है। परन्तु उसका पता तभी लगता है जव कि तुम्हारे हृदयमें पवित्र भावोंका आंशिक भी उदय हुआ हो।

(२४। ५। ४०)

२. मोहके उदयमें नाना प्रकारके विकल्प होते हैं और प्रायः इनके शमन करनेका उपाय केवल एक ओर दृष्टिकी तत्परता ही है। इसीका नाम ध्यान है। ध्यानकी सिद्धि उसीके होगी जिसके पञ्चेन्द्रियोंके विषयमें इच्छा घट जावेगी। विना इच्छाके विषय सेवन नहीं होता और विषय सेवनके अभावमें तृष्णा नहीं होती। तृष्णाके अभावमें आपसे आप निरीहवृत्तिकी वृद्धि होने लगती है। निरीहवृत्तिके सतत उपयोग होनेसे आत्मा शान्तिका पात्र होता है। वही सुख है। केवल परपदार्थोंसे मोहजन्य ममत्व त्यागनेकी आवश्यकता है।

(१२, १३। ६। ४०)

३. जितने विकल्प होते हैं यह सव मोहके परिणाम हैं। उनके अभ्यन्तरमें एक प्रकारकी ऐसी आकुलता रहती है जो अन्तरङ्गमें क्षोभदायिनी होती है। परपदार्थोंमें जो यह भाव होता है कि "यह हमारे कल्याणमें सहायीभूत हों" यह क्या है ? केवल मोहकी विकृति ही तो है।

(६। १०। ४०)

४. जितने प्रकारके मनुष्य मिलते हैं उतने ही प्रकारके विकल्प होते हैं और उतने ही प्रकारके नवीन-नवीन कषायोंके भाव आत्मा-

में हो जाते हैं। अतः वह कार्य करो जिससे आत्मामें न तो ऐसे विकल्प ही हों और न वैसे संक्लेश परिणाम ही हों। संक्लेशता कहींसे आती नहीं, हम उसे स्वयं उत्पन्न कर लेते हैं।

(१५।५।४४)

५. जो भी कार्य हो उसे निश्चिन्तता और दृढ़ विचारसे करो। सङ्कल्प-विकल्पके जालसे सर्वदा पृथक् रहो। इसके जालसे फिर निकलना कठिन है।

(२१।५।४४)

६. हमने अपनेको तो सुधारा नहीं अन्यके सुधारनेका भूत लगा बैठे। वही नाना प्रकारकी वेदनाएँ उत्पन्न करता है। यदि कुछ दिन शान्तिकी इच्छा है तब सभी सङ्कल्प-विकल्पोंकी होली जलाकर आत्मज्योति प्रज्वलित करो। कल्याणका सरोवर आपहीमें है, उसमें अवगाहनकर भवताप मेटनेका प्रयत्न करो।

(९।८।४४)

इच्छा

१. जब हमारी आत्मामें किसी विषयकी इच्छा हो जाती है उस समय हम अत्यन्त क्षुब्ध और दुखी हो जाते हैं। ऐसा क्यों ? इसलिये कि इच्छा एक वैकारिक भाव है और उसके होते ही आत्म-स्थित चारित्रशक्ति विकृत हो जाती है। उस कालमें उसका वास्त-विक स्वरूप तिरोहित हो जाता है। तब जैसे कामला रोगवालेको समस्त शुक्ल पदार्थ पीले दिखाई देते हैं वैसे ही मिथ्यात्व सहकृत चारित्रोदयमें यह जीव शरीरादि परद्रव्योंको स्वात्महितका कारण मानकर दुखी हो जाता है।

(१३ । ४ । ३९)

२. इच्छित बात न हुई, न होगी। अतः इच्छाको छोड़कर कार्य करनेकी चेष्टा करो। भोजनको विष मिश्रित बनाकर खानेसे आत्मघात ही होता है। अतः जो मानव चाहकर (इच्छाकर) कार्य करनेको तैयार होते हैं उनकी दशा भी विषमिश्रित भोजन करनेवालेके सदृश होती है।

(१६ । १२ । ३९)

३. जहाँ अपनी इच्छाका निरोध हो जावेगा स्वयमेव संसार-की समस्त समस्याएँ सुलझ जावेंगी। इच्छा या अभिलाषाके शान्त हुए बिना ऊपरी त्यागकी कोई महिमा नहीं।

(२० । १ । ४०)

४. दुःखका मूल कारण अपनी इच्छा है, जो चाहती है कि संसारके समस्त पदार्थ मेरे ही अनुकूल परिणमें। अतः जबतक इच्छाका अभाव न होगा तबतक शान्तिका होना असम्भव है।

(२२ । ३ । ४०)

५. इच्छाका अर्थ परिग्रह है और इच्छा अज्ञानमय भाव है। ज्ञानी जीवके अज्ञानमय भावका अभाव है अतः इच्छाजन्य आकुलताके दुःखका वह पात्र नहीं होता।

(२७ । ४ । ४०)

६. सम्पूर्ण विषयोंकी अभिलाषा त्यागो, क्योंकि जिस वस्तुके जाननेमें पहिले ही अशान्तिका उदय होता है उसको जाननेकी अपेक्षा न जानना ही अच्छा है।

(१६ । ५ । ४४)

७. मिथ्या सन्तोष मत करो। सत्य सन्तोष वह पदार्थ है कि जिससे अन्तरङ्गमें परवस्तुकी इच्छा ही नहीं होती। अन्तरङ्गमें यदि इच्छाकी प्रचुरता है और ऊपरसे लोक-प्रतिष्ठाके लिये त्यागी बनते हैं तो वह त्याग त्याग नहीं; दम्भ है। दम्भ ही नहीं; आलस्यका पोषण, दूसरोंको धोखा और आत्मवञ्चना है। जहाँ यह तीनों पाप हैं वहाँ आत्मोत्थानकी आशा ही व्यर्थ है।

(८ । ५ । ४४)

८. लोलुपताका कारण रसना इन्द्रिय नहीं। उसका कार्य तो रसपरिज्ञान करा देना है। लोलुपताका जनक हमारी इच्छा है। हम जिसको चाहते हैं वही ग्रास तो मुखमें डालते हैं। यदि उस रसात्मक चटकीले पदार्थमें प्रेम न हो तब उसको उठानेमें हाथका प्रयोग ही न हो।

(२६ । १२ । ४४)

समालोचना

१. परोक्षमें किसीके दोषोंकी समालोचना मत करो। जबतक तुम्हारी आत्मा मलीन है तबतक उसे ही पर समझ उसीकी आलोचना करो। जो त्रुटियाँ अपनेमें देखो उन्हें दूर करो। ऐसा करनेसे दूसरोंकी बुराईमें तुम्हारा जो समय लगता था वह तुम्हारे आत्म-सुधारमें काम आवेगा।

(८।१।३९)

२. बहुत मत बोलो, बहुत मत सुनो। जहाँपर परायी निन्दा और अपनी प्रशंसा होती हो वहाँ बहरे बनके रहो।

(२०।१।३९)

३. परकी आलोचनासे सिवा कलुषताके कुछ हाथ नहीं आता। परन्तु अपने उत्कर्षको व्यक्त करनेकी जो अभिलाषा है वह दूसरोंकी आलोचना किये बिना पूर्ण नहीं होती। उसे पूर्ण करनेके लिये मनुष्य जब परकी आलोचना करता है तब उसके ही कलुषित परिणाम उसके सुगुण घातक बन बैठते हैं।

(८।२।३९)

४. परकी समालोचनामें अपने अभिप्रायको लगाना अपनी ही कमजोरीका परिचायक है। जो मनुष्य अपनी पवित्रतामें नाना युक्तियाँ देता है वह पवित्र नहीं।

भोजन

१. परके घर अतिथि बनकर भोजन करना अपरिग्रही जीवोंको ही अच्छा लगता है। वैसे पराया माल किसे बुरा लगता है ? परन्तु इस तरह भोजनभट्ट बनकर पराये मालसे देह पोषण करना पामरोंका ही काम है।

२. पराये घर भोजनका वही अधिकारी है जो मोक्षमार्गका प्रचारक है। जिसने अपनी कषायोंका दमन कर दिया है, पापारम्भको त्याग दिया है, व्रतोंमें अतिथिसंविभागव्रत-धारक है। सर्वोत्तम अतिथि मुनि हैं, मध्यम अतिथि श्रावक हैं, दशवीं, एकादशवीं प्रतिमाधारी श्रावक मध्यम अतिथियोंमें उत्तम है।

(१३ । १ । ४०)

३. भोजनमें शाहीपना रोगका मूल है।

(२० । १ । ४०)

४. भोजनमें लोग आडम्बरसे राजी हैं। खानेवाले भी इसीमें आनन्द मानते हैं। चाहे पीछे भले ही लालच बढ़ जावे, दुर्दशा हो जावे, बीमारीका सामना भी करना पड़े।

(३ । ४ । ४४)

५. भोजन भी क्या वला है कि इसके बिना शरीरकी स्थिति नहीं। तथा ऐसी वस्तु है कि मनुष्यके पतनका भी यही कारण है। लोभी मनुष्य लोभमें आकर आत्मगुणसे च्युत हो जाते हैं।

(८ । ५ । ४४)

६. भोजन करनेवालोंमें प्रायः सादगी नहीं। त्यागका केवल बहाना है। अन्तरंग त्यागकी ओर लक्ष्य नहीं। केवल वाह्य त्यागसे

लोगोंकी दृष्टिमें चमत्कार है। अभ्यन्तर त्यागसे अभी हमलोग वहुत दूर हैं।

(९ । ५ । ४४)

७. भोजन ऐसा होना चाहिये जिससे कि पात्रके ध्यान-अध्ययनमें वाधा न हो। यदि उसमें वाधा पहुँची तव भोजनका भाजन दुःखका भाजन है।

(२० । ५ । ४४)

८. भोजन वही हितकर होता है जो सादा हो। जिस भोजनमें आडम्वर है वह भोजन नहीं केवल स्वादकी विडम्वना है।

(२१ । ६ । ४४)

९. भोजनमें लिप्साका त्याग करना उत्तम पुरुषोंका कर्तव्य है।

(२९ । ७ । ४४)

१०. भोजन करना सरल है परन्तु भोजन करके उसके प्रति कुछ उपकार करना चाहिये। विना प्रत्युपकार किये भोजन करना एक तरहका समाजके ऊपर भार है।

(३० । ७ । ४४)

११. खेद इस वातका है कि आजकल लोग जान-वूझकर त्यागीको संयमसे च्युत करनेवाला भोजन कराते हैं। पूड़ी पपड़िया खाजे आदि वनाना तो इनके वाएँ हाथका खेल है।

१२. भोजन सात्त्विक होना चाहिये। सात्त्विक भोजनसे शरीर निरोग रहता है। मोक्षका मार्ग सरल होता है। सात्त्विक भोजन सहज पचता है, उसमें विकृतता नहीं होती।

१३. राजस भोजन दर्पकर होता है। प्रमादका जनक है। लम्पटताका कारण है। अधिक व्यय साध्य और अस्वास्थ्यकर है।

(१४ । ८ । ४४)

१४. गरिष्ठ भोजन रोगका कारण है। राग रोग भी वर्तमान है। उत्तरकालमें इसका फल संसार है और वर्तमानमें जो रोग न

करे सो अल्प है। इन्द्रियोंमें रसना, कर्मोंमें मोहनीय, व्रतोंमें ब्रह्मचर्य और गुप्तिमें मनोगुप्ति कठिन है।

(१६ । १२ । ४४)

१५. त्यागी पुरुष भी लालचके वशीभूत होकर यद्वा तद्वा भोजन कर लेते हैं और अपनी त्यागवृत्तिको कलुषितकर संसारके पात्र ही हो जाते हैं।

(२३ । १२ । ४४)

लिये जो मार्ग है उसपर न चलना पड़े। यही विपरीतभाव हमारे उत्कर्षका बाधक है।

(७ । ४ । ४९)

१२. वाह वाहमें संसार लुट रहा है, आप स्वयं निजस्वरूपसे च्युत है और संसारको उस स्वरूपमें लगाना चाहता है। यह सर्वथा अनुचित है कि मनुष्य जगत्के कल्याणकी चेष्टा करते हैं परन्तु आत्मकल्याणकी ओर जरा भी लक्ष्य नहीं देते। उनका प्रयत्न अन्धेके हाथमें लालटेन सदृश है। संसारकी विडम्वनाका चित्रण करना संसारीका काम है। जिसको नाना विकल्प उत्पन्न होते हैं वह पदार्थको नानारूपमें देखता है। वास्तवमें पदार्थ तो अभिन्न है, अखण्डित है, यह उसे क्षयोपशम ज्ञानसे नानारूपमें देखता है।

(१७ । ५ । ४९)

१३. बहुतसे मनुष्य ऐसे होते हैं जिन्हें कलह ही प्रिय होता है। जनता उनके पक्षमें आ जाती है। शास्त्रका अध्ययन करनेवाले सद्विवेकी जीव जब इस विषयसे मुक्त नहीं है तब अज्ञानी मनुष्य तो अज्ञानी ही हैं।

(१४ । ६ । ४९)

१४. मनुष्य बाजारकी चाट चाटनेके आदी हैं। निरन्तर ऊपरी चमक-दमकमें मस्त रहते हैं, भक्ष्य-अभक्ष्यका विवेक नहीं। केवल शरीरके पोषणमें अपने ज्ञान धनका उपयोगकर अपनी पर्यायको सफल बनानेका प्रयत्न है। इनकी दृष्टि अपनी ओर नहीं। यही महती त्रुटि संसारके बन्धनसे छूटनेमें बाधक है।

(१६ । ७ । ४९)

१५. आजकल मनुष्यको नेत्रका विषय बहुत प्रिय लगने लगा है। वह इसमें इतने आसक्त हैं कि निज पत्नीको वस्त्रकी आवश्यकतामें चाहे सौ रुपये व्यय हो जावे, कुछ गम नहीं, वस्त्रसे उसका सर्वाङ्ग

दीखे, इसीमें वह अपनी प्रतिष्ठा मानती है और यह उससे प्रसन्न होता है।

(३ । ८ । ४९)

१६. वर्तमानकालमें मनुष्योंमें परस्पर सौमनस्य नहीं। अतः इनके जितने भी कार्य हैं कोई पूर्ण नहीं हो सकता। यहाँपर सब अपनेको अहमिन्द्र मानते हैं, इनकी दृष्टि अहंकर्ताकी है परन्तु कुछ कर नहीं सकते केवल कल्पना है। और कल्पनाका कार्य जैसा होता है वह किसीसे छिपा नहीं है। अर्थात् कल्पना जालमें मिलता जुलता कुछ नहीं केवल कल्मष संश्रय होता है।

(२० । ८ । ४९)

१७. प्रत्येक मनुष्यके यह भाव होते हैं कि लोकमें मेरी प्रतिष्ठा हो। यद्यपि इससे कोई लाभ नहीं फिर न जाने लोकैषणा क्यों होती है? सभी विद्वान् निरन्तर यही घोषणा करते हैं—"संसार असार है, इसमें एक दिन मृत्युका पात्र होना पड़ेगा।" इनके 'असार'का कुछ भी अर्थ समझमें नहीं आता। 'मृत्यु होगी' इसमें भी क्या विशेषता है? इससे वीतराग तत्त्वको क्या सहायता मिलती है? कुछ समझमें नहीं आता।

(२५ । ९ । ४९)

१८. आजकल ही नहीं, प्रायः सभी कालमें हठवादका यथार्थ उत्तर होना कठिन है। सब यही चाहते हैं हमारी बात गई, तब कुछ भी न रहा, अतः जैसे बने वैसे अपनी हठकी रक्षा करना चाहिये तत्त्व कहीं जावे। यदि मनुष्योंमें हठ न होती तो ३६३ पाखण्ड मत प्रचलित न होते। आत्माके अभिप्राय अनन्त हैं अतः उतने मत हो सकते हैं, संग्रहसे ३६३ बता दिये हैं।

(१७ । १२ । ४९)

१९. मनुष्य केवल निमित्त उपादानकी चर्चामें अपना समय

दूषित दृष्टि

१. लोग ऊपरी आडम्बरमें प्रसन्न रहते हैं, अन्तरङ्ग दृष्टिपर ध्यान नहीं देते। केवल गल्पवादमें समय व्यय करना जानते हैं।

(१० । १ । ४९)

२. गुरुकुल संस्था उत्तम है, परन्तु लोगोंकी दृष्टि उस ओर नहीं। जिनकी दृष्टि है उनके पास द्रव्य नहीं, जिनके पास द्रव्य है उनके परिणाम नहीं।

(१४ । १ । ४९)

३. अधिकांश लोगोंकी अन्तरङ्ग दृष्टि निर्मल नहीं। तत्त्व-ज्ञानकी रुचि जैसी चाहिये वह नहीं। खेद इस बातका है कि स्वयं तो क्या दूसरों द्वारा सावधान किये जानेपर भी आत्म-परिणामोंके परिणमनपर ध्यान नहीं देते। स्वकीय आत्मद्रव्यका कल्याण करना पुण्य है परन्तु उस ओर लक्ष्य नहीं।

(१६ । १ । ४९)

४. मनुष्योंकी दृष्टि और प्रवृत्ति प्रायः इस समय अति कलुषित रहती है। यदि तीर्थस्थानसे शान्तभावको लेकर जावें तब तो यात्रा करनेका फल है अन्यथा अन्यथा ही है। संसार-बन्धनके नाशका यदि यहाँ आकर भी कुछ प्रयास नहीं हुआ तब तीर्थयात्रा जैसे शुभ निमित्त कारणका क्या उपयोग हुआ ?

(६ । ३ । ४९)

५. लोगोंकी दृष्टि वक्ताके प्रवचनसे लाभ उठानेकी नहीं। अब संयमके स्थानमें अष्ट मूलगुण पालनका उपदेश रह गया है। बहुतसे बहुत बलका प्रभाव पड़ा तब बाजारकी जलेबी खानेका त्याग तक आजके संयमकी सीमा पहुँच गई है।

(९ । ३ । ४९)

६. लोगोंमें परस्परमें अविश्वास है यही कारण है कि इनके कार्य सफल नहीं होते। स्कीम बड़ी-बड़ी प्रारम्भ कर देते हैं परन्तु पूर्ति एककी भी नहीं करते।

(१४ । ३ । ४९)

७. अज्ञानी जीवको अपना दोष नहीं दीखता, परमें ही नाना कल्पना करता है।

(१९ । ३ । ४९)

८. केवल मनुष्योंका अनुरञ्जन करना तात्त्विक मार्ग नहीं, तात्त्विकमार्ग तो वह है जिससे आत्माको शान्ति मिले।

(३१ । ३ । ४९)

९. जनताके अनुकूल प्रवचन होना कठिन है, जनता गल्पवादकी रसिक है। लोग वास्तविक तत्त्वका मर्म नहीं समझते केवल बाह्याडम्बरमें निज धर्मकी प्रभावना चाहते हैं। प्रभावनाका मूल कारण ज्ञान है उसकी ओर दृष्टि नहीं। ज्ञानके समान अन्य कोई हितकारी नहीं; क्योंकि ज्ञान ही आत्माका मूल असाधारण गुण है, उसकी ही महिमा है जो यह व्यवस्था बन रही है।

(१ । ४ । ४९)

१०. यथार्थ वस्तुका स्वरूप प्रथम तो जानना कठिन है। अन्यको निरूपण करना कठिन है। वस्तु स्वरूपका परिचय होना ही कल्याणका मार्ग है, उसके लिये लोगोंका प्रयास नहीं, प्रयास केवल बाह्य आडम्बरके अर्थ है।

(३ । ४ । ४९)

११. आजकल मनुष्योंके यह भाव हो गये हैं कि अन्य सिद्धान्तवाले हमारा सिद्धान्त स्वीकार कर लेवें। संसारमें प्रत्येक मनुष्य यही चाहता है कि हम उत्कर्षशील हों, उन्नत हों, परन्तु इसके

विताते हैं। पढ़े लिखे हैं नहीं, परिभाषा जानते नहीं, केवल अनाप-सनाप कहकर समय खो देते हैं।

(१८। १२। ४९)

२०. संसारमें अनेक मनुष्य उपकार करनेके योग्य हैं परन्तु जिनके पास धन है वे उसका उपाय स्वेच्छाचारसे करते हैं। तथा यह कर्मभूमि है सभी मनुष्य एक सदृश नहीं हो सकते अतः इसमें खेद न करना चाहिये। किन्तु अपने पास जैसी शक्ति है उसके अनुरूप परका उपकार करना चाहिये।

(२। ३। ५१)

आत्म-प्रशंसा

१. जहाँ लौकिक मनुष्योंमें प्रशंसा हुई, यह जीव अपनेको धन्य मानने लगता है। और जहाँ आत्म-प्रशंसा एवं पर-निन्दा हुई वहाँ भी हर्ष मानरूप कषायोंकी प्रवृत्ति होते हुए भी हर्ष मानता है। यही भाव वासना अनन्त संसारका कारण है।

(१९ । ३ । ३९)

२. अन्य प्राणीकी प्रशंसात्मक कथासे आत्माका हित भी होता है और अहित भी होता है। किन्तु जहाँपर केवल अपनी प्रशंसाके अर्थ परकी कथा की जाती है वहाँ केवल पाप सञ्चय करानेवाला भाव ही होता है। अभिप्रायमें जो अपनी प्रशंसाकी इच्छा है वास्तवमें वह मान कषायकी परिचायिका ही है।

(२० । ३ । ३९)

३. लौकिक निन्दा और आत्म-प्रशंसामें दिन व्यतीत करनेसे कोई लाभ नहीं, लाभ परिणामोंके यथार्थ पालन करनेमें है।

(२ । ७ । ३९)

४. प्रशंसा सुनकर हर्षित होना मोही जीवोंकी प्रकृति है। सम्वन्धियोंकी प्रशंसा करना अपनी मूर्खताका परिचय देना है।

(२१ । ७ । ३९)

५. अपनी गलतियोंको छिपानेके अभिप्रायसे ही मनुष्य आत्म-प्रशंसा और पर-निन्दा कर दुर्गतिके पात्र बनते हैं।

(२८ । ५ । ३९)

६. जो कुछ प्राप्त हुआ है उसीसे सानन्द जीवन व्यतीत करो। जगत्का वैभव देखकर लालच मत करो। कर्मज वस्तु अथवा भाव अनात्मीय जान उन्हें त्यागो। कभी भी अनात्मीय पदार्थोंके संग्रहका यत्न करोगे भी तो आखिर वह सब निमित्ताधीन ही तो हैं अतः

निमित्तके अभावमें उनका अभाव भी निश्चित ही है।

(११ । ६ । ४०)

७. परकी निन्दा श्रवणकर हर्ष मानना तथा अपनी प्रशंसा श्रवणकर हर्ष मानना क्षुद्र जीवोंका काम है। आत्मा वास्तवमें न हर्षरूप है न विषादरूप है, यह दोनों विकारज भाव हैं। हर्ष विषाद दोनों मोह जन्य हैं। मोह जन्य जो भाव हैं वे अनात्मीय हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे आत्माके हैं ही नहीं किन्तु मोहज होनेसे विकारी हैं अथवा उसके अभावमें स्वयमेव विलय जाते हैं। अथ च आत्माको आकुलता जनक हैं अतः अनात्मीय हैं।

(२५ । ७ । ४०)

८. सब जीवोंको सुख सिद्धिमें बाधक कारण आत्मश्लाघा है। प्रायः सभी जीव यह चाहते हैं कि मैं ही श्लाघ्य हूँ। वह जीव पुण्यकर्मको ही उपादेय समझते हैं, अतः ऐसे जीव अपने सुखके अपने आप घातक हैं।

(२६ । ११ । ४०)

९. परसे अपनी प्रशंसाकी चाह करना ही संसार गर्तमें पतनका कारण है। संसारका मूल कारण यही विजातीय परिणति है।

(१५ । ८ । ४४)

१०. लौकिक प्रतिष्ठा पतनका कारण है। जिन्हें उसके द्वारा हर्ष होता है वह तत्त्वज्ञानसे पराङ्मुख हैं। ये दोनों अनात्मधर्म हैं।

(१ । १० । ४४)

११. निन्दामें विषादका होना और प्रशंसामें हर्षका होना तो प्रायः बहुत मनुष्योंको होता है परन्तु हमको तो निन्दा ही अच्छी नहीं लगती। और प्रशंसामें भी खेद होता है। वास्तवमें ये अनात्मीय धर्म हैं। इनमें रागद्वेष करना सर्वथा वर्जनीय है।

(स्मृति १९४४)

मङ्गल ज्योति

(विद्वान्, संस्थाएँ, मन्दिर और समाजका सङ्गठन)

१. विद्वानोंमें एकता—

हम (विद्वान्) लोगोंमें जो परस्पर मनोमालिन्य है उसे दूर कीजिये। वह केवल गल्पवादमें नहीं, अर्थ रूपमें होना चाहिये। मुझे विश्वास है कि विद्वान् लोग सरल होते हैं, सहजहीमें मनोमालिन्यको मिटा देंगे। आप लोग वक्ता हैं, अन्यको श्रेयोमार्गका उपदेश देते हैं तब उसका प्रभाव आपपर भी तो होना चाहिये। आजतक संसारकी जो व्यवस्था चल रही है वह ज्ञान हीका वैभव है। तब आप ही इसका सूक्ष्मरीतिसे अवलोकन करें। जो ज्ञान संसारकी व्यवस्था करनेमें समर्थ हो और अपनी व्यवस्था न कर सके यह बात तो कुछ समझमें नहीं आती। ये लोग समाज सुधारके लिये तो प्राणपनसे परिश्रम करते हैं और अपनी सुजनताकी ओर उदासीन रहें, यह नहीं हो सकता। अतः मैं तो इसीमें प्रसन्न हूं कि आपलोग आपसमें एक हो जावें, इसके लिये पाण्डवोंका दृष्टान्त पर्याप्त है। मुझे आप लोगोंके उत्कर्ष हीमें आनन्द है। आपलोगोंके भाग्योदयसे अब समाजका धनिकवर्ग पण्डितोंका पूर्णरूपसे आदर करनेमें अपनी प्रतिष्ठा मानता है। यह बात नवीन नहीं। पहिले समयमें भी समाजमें विद्वानोंका आदर होता था। हाँ हम ही यदि परस्परमें एक दूसरेकी अवहेलना करने लगें तो समाजका इसमें कौनसा अपराध है?

वर्तमानमें समाजमें कई विद्वान् उत्तमसे उत्तम हैं। जिनकी गणना भारतवर्षके उत्तम विद्वानोंमें की जाती है। ऐसे-ऐसे विद्वान् समाजमें हैं जो सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, दर्शन एवं साहित्य-

शास्त्रोंके विषयको वड़ेसे वड़े विद्वानोंके समक्ष रखनेमें सङ्कोच नहीं करते। अनेक विद्वान् तो अव व्रती भी हो गये हैं। शुद्ध भोजन करनेवाले तो प्रायः बहुत मिलेंगे। अपवादको लेकर जो कोई विद्वानोंके मत्थे दोष मढ़ता है वह अविरतको नहीं समझता। श्रद्धा और वस्तु है, त्याग और वस्तु है। सबसे महान् त्याग तो श्रद्धाके उदय होनेपर हो जाता है। आप जानते हैं कि श्रद्धा होते ही अनात्म पदार्थमें जो आत्मबुद्धि थी वह तो एकदम पलायमान हो जाती है। अर्थात् एक करोड़ रुपयेका कर्जदार यदि ९९,९९,९९९ रुपया पन्द्रह आना अदा कर देवे तव एक आना जो शेष रहा उसका देना कौनसा कठिन है। ऐसा ही मैं सम्यग्दृष्टिको मानता हूँ। अतः ज्ञानी जीवोंमें अल्प अविरतिकी त्रुटि देख मजाक उड़ाना सभ्यताके विरुद्ध है। विद्वानो! यदि आपलोग शीघ्र ही धर्मका उत्थान चाहते हैं तो परस्पर ३६ से ६३ हो जाइये। मैं आपको शिक्षा नहीं देता परन्तु आपने जो मेरा आदर किया (विद्वत्सम्मेलनके तृतीय अधिवेशनका सभापति वनाया) उसका मैं यही बदला चुका सकता हूँ। आपके अभ्यन्तरमें जो औदयिकी कलुषता आगई उससे आपकी पारमार्थिक हानि है और उसके दानसे आपका उत्कर्ष है वह आप मुझे भिक्षा-रूपमें देकर निर्मल बनिये!

मैं क्या करूँगा? इसकी चिन्ता छोड़िये। मैंने बाल्यावस्थासे त्याग सीखा है, इसको त्यागनेमें एक मिनट न लगेगा; क्योंकि मुझे कई वार ऐसे अवसर आये हैं कि जो वस्तु मिली तुरन्त दूसरेको दे दी। अभी आपकी उस कलुषताके ग्राहक वहुत हैं क्योंकि यह पञ्चमकाल है। इसमें परिग्रहको सञ्चय करनेवाले वहुत हैं, उन्हें देकर यह वला टाल दूँगा। यदि इस अवसरको आप टाल देंगे तो पश्चात्तापके पात्र होंगे। जिसमें आपकी कीर्ति निर्मल हो और आप उसे न चाहें तव आपलोग पण्डित कैसे?

२. छात्रोंको सुबोध बनाना—

एक मुख्य कार्य विद्वानोंको यह करना चाहिये कि पठनक्रम समयके अनुकूल हो। आजसे ४० वर्ष पहले जो वुद्धिबल था उसका अव वहुत अंशमें ह्रास है। अतः पठनक्रमको हलका करना चाहिये। छात्रोंको सुबोध वनानेकी चेष्टा करनी चाहिये। स्नातक होनेके अनन्तर छात्रको सबसे पहिले अनुभवी विद्वानोंके समागममें रहना चाहिये। इसका व्यय जिस विद्यालयमें छात्रने अध्ययन किया है उससे दिया जावे।

३. संस्थाओंका एकोकरण—

जितनी शिक्षा संस्थाएँ हैं वे परस्पर एक सूत्रमें बँध जावें। मुख्य केन्द्र स्थान बनारस हो। और शेष विद्यालय प्रथम, मध्यम, और शास्त्री कक्षाओंतक ही शिक्षा दें। आचार्य परीक्षाके लिये बनारसके विद्यालयमें रहें। एक छात्र दो परीक्षाओंमें ही बैठे। एक गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज परीक्षा बनारस और दूसरी अपनी समाजके प्रतिष्ठित परीक्षालयकी परीक्षा देवे। इसके बाद पुस्तक सम्पादनका कार्य भी यदि परस्पर सम्मतिसे हो तब बहुत ही उत्तम होगा।

संस्थाओंके एकोकरणकी आप लोग चेष्टा कीजिये। चेष्टा करनेमें जितनी परिणामोंकी निर्मलता है उसे कदापि न त्यागिये। उसमें मानापमानकी वासना भी न हो। मैं भी भगवान्‌से यही प्रार्थना करता हूँ कि हे प्रभो, लोगोंको ऐसी सुमतिका सहारा दो, जो इनका उद्धार हो। इस समय इनकी दशा दयनीय है। यदि इस समय आपने सहारा न दिया तब इनका उद्धार होना अशक्य है। हम लोगोंका आपसे कहनेका पूर्ण अधिकार है; क्योंकि हमारा भारत ही इस विपत्तिकालमें भी आपके साङ्गोपाङ्ग विभवको प्रायः प्रतिवर्ष दिखा रहा है। यद्यपि निष्काम भक्तिकी विशेष महिमा है, परन्तु यह कामना भी तो आपके ही दिव्यज्ञानकी प्रभावनाके लिये है।

अब संस्थाओंके सञ्चालकोंसे भी मेरा नम्र कहना है कि अन्तरङ्ग परिणतिको निर्मलकर व्यर्थ जो समाजके धनका दुरुपयोग हो रहा है, उसकी रक्षाके लिये इन संस्थाओंको एक सूत्रमें सङ्गठनकर यथायोग्य कार्य चलानेका प्रयास करिये। केवल शिक्षा-संस्थाओंके ही एकीकरणकी आवश्यकता नहीं, जो रुपया मन्दिरोंका है उसको भी व्यवस्थाकी आवश्यकता है।

४. मन्दिरोंकी सुव्यवस्था—

मन्दिरका द्रव्य धमार्थि आया हुआ द्रव्य है परन्तु आज जो मनुष्य मन्दिरके द्रव्यका स्वामी बन जाता है वह शेषको तुच्छ समझने लगता है और जो मन्दिरका द्रव्य उसके हाथमें रहता है उसको अपना समझने लगता है। किन्तु समय पाकर वह दरिद्र बन जाता है। अन्तमें जनताकी दृष्टिमें उसका आदर नहीं रहता। अतः मनुष्यताकी रक्षा करनेवालेको उचित है कि मन्दिरका द्रव्य अपने उपयोगमें न लगावे। द्रव्य वह वस्तु है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य न्याय मार्गसे च्युत होनेकी चेष्टा करने लगता है। न्याय मार्ग तो यह है कि आजीविकका अर्जन इस रीतिसे करे जिसमें अन्यके परिणाम पीड़ित न हों। जहाँ आत्म परिणाम संक्लेशित हों वहाँ विशुद्ध परिणामोंका अभाव हो जाता है। जहाँ विशुद्ध परिणामोंका अभाव होता है वहाँ शुद्धोपयोगको अवकाश नहीं।

५. समाजका सङ्गठन—

विद्वानोंमें एकता, सामाजिक संस्थाओंका एकीकरण एवं पाठ्य-क्रम व्यवस्थाके साथ मन्दिरोंकी सुव्यवस्थाकी भी आवश्यकता है। और उसके भी साथ हमें समाजके एकीकरणकी आवश्यकता है। यदि वह एकीकरण नहीं कर सके, तब सब स्वांग ही है। परन्तु साहूकारका स्वांग दुर्लभ है। अतः उस स्वांगके बिना आपके दोनों

एकीकरण अल्पकालमें शिथिल हो जायेंगे। अतः सबसे पहिले समाजका एकीकरण करनेका प्रयास, जिसके सद्भावमें क्षीणमोह होनेपर केवलज्ञानकी उत्पत्ति जैसे छुद्र है, उसी प्रकार यह कार्य अनायास होनेकी सम्भावना है।

(वि० प०के तृ० अ०के अध्यक्ष पदसे दिये गये भाषण और एक पत्रसे)



सङ्गठन

१. आजका समाज अनेक कारणोंसे फूटका शिकार वना हुआ है। यत्र तत्र विखरा हुआ है। वर्णगत, जातिगत, दलगत, व्यक्तिगत ऐसे-ऐसे अनेक कारण एकत्र हुए हैं जिनके कारण सङ्गठनकी नींव बहुत कच्ची हो चुकी है। ऐसे समाजमें एकता करना महापुरुषोंका काम है। जिस समाजमें कलहकारी मनुष्य उत्पन्न हो जाते हैं वह समाज नियमसे पतनके सम्मुख हो जाता है। अतः समाजकी उन्नति चाहनेवालोंको यही उचित है कि इन समाज कण्टकोंसे समाजको सुरक्षित रखें अन्यथा एक दिन यह समाजको अकिञ्चित्कर बना देंगे।

(२ । ८ । ४०)

२. विशेषकर पर्वके दिनोंमें सभीके परिणाम विषय कषायोंसे सुरक्षित एवं पवित्र रहते हैं। यदि इन पर्वोंमें पारस्परिक मनो-मालिन्यको मिटानेका प्रयत्न किया जाय तो अति सुन्दर कार्य हो। परन्तु उसकी ओर लक्ष्य नहीं। केवल बाह्य त्यागकी ओर दृष्टि देकर अपने जन्मको सार्थक मानकर कृतकृत्य हो जाते हैं। आवश्यकता इस बातकी है कि हृदयकी ग्रन्थिको भेदकर क्षमा गुणको धारण करें, परस्परके विद्वेषवृक्षको निर्मूलकर सङ्गठनका वीज वपन करें। इससे समाज सुधारका वहुत काम हो सकता है।

(१६ । ८ । ४०)

३. आजकल सभी मनुष्य उन्नतिका राग अलापते हैं परन्तु जबतक परस्पर मनोमालिन्य है, एक दूसरेमें विश्वास नहीं, तवतक उन्नति होना असम्भव है। जवतक लोग एक दूसरेके विरोधी रहते हैं। जनता एक दूसरेका विरोध देख संशयालु वन जाती है अतः जैसे वने पारस्परिक प्रेमभाव वढ़ाकर विद्वेषको हटाओ तभी सङ्गठनका सुख प्राप्त हो सकेगा।

(१९ । ११ । ४०)

४. लोगोंको जो काम प्रेमसे करना चाहिये उसे अप्रेमसे करनेका प्रयत्न करते हैं यही भूल परस्परमें भेद, मनोमालिन्य, विद्वेष और कलहका कारण बन जाती है।

(२१ । १२ । ४४)

५. भारतमें नाना प्रकारकी आपत्तियाँ आ रही हैं। और इस देशमें जबतक परस्परमें सहानुभूति और सङ्गठन नहीं रहेगा तब तक उद्धार नहीं हो सकता। इसके उद्धारका यही उपाय है कि कोई स्वच्छ हृदय प्राणपनसे चेष्टा करे।

(स्मृति १९४४)

धर्म प्रचारकी चार वर्षीय योजना

अच्छा यह होता कि एक ऐसा सुअवसर आता कि ५ निष्णात विद्वान् एक निरापद स्थानमें निवासकर धर्मके मार्मिक सिद्धान्तको निर्भीकताके साथ जनताके समक्ष रखते। तथा यह कहते कि आप लोग इसका वर्णन कीजिए। यदि आप लोगोंकी दृष्टिमें वह तत्त्व अभ्रान्त ठहरे तो उसका प्रचार कीजिये। यदि किसी प्रकारकी शङ्का रहे तब निर्णय करनेका प्रयास कीजिये। तथा जो सिद्धान्त लिखे जावें वहां पर अन्यने किस रीतिसे उसे माना है यह भी दिग्दर्शन कराइये। सबसे मुख्य तत्त्व आत्माका अस्तित्व है। इसके बाद अनात्मीय पदार्थपर विचार किया जावे। जैसे व्याख्यानों द्वारा सिद्धान्त दिखानेका प्रयास किया जाता है उससे अधिक लेखबद्ध प्रणालीसे भी दिखाया जावे। इन कार्योंके लिये २५०००) वार्षिक व्ययकी आवश्यकता है। चार वर्ष यह कार्य कराया जावे।

जो विद्वान् इस कार्यको करें उन्हें २००) नगद और भोजन व्यय दिया जावे। इनमें जो मुख्य विद्वान् हों उन्हें २५०) और भोजन व्यय दिया जावे। इस तरह चार विद्वानोंको ८००) और मुख्य विद्वान्को २५०) और कुल भोजन व्यय २५०)के लगभग होनेसे कुल १३००) मासिक हुआ। इसके साथ अंग्रेजी साहित्यका भी एक विद्वान् रखे जावें ४००) मासिक वेतन १००) मासिक भोजन व्यय उन्हें दिया जावे। २००) मासिक भृत्यों (सेवक नौकरों) को दिया जावे। इस तरह २०००) दो हजार मासिक व्यय हुआ। एक वर्षमें २४०००) हुआ। १०००) वार्षिक डाक व्यय होगा।

इस तरह कुल २५०००) वार्षिक रुपयोंसे शान्तिपूर्वक काम चला तो बहुत कुछ प्रश्न सरल रीतिसे निर्णीत हो जावेंगे। अगर एक आदमी यह समझ लेवे कि एक गजरथ यही सही तो चार वर्षमें केवल एक लाख ही रुपया तो व्यय होगा परन्तु इससे बहुत कालके लिये धर्म अस्तित्वकी जो स्थायी सामग्री एकत्र होगी उसका मूल्य एक लाख नहीं, वह तो अमूल्य ही होगी।

(इटावा, अषाढ़ वदी शुक्रवार सं० २००७)



आदर्शमन्दिर

मेरा निजी सम्मति तो यह है कि एक ऐसा मन्दिर वनवाना चाहिये कि जिसमें सव मतवालोंकी सुन्दरसे सुन्दर मूर्तियाँ और उनके ऊपर सङ्गमर्मरमें उनका इतिहास लिखा रहे। जैसे कि दुर्गाकी मूर्तिके साथ दुर्गा सप्तशती। इसी प्रकार प्रत्येक देवताकी मूर्तिके साथमें सङ्गमर्मरके विशाल पटियेपर उसका इतिहास रहे। इन सवके अन्तमें श्री आदिनाथ स्वामीकी मूर्ति अपने इतिहासके साथमें रहे और अन्तमें एक सिद्ध भगवान्‌की मूर्ति रहे। यह तो देव मन्दिरकी व्यवस्था रही। इसके बाद साधु वर्गकी व्यवस्था रहना चाहिये। सर्वमतके साधुओंकी मूर्तियाँ तथा उनका इतिहास और अन्तमें साधु उपाध्याय आचार्यकी मूर्तियाँ एवं उनका इतिहास रहे। मन्दिरके साथमें एक वड़ा भारी पुस्तकालय हो जिसमें सर्व आगमोंका समूह हो। प्रत्येक मतवालोंको उसमें पढ़नेका सुभीता रहे। हर एक विभागमें निष्णात विद्वान् रहे जो कि अपने मतकी मार्मिक स्थिति सामने रख सके। यह ठीक है कि यह कार्य सामान्य मनुष्योंके द्वारा नहीं हो सकता पर असम्भव भी नहीं है। एक करोड़ तो मन्दिर और सरस्वती भवनमें लग जावेगा और एक करोड़के व्याजसे इसको व्यवस्था चल सकती है। इसके लिये सर्वोत्तम स्थान वनारस है। हमारी तों कल्पना है कि जैनियोंमें अव भी ऐसे व्यक्ति हैं कि जो अकेले ही इस महान् कार्यको कर सकते हैं। धर्मके विकासके लिये तो हमारे पूर्वज लोगोंने वड़े-वड़े राज्यादि त्याग दिये—जैसे माताके उदरसे जन्मे वैसे ही चले गये। ऐसे-ऐसे उपाख्यान आगमोंमें मिलते हैं कि राजाके विरक्त होनेपर सहस्रों विरक्त हो गये। जिनके भोजनके लिये देवोंके द्वारा सामग्री भेजी जाती थी वे दिगम्बर

पदका आलम्बनकर भिक्षा-वृत्ति अङ्गीकार करते हैं। जिनके चलनेके लिये नाना प्रकारके वाहन सदा तैयार रहते थे वे युग प्रमाण भूमि-निरखते हुए नंगे पैर गमन करते हुए कर्म वन्धनको नष्ट करते हैं।

आगममें यहाँ तक लिखा है कि आदि प्रभुको ६ मास पर्यन्त अन्तरायके कारण चर्याकी विधि न मिली फिर भी उनके चित्तमें उद्वेग नहीं हुआ। ऐसे ही विशाल महानुभाव जगत्का कल्याण कर सकते हैं अतः जिनके पास वर्तमानमें पुष्कल द्रव्य है उन्हें धर्मके विकासमें व्ययकर एकवार प्रभावनाका स्वरूप संसारको दिखा देना चाहिये।

पर वास्तवमें वात यही है कि लिखनेवाले वहुत हैं और करने-वाले विरले हैं। जव कि लिखनेवालेको यह निश्चय हो गया कि इस प्रकार धर्मकी प्रभावना होती है तव स्वयं उसे उस रूप बन जाना चाहिये। पर देखा यह जाता है कि लेखक स्वयं वैसा बनने की चेष्टा नहीं करते। केवल मोहके विकल्पोंमें जो कुछ मनमें आया वह लेखबद्ध कर देते हैं या वक्ता बनकर मनुष्योंक वीच उसका उपदेश सुना देते हैं तथा लोगों द्वारा "धन्य हो, धन्य हो" यह कहलाकर अपनेको कृतकृत्य समझ लेते हैं। क्या इसे वास्तविक प्रभावना कहा जाय ? वास्तविक प्रभावना यही है कि आत्मामें सम्यग्दर्शनादि गुणोंका विकास किया जाय। इस प्रभावनाका प्रारम्भ सातिशय मिथ्यादृष्टिसे शुरू होता है और पूर्णता चतुर्दशगुणस्थानके चरम समयमें होती है।

(मेरी जीवन गाथा)

एक ऐसा मन्दिर नहीं देखा गया जो प्राणी मात्रको लाभका कारण होता। मूर्ति निरावरण स्थानमें होना चाहिये ज़िसका दर्शन प्रत्येक कर सके। खेदकी बात है जैसे इन लोगोंने बाह्य वस्तुको परिग्रह माना है अर्थात् जैसे मन्दिर आदिको अपना परिग्रह मानते

हैं वैसे मन्दिरमें स्थापित भगवान्‌के बिम्वको भी परिग्रह माननेमें संकोच नहीं करते। यह तो दूर रहो, धर्मको भी अपना परिग्रह मान रखा है। ऐसा न होना चाहिये। जैनधर्म कोई जाति विशेषका नहीं। यदि जाति विशेषका प्रभुत्व उसपर होता तव आम जनतामें उसका प्रचार व्याख्यानादि द्वारा करना उचित नहीं। धर्मका लक्षण व्यापक होना चाहिये जो वाधित न हो। जो परिणाम आत्माको संसार दुःखसे मुक्त करे और निज सुखमें स्थापित करे वही धर्म है। यह परिणाम जिसमें उदित हो जावे वही आत्मा मुक्त कहलाता है। यहाँपर जो विरोध परस्परमें है वह अभिप्रायकी विभिन्नताका है। अभिप्रायकी यथार्थ निर्मलता ही मोक्षमार्गका कारण हैं। हमको उचित तो यह है कि अपना मार्ग निर्मल करें। वह अभीष्ट स्थानपर हमें निरावाध पहुँचावेगा, उस मार्गपर चलनेका सभीको समान अधिकार है।

अपनी भूल

विचारकी वात है कि शूद्र अर्हंतादि पञ्चपरमेष्ठीका तो जाप्य कर सके, अन्तरंग धर्मका पात्र हो सके, अनन्त संसारके कारण मिथ्यात्वको ध्वंस कर सके किन्तु ईंट चूनेके मन्दिरमें न आसके! श्री चन्द्रप्रभ आदि तीर्थङ्करका स्मरण कर सके परन्तु उनकी जिसमें स्थापना है उस मूर्तिको न देख सके, यदि देखे तो वाहरसे देखे। वुद्धिमें नहीं आता, पांच पापको त्याग सके, अणुव्रती हो सके, अणुव्रतके उपदेष्टाओंके दर्शन न कर सके, वलिहारी इस वुद्धि की!

(वैशाख सुदी ११ सं० २००७)

धर्मकी उदारता

आत्माकी प्रवल प्रेरणा सदा यही रहती है कि "जो मनमें हो वही वचनोंसे कहो, यदि नहीं कह सकते तव तुमने अवतक धर्मका मर्म ही नहीं समझा।" माया, छल, कपट, वाक्-प्रपञ्च आदि वञ्चकताके इन्हीं रूपान्तरोंके त्यागपूर्वक जो वृत्ति होगी वही धार्मिकता भी कहलायगी। यही कारण है कि इस विषयमें कुछ लिखना आवश्यक प्रतीत हुआ।

हरिजन और उनका उद्धार—

अनन्तानन्त आत्माएँ हैं परन्तु लक्षण सबके नाना नहीं, एक ही हैं। भगवान् गृद्धपिच्छने जीवका लक्षण उपयोग कहा है। भेद अवस्थाकृत है, अवस्था परिवर्तनशीला है। एक दिन जो वालक थे अवस्था परिवर्तन होते-होते वृद्धावस्थाको प्राप्त होगये, यह तो शरीर परिवर्तन हुआ, आत्मामें भी परिवर्तन हुआ। एक दिन ऐसा था, जो दिनमें दस बार पानी पाँच वार भोजन करते भी सङ्कोच न करते थे वे आज एक बार ही भोजन और जल लेकर सन्तोष करते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि सामग्रीके अनुकूल प्रतिकूल मिलनेपर पदार्थोंमें तदनुसार परिणमन होते रहते हैं। आज जिनको हम नीच पतित या घृणित जातिके नामसे पुकारते हैं उनकी पूर्वावस्था (वर्ण व्यवस्था आरम्भ होनेके समय) को सोचिये और आजकी अवस्थासे तुलनात्मक अध्ययन कीजिए। उस अवस्थासे इस अवस्था तक पहुँचनेके कारणोंका यदि विश्लेषण किया जाय तो यही सिद्ध होगा कि बहुसंख्यक वर्गकी तुलनामें उन्हें उनके उत्थान-साधक अनुकूल कारण नहीं मिले, प्रतिकूल परिस्थितियोंने उन्हें बाध्य किया। फलतः ६० प्रतिशत हिन्दू जनताके २०-२५ प्रतिशत इस

जातिको विवश यह दुर्दिन देखनेका दुर्भाग्य प्राप्त हुआ। उनकी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक सभी समस्यायें जटिल होती गईं, उनकी दयनीय दशापर कुछ सुधारकोंको तरस आया, गांधीजीने उनके उद्धारकी सफल योजना सक्रिय की, क्योंकि उनकी समझमें यह अच्छी तरह आ चुका था कि यदि उनको सहारा न दिया गया तो कितना ही सुधार हो कितना ही धर्म-प्रचार हो राष्ट्रीयताका यह काला कलङ्क धुल न सकेगा, वे सदाके लिये हरिजन (जिनके लिए हरिका ही सहारा हो, और सब सहारोंके लिए असहाय हो) ही रह जावेंगे, यही कारण था कि हरिजनोंके उद्धारके लिए गांधीजीने अपनी सत्य साधुताका उपयोग किया, विश्वके साधु सन्तोंसे जोरदार शब्दोंमें आग्रह किया कि "धर्म किसीकी पैतृक सम्पत्ति नहीं" यह स्पष्ट करते हुए उन्होंने हरिजन उद्धारके लिए सब कुछ त्याग दिया, सब कुछ कार्य किया, दूसरोंको भी ऐसा करनेका उपदेश दिया। हमारे आगममें गृद्ध पक्षीको व्रती लिखा है, मृत्यु पाकर कल्पवासी देव होना भी लिखा है, यही नहीं श्री रामचन्द्रजीका मृत भ्रातृमोह दूर करनेमें उसका निमित्त होना भी लिखा है।

आधुनिक युगमें हरिजनोंका उद्धार एक स्थितीकरण कहा जा सकता है, धर्म भी हमारा पतित पावन है, यदि हरिजन पतित ही हैं तो हमारा विश्वास है कि जिस जैन धर्मके प्रबल प्रतापसे यमपाल चाण्डाल जैसे सद्गतिके पात्र हो गये हैं उससे इन हरिजनोंका उद्धार हो जाना कोई कठिन कार्य नहीं है।

ब्राह्मणादि कौन ?

आगममें लिखा है कि जो अस्पृश्य शूद्रसे स्पर्श हो जावे तब स्नान करना चाहिये। अस्पृश्य क्या अस्पृश्य जातिमें पैदा होनेसे ही हो जाता है ? तब तीन वर्णोंमें (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य) पैदा होनेसे

सभीको उत्तम हो जाना चाहिये। परन्तु देखा यह जाता है कि यदि उत्तम जातिवाला निन्द्य काम करता है तब चाण्डाल गिना जाता है, उससे लोग घृणा करते हैं। घृणाकी बात तो ठीक ही है, लोग उसे पंक्ति-भोजन और सामाजिक कार्यमें सम्मिलित नहीं करते। जो मनुष्य नीच जातिमें उत्पन्न होते हैं परन्तु यदि वह धर्मको अंगाकार कर लेता है तो उसे सम्मानकी दृष्टिसे देखा जाता है, उसे प्रमाणित व्यक्ति माना जाता है। यह तो यहांके मनुष्यकी बात है किन्तु जहाँ न कोई उपदेष्टा है और न मनुष्योंका सद्भाव है, ऐसे स्वयंभूरमण-द्वीप और समुद्रमें असंख्यात तिर्यञ्च मछली, मगर तथा अन्य स्थलचर जीव व्रती होकर स्वर्गके पात्र हो जाते हैं, तब कर्मभूमिके मनुष्य व्रती होकर यदि जैनधर्म पालें तब आप क्या रोक सकते हैं? आप हिन्दू न बनिये, यह कौन कहता है, परन्तु हिन्दू जो उच्च कुल वाले हैं वे यदि मुनि बन जावें तो आपको क्या आपत्ति है?

'हिन्दू' शब्दका अर्थ मेरी समझमें धर्मसे सम्बन्ध नहीं रखता। जैसे भारतका रहनेवाला भारतीय कहलाता है इसी तरह देश विदेशकी अपेक्षा यह नाम पड़ा प्रतीत होता है। जन्मसे मनुष्य एक सदृश उत्पन्न होते हैं किन्तु जिनको जैसा सम्बन्ध मिला उसी तरह उनका परिणमन हो जाता है। भगवान् आदिनाथके समय तीन वर्ण थे। भरतने ब्राह्मणवर्णकी स्थापना की, यह आदिपुराणसे विदित है, इससे सिद्ध है कि इन तीन वर्णमेंसे ही ब्राह्मण हुए। मूलमें तीन वर्ण कहांसे आये, विशेष ऊहापोहसे न तो आप ही अपनेको ब्राह्मणादि सिद्ध कर सकते हैं और न शूद्र कौन थे यह निर्णय भी आप दे सकते हैं।

शूद्रोंके प्रति कृतज्ञ बनिए

लोगोंका जो उपकार शूद्रोंसे होता है अन्यसे नहीं होता। यदि वे एक दिनको भी मार्ग, कूड़ाघर, शौच गृह आदि स्वच्छ करना

वन्द कर दें तव पता लग जावेगा। परन्तु उनके साथ आप जो व्यवहार करते हैं यदि उसका वर्णन किया जाय तो प्रवाद चल पड़े। वे तो आपका उपकार करते हैं परन्तु आप पंक्ति भोजन जव होता है तव अच्छा-अच्छा माल अपने उदरमें स्वाहा कर लेते हैं और उच्छिष्ट पानीसे सिंचित पत्तलोंको उनके हवाले कर देते हैं! जिसमें सहस्रों कीटाणुओंकी उत्पत्ति हो जाती है वह उच्छिष्ट भोजन जिसे हम करवावें वह क्यों न पतित हो जावेगा। अच्छे-अच्छे फल तो आप खागये और सड़े गले या आने काने पकड़ा देते हैं उन विचारोंको! इसपर भी कहते हो हम आर्ष पद्धतिकी रक्षा करते हैं, वलिहारी इस दयाकी, धर्मधुरन्धरताकी !!! मेरा तो दृढ़तम विश्वास है कि पशु जो हैं उन्हें भी दूषित भोजन न देना चाहिये।

शूद्र भी धर्म धारणकर व्रती हो सकता है

यह तो सभी मानते हैं कि धर्म किसीकी पैत्रिक सम्पत्ति नहीं। चतुर्गतिके जीव जो सम्यक्त्व उपार्जनकी योग्यता रखते हैं, भव्यादि विशेषण-सम्पन्न होना चाहिये। धर्म वस्तु स्वतः सिद्ध है, और प्रत्येक जीवमें है, विरोधी कारण पृथक् होनेपर उसका स्वयम् विकास होता है और उसका न कोई हरता है और न दाता ही है। तथापि इस पञ्चम कालमें उसका पूर्ण विकास नहीं होता चाहे गृहस्थ हो, चाहे मुनि हो। गृहस्थमें सभी मनुष्योंमें व्यवहार धर्मका उदय हो सकता है, यह नियम नहीं कि व्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही उसे धारण करें, शूद्र उससे वञ्चित रहें।

गिद्ध पक्षी मुनिके चरणोंमें लेट गया। उसके पूर्व भव मुनिने वर्णन किये, सीताने रामचन्द्रजीको उसकी रक्षाका भार सुपुर्द किया। जहाँ गिद्ध पक्षी व्रती हो जावे, वहाँ शूद्र शुद्ध नहीं हो सकते, वुद्धिमें नहीं आता। यदि शूद्र इन कार्योंको त्याग देवें और मद्यादि पीना छोड़ देवें तव वह व्रती हो सकता है। मंदिर आनेको

स्वीकृति देना न देना आपकी इच्छापर है। परन्तु इस धार्मिक कृत्यके लिए जैसे आप उनका वहिष्कार करते हैं वैसे ही कल्पना करो, यदि वे कार्मिक कृत्यके लिए आपका वहिष्कार कर दें, असहयोग कर दें तव आप क्या करेंगे ? सुनार गहना न वनावे, लुहार लोहेका काम न करे, वढ़ई हल न वनावे; लोधी कुरमी आदि खेती न करें, धोवी वस्त्र प्रक्षालन छोड़ देवे; चर्मकार मृत पशु न हटाये, वसौरिन सौरीका काम न करे, भंगिन शौचगृह शुद्ध न करे तव संसारमें हाहाकार मच जावेगा, हैजा, प्लेग, चेचक और क्षय जैसे भयंकर रोगोंका आक्रमण हो जावेगा। अत: वुद्धिसे काम लेना चाहिए। उनके साथ मानवताका व्यवहार करना चाहिए जिससे वह भी सुमार्गपर आ जावें। उनके वालक भी अध्ययन करें तव आपके वालकोंके सदृश वे भी वी. ए., एम. ए. वैरिस्टर हो सकते हैं, संस्कृत पढ़ें तव आचार्य हो सकते हैं। फिर जिस तरह आप पंच पाप त्यागकर व्रती वनते हैं यदि वे भी पंच पाप त्याग दें तव उन्हें व्रती होनेसे कौन रोक सकता है ? मुरारमें एक भंगी प्रतिदिन शास्त्र श्रवण करने आता था, संसारसे भयभीत भी होता था, मांसादिका त्यागी था, शास्त्र सुननेमें कभी भूल करना उसे सह्य न था।

धर्म सबका है

आप लोगोंने यह समझ रखा है कि हम जो व्यवस्था करें वही धर्म है। धर्मका सम्वन्ध आत्मद्रव्य से है, न कि शरीरसे। हां, यह अवश्य है जब तक आत्मा असंज्ञी रहता है, तव तक वह सम्यग्दर्शनका पात्र नहीं होता। संज्ञी होते ही धर्मका पात्र हो जाता है। आर्ष वाक्य है कि चारों गतिवाला संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव इस अनंत संसारके शामक सम्यग्दर्शनका पात्र हो सकता है। वहाँपर यह नहीं लिखा कि अस्पृश्य शूद्र या हिंसक सिंह या व्यन्तरादि या नरकके नारकी इसके पात्र नहीं होते। जनताको भ्रममें डालकर हरएकको

बावला और अपनेको बुद्धिमान् कह देना बुद्धिमानी नहीं। आप जानते हैं कि संसारमें जितने प्राणी हैं सभी सुख चाहते हैं और सुखका कारण धर्म है, उसका अन्तरङ्ग साधन तो निजमें है, फिर भी उसके विकासके लिए बाह्य साधनोंकी आवश्यकता है।

जैसे घटोत्पत्ति मृत्तिका से ही होती है, फिर भी कुम्भारादि बाह्य साधनोंकी आवश्यकता अपेक्षित है, एवं अन्तरङ्ग साधन तो आत्मामें ही है फिर भी बाह्य साधनोंकी अपेक्षा रखता है। बाह्य साधन देव गुरु शास्त्र हैं। आप लोगोंने यहाँ तक प्रतिबन्ध लगा रक्खे हैं, कि अस्पृश्य शूद्रोंको मन्दिर आनेका भी अधिकार नहीं है। उनके आनेसे मन्दिरमें अनेक प्रकार विघ्न होनेकी सम्भावना है! यदि शान्त भावसे विचार करो तब पता लगेगा कि उनके मन्दिर आनेसे किसी प्रकार की हानि नहीं अपितु लाभ ही होगा। प्रथम तो जो हिंसा आदि महापाप संसारमें होते हैं यदि वे अस्पृश्य शूद्र जैन धर्मको अङ्गीकार करेंगे तब वह पाप अनायास ही कम हो जायेंगे। आपके वशमें ऐसा भले ही न हो परन्तु यदि दैवात् हो जाये तब आप क्या करेंगे? चाण्डालको भी राजाका पुत्र चमर ढुलाते देखा गया ऐसी जो कथा प्रसिद्ध है। क्या वह असत्य है, अथवा कथा छोड़ो, श्रीसमन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम्॥

आत्मामें अचिन्त्य शक्ति है। जैसे आत्मा अनन्त संसारके कारण मिथ्यात्व करनेमें समर्थ है उसी तरह अनन्त संसारके बन्धन काटनेमें भी समर्थ है।

मेरा हृदय यह साक्षी देता है कि मनुष्य पर्यायवाला जो भी चाहे वह कोई भी जाति हो कल्याण मार्गका पथिक हो सकता है।

शूद्र भी सदाचारका पात्र है, हाँ यह अन्य बात है कि आप लोगों द्वारा जो मन्दिर निर्माण किये गये हैं, उनमें उन्हें मत आने दो और शासक वर्ग भी आपके अनुकूल ऐसा कानून बनादे परन्तु जो सिद्ध-क्षेत्र हैं, कोई अधिकार आपको नहीं जो उन्हें वहाँ जानेसे आप रोक सकें। मन्दिरके शास्त्र भले ही आप अपने समझकर उन्हें न पढ़ने दें परन्तु सार्वजनिक शास्त्रागार, पुस्तकालय, वाचनालयोंमें तो आप उन्हें शास्त्र, पुस्तक, समाचारपत्रादि पढ़नेसे मना नहीं कर सकते। यदि वह पंच पाप छोड़ देवें और रागादि रहित आत्मा को पूज्य मानें, भगवान् अरहन्तका स्मरण करें तब क्या आप उन्हें ऐसा करनेसे रोक सकते हैं ?

मेरे हृदयमें दृढ़ विश्वास है कि अस्पृश्य शूद्र सम्यग्दर्शन और व्रतोंका पात्र है। यदि अस्पृश्यका सम्बन्ध शरीरसे है तब रहे, इसमें आत्माकी क्या हानि है ? और यदि अस्पृश्यका सम्बन्ध आत्मासे है तब जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया वह अस्पृश्य कहाँ रहा ? मेरा तो यह विश्वास है कि गुणस्थानोंकी परिपाटीमें जो मिथ्या गुणस्थानवर्ती है वह पापी है। तब चाहे वह उत्तम वर्णका क्यों न हो यदि मिथ्यादृष्टि है तब परमार्थसे पापी ही है। यदि सम्यक्त्वी है तब उत्तम आत्मा है।

यह विषय शूद्रादि चारों वर्णोंपर लागू है। परन्तु व्यवहारमें मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शनका निर्णय बाह्य आचरणोंसे है, अतः जिसके आचरण शुभ हैं वही उत्तम कहलाते हैं, जिनके आचरण मलिन हैं वे जघन्य हैं। तब एक उत्तम कुलवाला यदि अभक्ष्य भक्षण करता है, वेश्यागमनादि पाप करता है, उसे भी पापी जीव मानो। और उसे मन्दिर मत जाने दो, क्योंकि शुभाचरणसे पतित अस्पृश्य और असदाचारी है। शूद्र यदि सदाचारी है तब वह आपके मतसे भगवान्के दर्शनका अधिकारी भले ही न हो परन्तु पञ्चम गुणस्थान-

वाला अवश्य है। पाप त्याग ही की महिमा है। केवल उत्तम कुलमें जन्म लेनेसे ही व्यक्ति उत्तम हो जाता है ऐसा कहना दुराग्रह ही है। उत्तम कुलकी महिमा सदाचारसे ही है कदाचारसे नहीं। नीच कुल भी मलिनाचारसे कलङ्कित है। वे मांस खाते हैं, मृत पशुओंको ले जाते हैं, आपके शौचगृह साफ करते हैं, इसीसे आप उन्हें अस्पृश्य कहते हैं।

सच पूछा जाये तो आपको स्वयं स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्हें अस्पृश्य बनानेवाले आप ही हैं। इन कार्योंसे यदि वह परे हो जावें तो क्या आप उन्हें तब भी अस्पृश्य मानते जावेंगे? बुद्धिमें नहीं आता कि आज भङ्गी यदि ईसाई हो जाता है और वह पढ़ लिखकर डाक्टर हो जाता है तब आप उसकी दवा गटगट पीते हैं या नहीं? फिर क्यों उससे स्पर्श कराते हैं? आपसे तात्पर्य बहुभाग जनतासे है। आज जो व्यक्ति पाप कर्ममें रत हैं वे यदि किसी आचार्य महाराजके सांनिध्यको पाकर पापोंका त्यागकर देवें तब क्या वे धर्मात्मा नहीं हो सकते? प्रथमानुयोगमें ऐसे बहुत दृष्टान्त हैं। व्याघ्रने सुकोशल स्वामीके उदरको विदीर्ण किया और वही श्री कीर्तिधर मुनिके उपदेशसे विरक्त हो समाधि मरणकर स्वर्गलक्ष्मीकी भोक्ता हुई। अतः किसीको भी धर्म सेवनसे वञ्चित रखनेके उपाय रचकर पापके भागी मत बनो।

जैन दर्शनकी महिमा तो वही आत्मा जानता है जो अपनी आत्माको कषाय भावोंसे रक्षित रखता है। यदि कषायवृत्ति न गई तब वह मुनि, आचार्य कुछ भी बननेका प्रयत्न करे सब एक नाटकीय स्वांग धारण करना ही है। वे दूसरोंका तो दूर रहे अपना भी उद्धार करनेके लिए पत्थरकी नौका सदृश हैं।

अस्पृश्यता—

शूद्रोंमें भी कई मनुष्य उत्तम प्रकृतिके होते हैं परन्तु अधिकांशका चारित्र घृणित होनेसे उन्हें अस्पृश्योंकी श्रेणीमें गिना दिया

जाता है। परमार्थ दृष्टिसे विचार किया जावे तब पाप करनेसे आत्मा पापी और अस्पृश्य कहलाता है। जाति या कुलमें उत्पन्न होने मात्रसे आत्मा पापी और अस्पृश्य नहीं होता। यद्यपि शास्त्रोंमें दो गोत्र माने हैं और उनका इस तरहसे विभाग किया है कि जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य कुलमें उत्पन्न हो उसे उच्च गोत्री कहते हैं और इनसे अतिरिक्त शूद्रोंमें जन्म ले उसे नीच गोत्री कहते हैं पर इसका यह अर्थ नहीं कि उच्च कहलानेवाले कुलमें जन्म लेनेवालेका आचरण उच्च ही होता है और शूद्र कुल वालोंका पतित ही होता है, क्योंकि इसमें विरोध देखा जाता है। उत्तम कुलवाले ऐसे-ऐसे पाप करते हैं जो श्रवण सुननेको असमर्थ हैं।

जिनको हम नीच मानते हैं उनमें यदि कोई विशेष अवगुण है तो वह मदिरापान करना है। यदि आज मदिरापान छोड़ देवें तब वह कुल अनायास उत्तम गणनामें आ सकता है। भारत सरकारको इस ओर प्रयत्न करना चाहिये। मद्यपान निषेध होते ही हरिजनोंका कोटि-कोटि रुपया बच जावेगा। उनका वह रुपया स्वच्छतामें लगाया जावे। उनके बालकोंको यथायोग्य शिक्षा दी जावे, तो अल्पकालमें ही लोग उन्हें अपनाने लगेंगे। संसारमें ऊपरी सफाईकी बहुत मान्यता है।

हरिजनोंको हम लोगोंने केवल सफाईके लिए अछूत बना रखा है। इतनी दया नहीं जो कभी उन्हें मानव धर्मका उपदेश देते। यदि वह कभी मार्गमें सफाई करते मिलते हैं तब हमारा शब्द निकलता है—"दूर हटो ! हम आते हैं !!" यह नहीं समझते कि हमारी स्वच्छताके लिए ही तो इन्हें यह करना पड़ता है। यदि कभी उनपर दयाका भाव हुआ तब उन्हें जीर्ण शीर्ण वस्त्र देकर अपने कृतकृत्य होनेका दावा करते हैं।

हरिजनके विषयमें जो धारणा है वह उस रूपसे है जैसी परम्परासे चली आई है। यद्यपि उनके संस्कार इतने मलिन हो चुके

हैं जो शताब्दियोंमें बदलेंगे किन्तु जब कोई सुमार्गपर लानेकी चेष्टा करेगा तब तो सुधरेंगे। चाण्डालका पुत्र चाण्डाल ही हो यह हमारी श्रद्धा नहीं है। यदि कोई प्रयास करे तब उसके संस्कार उत्तम हो सकते हैं।

हम लोगोंने पशुओंतकसे तो प्रेम किया, कुत्ते अपनाये, बिल्ली अपनायी। किन्तु इन मनुष्योंसे इतनी घृणा की जिसका वर्णन करना हृदयमें अन्तर्व्यथा उत्पन्न करता है। अतः यदि भङ्गियोंको सुधारना चाहते हो तो उन्हें अपनाओ।

प्रथम तो भारत सरकारका कर्तव्य है कि मदिरापानका निषेध करे। इसका प्रचार शूद्रोंमें ही नहीं उच्चवर्गमें भी हो गया है। एकदम उसका निराकरण करे। मद्य यह उपलक्षण है। भाँग, गाँजा, चरस, अफीम, चण्डू जितने मादक द्रव्य हैं सभीका निषेध करे। परन्तु सरकार रुपयेकी आय देखती है। "यदि इन मादक द्रव्योंको बेचना छुड़वा देवे तब करोड़ोंकी आय न होगी" यह जितना विचारणीय है उससे कहीं अधिक उनके जागृत जीवनका उद्धार कैसे हो यह अधिक विचारणीय है।

उत्पत्तिके समय मनुष्य नग्न ही होता है, और मरणके समय भी नग्न रहता है। जब मनुष्य पैदा होता है, जिस देशमें पैदा होता है उसी देशकी भाषाको जानता है। तथा जिसके यहाँ जन्म लेता है उन लोगोंका जो आचरणादि होता है वही उस बालकका हो जाता है। जन्मान्तरसे न तो भाषा लाता है और न आचारादि क्रियाओंको लाता है। जिस कालमें जो जन्म लेता है उसीके अनुकूल उसका आचरण हो जाता है। अतः "सर्वथा जन्मान्तर संस्कार ही वर्तमान आचरणका कारण है" यह नियम नहीं, वर्तमानमें भी कारण कूटके मिलनेसे जीवोंके संस्कार उत्तम हो जाते हैं। अन्यकी कथा छोड़ो, मनुष्योंके सहवाससे पशुओंके भी नाना

प्रकारकी चेष्टाएँ देखनेमें आती हैं। और उन बालकोंमें जो ऐसे कुलोंमें उत्पन्न हुए जहाँ किसी प्रकारके ज्ञानादिके साधन न थे वे ही उत्तम मनुष्योंके समागममें उत्तम विद्वान् और सदाचारी देखे गये। इसलिये अस्पृश्य सदा अस्पृश्य ही बने रहेंगे ऐसी श्रद्धा करना उचित नहीं है।

क्या अस्पृश्यका अर्थ यह है कि उनके स्पर्शसे हमें स्नान करना पड़ता है? या वे मद्यादि पान करते हैं इससे अस्पृश्य हैं या वे हम लोगोंके द्वारा की गई गन्दगी स्वच्छ करते हैं इससे अस्पृश्य हैं, या शरीरसे मलिन रहते हैं इससे अस्पृश्य हैं, या परम्परासे हम उन्हें अस्पृश्य मान रहे हैं इससे अस्पृश्य हैं? यदि मद्य मांस सेवनसे अस्पृश्य हैं तब जो लोकमें उत्तम कुलके हैं और मांस सेवन करते हैं वे अस्पृश्य होना चाहिये, यदि गन्दगीके साफ करनेसे अस्पृश्य हैं तब प्रत्येक मनुष्य गन्दगी साफ करता है। वह भी अस्पृश्य हो जावेगा। शरीर मलिनता भी अस्पृश्यताका कारण नहीं है। बहुतसे उत्तम कुलवाले शरीर मलिनतासे अस्पृश्य हो जावेंगे। तब यह हो सकता है कि जो उनमें मलिनाचारकी बहुलता है वह अस्पृश्यताका साधक है। यह बहुत उत्तमकुलमें भी पाई जाती है। इससे सिद्ध होता है कि जो यहां पर पापाचार मय प्रवृत्ति है वही अस्पृश्यताका कारण कल्याणके मार्गसे दूर रखनेवाली है।

मेरा विश्वास

मेरा यह दृढ़तम विश्वास है कि मनुष्य जातिमें जन्मे जीवको यदि कालादि लब्धि कारण कूट मिल जावें तब वह सम्यग्दृष्टि हो सकता है और अप्रत्याख्यानका क्षयोपशम हो जावे तब देशव्रती भी हो सकता है। मेरी तो यहाँ तक श्रद्धा है कि चाण्डाल कुलमें जन्मा भी जीव योग्य सामग्रीके मिलनेपर उसी पर्यायसे व्रती हो सकता है। मन्दिर आने दो, नआने दो यह और बात

है। यदि यह श्रद्धा होनेके कारण लोग हमारी निन्दा करते हैं तो करें। हमें उसका कोई भय नहीं। हम उसे आगमानुकूल मानते हैं। तथा शूद्र कुलवाला वज्रवृषभनाराच संहननका धारी हो सकता है, क्षयोपशम सम्यक्त्वी भी हो सकता है, उसे यदि श्रुतकेवली या केवलीके पादमूलका सम्बन्ध मिले तब क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी हो सकता है।

मेरे विचारसे चाण्डालके भी इतने निर्मल परिणाम हो सकते हैं कि वह अनन्त संसारका कारण मिथ्यात्वका अभाव कर सकता है। जो आत्मा सबसे बड़े पापको नाश कर सकता है फिर भी चाण्डाल बना रहे? यह समझमें नहीं आता। चाण्डालका सम्बन्ध यदि शरीरसे है तब तो हमें कोई विवाद नहीं। जिसे विवाद हो, रहे। परन्तु आत्माको जब सम्यग्दर्शन हो जाता है तब वह पुण्य जीवोंकी गणनामें आ जाता है। आगममें मिथ्यादृष्टि जीवोंको पापी जीव कहा है चाहे वह कोई वर्णका हो। परन्तु हम लोग इतने स्वार्थी हो गये कि विरले तो यहाँतक कह देते हैं कि यदि इन लोगोंका सुधार हो जावेगा तो हमारा कार्य कौन करेगा? लोकमें अव्यवस्था हो जावेगी अतः इनको उच्चधर्मका उपदेश ही नहीं देना चाहिये। इतना स्वार्थ जगत्में फैल गया है कि जिनके द्वारा हमारा सब व्यवहार बन रहा है उसीसे हम घृणा करते हैं।

किन्तु संसारमें ऐसा कौन होगा जो आत्मीय हितकी अवहेलना करे? आप जानते हैं धर्म कोई पौद्गलिक पर्याय नहीं और न पुद्गलका गुण है, और न पुद्गल ही है। धर्म वह आत्माकी पर्याय है जो मोह और क्षोभसे रहित हो। वही कहा है—

"चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो समो त्ति णिदिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥"

निश्चयकर चारित्र ही धर्म है, और आत्माका जो सम परिणाम है वही धर्म है। दर्शन मोहके उदयसे आत्मामें जो परिणाम है और चारित्र मोहके उदयसे जो क्षोभ परिणाम होता है इन दोनों परिणामोंसे रहित आत्माका जो निर्मल परिणाम होता है उसीका नाम साम्यभाव है। वही परिणाम धर्म है, और उसीका नाम चारित्र है। यही मोक्षमार्ग है।

हरिजनों का कर्तव्य

१. आज हमारे हरिजन धर्म काम करते हुए भी मद्यपान आदि अवगुणोंको छोड़ देवें और जो रुपया बचे उसका स्वयं मन्दिर बनवा लेवें, उसमें प्रतिदिन धर्म कथा करें, सिनेमा जाना छोड़ देवें।

२. अपने मकानको स्वच्छ रखें, झाड़नेकी झाडू टोकनी मकानसे पृथक् रखें, बल्कि म्युनिसपिलसे प्रार्थना कर एक पृथक् गृह इन सफाईके साधनों (झाडू टोकनी आदि) को रखनेके लिये रहे।

३. बाजारकी सड़ी गली वस्तुएँ खाना छोड़ देवें।

४. जब कुएँपर पानी भरने जावें तब स्वच्छ वर्तन लेकर जावें।

५. निरन्तर अपनी सन्तानको स्वच्छ रखें।

६. जो कोई कुछ देवें स्वच्छ हो तभी लें, यदि गन्दा हो तो शीघ्र ही लेनेसे इन्कार कर दें। यह कहें। हम भी मानव हैं, आपको लज्जित होना चाहिये ऐसा निन्द्य व्यवहार करते हो। उचित तो यह है कि उतना ही भोजन परसाओ जितना खा सको। तृष्णा पापकी जड़ है, उसे छोड़ो। बहुत दिन आपका आचरण शिष्ट

समुदायके विरुद्ध रहा। इसीसे आजतक विदेशी शासकोंके दास रहे। अब स्वराज्य पाकर भी यदि इन निन्द्य कृत्योंसे अपनी रक्षा न कर सके तब वही दशा होगी।"

(सन् १९४९,५१ की दैनन्दिनी, रजिस्टर और स्मृति पुस्तिकासे)



परोपकार

क्षेत्रकी विषमता—

हमारा जिस क्षेत्रमें जन्म हुआ, वह कर्मभूमिसे प्रसिद्ध है। यहाँपर मनुष्य समाज एक सदृश नहीं है। कोई वैभवशाली है कोईके तनपर वस्त्र भी नहीं है। कोई आमोद-प्रमोदमें अपना समय यापन कर रहा है, तब कोई हाहाकारके शब्दों द्वारा आक्रन्दन कर रहा है। कोई अपने स्त्री-पुत्र-भ्राता आदिके साथ तीर्थ यात्रा कर पुण्यका पात्र हो रहा है, तब कोई उसी समय अपने अनुकूल प्राणियोंको देख वेश्यादि-व्यसन सेवनकर पापपुञ्जका उपार्जन कर रहा है। कहनेका तात्पर्य यह है कि कर्मभूमिमें अनेक प्रकारकी विषमता देखी जाती हैं। यही विषमता "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" इस सूत्रकी यथार्थता दिखा रही है।

साधुजनोंके क्षेत्रमें—

जो संसारसे विरक्त हो गए हैं और जिन्होंने अपनी क्रोधादि विभाव परिणतियोंपर विजय प्राप्त कर ली है उनका यही उपकार है; जो प्रजाको सुमार्गपर लगावें। हम लोगोंको उनके निर्दिष्ट मार्ग-पर चलकर, उनकी इच्छाकी पूर्ति करनी चाहिए। तथा उनकी वैयावृत्य करना उचित है। तथा वह आहारको जावें, तब उन्हें यथागम रीतिसे आहार दान देकर, उन्हें निराकुल करनेका यत्न करना चाहिए।

विद्वज्जनोंके क्षेत्रमें—

जो विद्वान् हैं, उन्हें उचित है कि ज्ञानके द्वारा संसारका अज्ञान दूर करें। और हम अज्ञानी जनोंको उचित है जो उनके परिवारादि-के पोषणके लिये भरपूर द्रव्य देवें।

द्रव्यका उपयोग—

हमारे यदि धनकी विपुलता है तब उसे यथोचित कार्योंमें प्रदानकर जगत्का उपकार करना चाहिए। जगत्का यह काम है, जो हमारे प्रति सहानुभूति रक्खे। यदि संचित धनका उपयोग न किया जावेगा, तब या तो उसे दायादगण अपनावेगा—या राष्ट्र ले लेगा।

शरणार्थी सहायता—

जब ऐसी संसारकी व्यवस्था है, तब वर्तमानमें, जब बंगाल और पंजाबमें लाखों मनुष्य गृहविहीन हो रहे हैं, तब जिनके पास पुष्कल द्रव्य है, वे उसे उनकी रक्षामें लगा देवें। तथा जिनके पास पुष्कल भूमि है, उसमें गृहविहीन मनुष्योंको वसावें तथा कृषि करनेको देवें। जिनके पास मर्यादासे अधिक वस्त्रादि हैं, उन्हें उन लोगोंमें, अपने योग्य रखकर वितरण कर देवें। तथा जो भोजन मर्यादासे अधिक खाया जाता है, उसे परिमित कर शरणार्थियोंकी रक्षामें लगाया जावे। यदि इस पद्धतिको अपनाया जावेगा तब जनता कम्युनिस्ट न होगी। अन्यथा वह समय अल्प समयमें आनेवाला है, जब भारतवर्ष अपनी पुरानी धार्मिक परम्परासे बहुत दूर चला जायगा। अतः उसके पहले अपनी परिणतिको सुधारो और यथेष्ट दान देकर परलोककी रक्षा करो।

इस समय भारतवर्षमें अनेक आपत्तियाँ आ रही हैं। जिधर देखो उधरसे रुपयोंकी आवश्यकता है। मेरी तो यह सम्मति है, कि प्रत्येक कुटुम्ब, उसके यहाँ जो दैनिक व्यय भोजन-वस्त्रादिमें होता हो उसमेंसे १) रु० में एक पैसा इस परोपकारमें प्रदान करे, तव अनायास यह समस्या हल हो सकती है। अन्यकी बात मैं नहीं कहता, यदि हमारे जैनी भाई प्रत्येक मनुष्यके पीछे ½ आधा पैसा

निकालें तब अनायास ही ७,००,००० सात लाख पैसे आ सकते हैं। इस तरह कुल—

एक दिनमें—१०९३७॥)

एक माहमें—३,२८,१२५)

एक वर्षमें—३९,३७,५००)

इतना रुपया आसानीसे परोपकारमें लग सकता है।

(इटावा, अक्षय तृतीया, सं० २००७)

स्त्रियोंकी समस्याएँ

दुःखकी बात यह है कि स्त्रियोंकी समस्याएँ दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं, और जब समस्याएँ बढ़ती हैं तब स्वभावसे उलझती भी जा रही हैं ! ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं जिसमें समस्या न हो !

बाल जीवनकी समस्याएँ

कन्याका जन्म सुनते ही लोग अप्रसन्नता व्यक्त करते हैं—"हाय ! हम सोचते थे लड़का होगा, पर लड़की हुई ! भाग्यमें जो होता है, वही मिलता है" आदि ऐसे वचन कुलके लोग कहते हैं जिनसे अपमान प्रतीत होता है। ऐसी प्रथा ही चल पड़ी है कि जो उत्सव लड़केके जन्ममें मनाया जाता है वह लड़कीके जन्ममें नहीं मनाया जाता ! एक दिन तो ऐसा भी रहा है कि कन्याके साथ इतना पक्षपात किया गया कि उसका होते ही मर जाना अच्छा समझा गया ! अस्तु, उसे प्रेम किया भी जाता है तो वैसा नहीं, जैसा लड़केसे किया जाता है ? लालन-पालन यहाँ तक कि शिक्षाके विषयमें भी उसे वह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता जो लड़केको होता है।

युवा जीवनकी समस्याएँ

कन्या जैसे बड़ी हुई, विवाहकी समस्या सामने आती है। कन्यावालेपर डाका पड़ता है। इसका विवरण सुनो तो धिक् शब्दोंका प्रयोग होने लगेगा। लड़का कहता है लड़की दिखा दो। दैवयोगसे रूपमें उत्तीर्ण हो गई तब पूछता है ग्रेजुएट है ? दैव-योगसे उसमें भी उत्तीर्ण हो गई तब प्रश्न आता है कि गाना बजाना जानती है ? नृत्य जानती है ? इत्यादि विषयोंमें उत्तीर्ण

होना तो लड़कीकी परीक्षा हुई। अब पिताकी परीक्षाका समय आया। फिर क्या प्रश्न होता है--कहिये कितना दोगे? सौदा तो तभी पटेगा, एक मोटर, एक रेडियो, २०,०००) बीस हजार रुपये नगद। यदि इसमें अनुत्तीर्ण हुआ सौदा नहीं पटा! सौदा पटा और अगर उसमें कुछ कमी रह गई तो ससुरालमें जन्मभर कटु शब्दोंका प्रयोग उसके प्रति होता है, अपमान होता है।

पति यदि विवेकशील न हुआ तब आहार विहारमें यहाँतक कि सन्ततिके संरक्षणमें भी अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं।

मनुष्य प्रायः गर्भमें बालक रहनेपर स्त्री संभोग करते हैं। उस समय गर्भस्थ बालकके कष्टको कौन देखनेवाला है? जैसे-तैसे नव मास पूर्णकर गर्भसे निष्कासन हुआ, तब बालकके उत्पन्न होनेसे यथाशक्ति अपव्यय किया। जैसे-तैसे देवी-देवता पूजते इकतालीस दिनके हुए तब माँके धार्मिक कार्योंके करनेका समय आया। यह तो बात छोड़िए, अब मुख्य बातपर आइए। हमको क्षुधाने सताया हमारे पास अन्य साधन तो कुछ है ही नहीं। "बालानां रोदनं बलम्"। क्षुधाके अर्थ रोने लगे, माँ ने थोड़ी सी अफीम, अपने स्तनसे दुग्ध निकालकर पिला दी। चाहिए था दुग्ध, मिला विष। नशेमें मग्न हो गए, माँ ने समझा सो गया। जब दो या तीन घण्टेमें होश हुआ फिर रोने लगे तब मनमें माँ के आया, अरे! बालक भूखा है, दुग्ध पिला दो। यह दशा भोजनकी है, इसीसे सोने आदि-का विचार कर लो।--

किसी दिन यदि क्षुधादिके वैषम्यसे कुछ शरीरमें विकृति हुई तब फिर क्या गोदीमें लेकर भंगिनके घर पहुँची। आज बेटाको कुदृष्टि लग गई, इसे झाड़से झाड़ दो। उसने अट्ट-पट्ट कर झाड़ दिया। अथवा यह नहीं किया तब जहाँ मुसलमान नमाज पढ़ते हैं, वह नमाज पढ़कर जब अपने गृहको जाते हैं, अनेक स्त्रियाँ गोदमें

बच्चे लिए खड़ी रहती हैं। उनके बालकोंके मुखपर श्वाँसकी सभी फूँक लगाते हैं, उस समय मुखके कफांश भी बालकके मुखकमल पर पड़ते हैं। अथवा यदि बालक हुआ तब स्त्रीके नेत्रोंमें इंगित भावको प्रवेश कराके जो जो दुर्दशा उस स्त्री की होती है, वह जानती है। जो भारत अपने पवित्र भावोंके द्वारा जगत्में श्रेष्ठ था, आज जो उसकी अवनत दशा हो रही है सो उसका वर्णन करना हृदयको धक्का देना है।

बाल्यावस्थामें बालककी शिक्षा माताके ऊपर निर्भर है, माँ अपनी वेष-भूषासे ही अवकाश नहीं पाती। यह भी बोध नहीं, बालकोंके समक्ष पुरुषसे हास्यादि नहीं करना चाहिए, परन्तु क्या लिखें? बालक माता-पिताओंसे प्रायः विषय सेवनकी प्रणाली सीख जाते हैं। जहाँपर बाल्यावस्थामें ऐसे कुत्सित संस्कारोंकी शिक्षा मिल जाती है, वहाँ उत्तर कालमें कहाँतक सुमार्गकी शिक्षा मिलेगी? इसीसे अनुमान कर लो।

जब पाँच वर्षका हुआ स्कूल जाने लगा फिर गधाका 'ग' घोड़ाका 'घ' बिल्लीका 'ब' कुत्ताका 'क' आदि एक वर्षतक पढ़नेमें आया। परमात्माके स्मरणकी कथा छोड़ो। किसी तरहसे चार क्लास पास हुए, अंग्रेजी पढ़नेमें लग गए। अब रहने-सहनेका भी परिवर्तन हो गया! जिस तिस प्रकारसे एन्ट्रेंस पास किया, पश्चात् कालेजका शरण लिया। यहाँ पर रंगको छोड़कर अंग्रेज बन गए। जो लोग आंग्ल भाषाको नहीं जाननेवाले हैं, उन्हें डेमफूल कहनेमें सङ्कोच छूट गया। किसी प्रकार बी० ए०, एम० ए०, एल० एल० ब० डिग्रियाँ प्राप्त कर लीं।

विवाहकी बात होने लगी, लड़की बी० ए० पास है, रंग गोरा है, गाना बजाना जानती है। १००००) २००००) रुपये दोगे, पहले लड़की देख लेवेंगे। विशेष क्या लिखें, जैसे-तैसे विवाह सम्पन्न हो

गया। अब दम्पति हो गए, पिताजी कहते हैं, अपने यहाँ कौलिक रीतिसे व्यापार चला आ रहा है, उससे आजीविका करो, नहीं पढ़नेका फल यह नहीं। गवर्नमेंट सर्विस करेंगे, किसी भाग्योदयसे उत्तम सर्विस मिल गई तब तो महाशय और गृहिणीका बमुश्किल निर्वाह होने लगा। यदि उत्तम सर्विस न मिली तब जो दशा होती है, वह सर्वसाधारणको विदित है। इस तरह सारी समस्याएँ उसके सामने आती हैं। अपने पतिकी पत्नी, पुत्रकी माता और बहूकी सास—इन तीनोंकी समस्याओंका भार लेकर उसे दुर्गम जीवन पथपर चलना होता है! वह भी उस वुढ़ापेकी अवस्थातक जिसमें समस्याओंका अन्त नहीं होता। अस्तु!

भोजनकी समस्या—

जिस भोजनकी आवश्यकता शरीर स्थितिके लिये आवश्यक है वह भी उलझी हुई है। स्त्रियोंका भोजन तब होता है जब पुरुष कर चुकते हैं। उनके वाद जब भोजन ठंडा हो जाता है तब स्त्रियाँ करती हैं। एक तो उनसे खाया ही नहीं जाता, यद्वा-तद्वा खा भी लिया तो वह सुपक्व नहीं होता।

रहन-सहन और धार्मिक समस्याएँ—

सर्वसे अधिक कष्ट स्त्रियोंको गर्मीका होता है, क्योंकि मनुष्य तो कटिभागसे ऊपरी भागको निरावरण रखते हैं। स्त्रियाँ तो हाथकी अँगुलीको भी निरावरण करनेमें आत्मीय अपमान समझती हैं। मुखको निरावरण करनेमें संकोच करती हैं। पुरुषोंने भी ऐसे प्रतिबन्ध लगा रक्खे हैं। कहाँतक कहा जावे, मंदिरमें जब वे श्रीदेवाधिदेवका दर्शन करती हैं, वहाँपर पूर्णरूपसे दर्शनका लाभ नहीं ले सकतीं। यद्वा-तद्वा दर्शन करनेके अनन्तर यदि शास्त्र-

प्रवचनमें पहुँच गईं, वहाँ पर भी वक्ताके वचनोंका पूर्णरूपसे कर्णों-तक पहुँचना कठिन है। प्रथम तो कर्णोंपर वस्त्रका आवरण रहता है। तथा पुरुषोंसे दूरवर्ती उनका क्षेत्र रहता है। दैवयोगसे किसीके गोदमें बालक हुआ और उसने क्षुधातुर हो रुदन प्रारम्भ कर दिया, तब क्या कहें? सुनना तो एक ओर रहा, वक्ता प्रभृति मनुष्योंके वाग्-बाण प्रहार होने लगते हैं। "बालकवाली बाहर चली जावे, हमारे विघ्न मत करो"। इसे श्रवणकर शास्त्र श्रवणकी जो जिज्ञासा स्त्री-समाजमें थी, वह विलीन हो जाती है। अतः पुरुष वर्गको उचित है, जो जिससे जन्मा वह स्त्री ही तो है। उसके प्रति इतनी बलात्कारिता न करनी चाहिए। प्रत्युत सबसे उत्तम स्थान उन्हें शास्त्र-प्रवचनमें सुरक्षित रखना चाहिए।

महिला महत्त्व—

यदि स्त्री-वर्ग शिक्षित होकर सदाचारिणी हो जावें, तब आज भारत क्या जितना जगत् मनुष्योंके गम्य है, सभ्य हो सकता है। आज जो समस्या उत्तमसे उत्तम मस्तिष्क वाले नहीं हल कर सके, अनायास हल हो जावेगी। इस समय सबसे कठिन समस्या "जन-संख्याकी वृद्धि किस उपायसे रोकी जावे" यह है? अनायास शिक्षित स्त्री-वर्ग उसे भी कार्यमें परिणत कर सकता है। जिस कार्यके करनेमें राजसत्ता भी हार मानकर परास्त हो गई, उसे सदा-चारिणी स्त्री अपने पतिको यह उपदेश देकर उन्हें सुमार्गपर ला सकती है—"जब बालक गर्भमें आ जावे, तब आप और हमारा कर्तव्य है कि जबतक वह बालक उत्पन्न होकर पाँच वर्षका न हो जावे, तब तक विषय-वासनाको त्याग देवें।" ऐसा ही प्रत्येक स्त्री सभ्य व्यवहार करे, इस प्रकारकी प्रणालीसे सुतर वृद्धि रुक जावेगी! इसके होनेसे जो लाखों रुपये डाक्टर, वैद्य, दुकानदार, शिक्षित वर्ग, विदेशी खिलौने आदिमें जाते हैं, वह बच जावेंगे। तथा जो टी०

वी० के चिकित्सागृह हैं, वह सुतरां अनावश्यक हो जावेंगे। अन्नकी जो कमी है, वह भी न होगी। दुग्ध खूब मिलने लगेगा। मदिरामें द्रव्यका व्यय न होगा, गृहवासकी पुष्कलता हो जावेगी। इस विषय-का यदि पूर्णरूपसे वर्णन किया जावे तो एक महाभारत बन जावेगा। अतः आवश्यकता है—स्त्री-समाजको सभ्य बनानेकी। यदि वह समाज चाहे तब आज वड़े-बड़े मिलवालोंको चक्रमें डाल सकती है। उत्तमसे उत्तम धोती जिन मिलोंमें निकलती है, वह स्त्री-समाज पहनना बन्द कर देवे, तब मिलवालोंकी क्या दशा होगी? सो उन्हें पता लग जावेगा, करोड़ोंका माल यों ही बरबाद हो जावेगा। यह कथा छोड़ो, आज स्त्री-समाज कांचकी चूड़ी पहनना बन्द कर देवे और उसके स्थानपर चाँदी-सुवर्णकी चूड़ीका व्यवहार करने लगे तब चूड़ीवालोंकी क्या दशा होगी? रोनेको मजदूर न मिलेगा। आज स्त्री-समाज चटक-मटकके आभूषणोंको पहनना छोड़ देवे तब सहस्रों सुनारोंकी दशा कौन कह सकता है? इसी तरह पाउडर लगाना छोड़ देवे, तब विलायतकी पाउडर कम्पनियाँ समुद्रमें पाउडर फेंक देंगी। अतः स्त्री-समाजके शिक्षित सदाचारसे संसारके अनेक व्यापार बन्द हो सकते हैं। यही कारण है जो मनुष्य इन्हें सदाचारकी शिक्षा नहीं देते। दूसरे यदि इन्हें शिक्षा सदाचारकी दी जावे तो पञ्चम कालमें चतुर्थ कालका दृश्य आ सकता है। चतुर्थ कालमें यही तो था कि बहुल भावसे प्राणी सुमार्गमें प्रवृत्ति करता था। इसका यह अर्थ नहीं कि सामान्य मनुष्य पापमें लिप्त नहीं होते थे, पापकी प्रवृत्ति थी परन्तु सुमार्गका प्रचार होनेसे उनकी ओर जनताका लक्ष्य नहीं रहता था। यही कारण है कि स्त्रियोंमें अधिकांश प्रवृत्ति मोहरूप रहती है। अतः उनमें अनेक गुणशालिनी होनेपर भी बहुभाग समीचीन मार्गसे विमुख होनेके कारण उनकी गणना उत्तम जीवोंमें नहीं की जाती।

हमारा कर्तव्य—

अव शिक्षाका प्रचार अधिक हो गया है। स्त्रियाँ भी पुरुषों जैसी उच्च शिक्षा प्राप्त करनेमें आगे वढ़ रही हैं। समझदारी उनमें आ गई है। हमारा कर्तव्य है कि स्त्रियोंकी उलझी हुई समस्याओंके सुलझानेमें योग दें। जिससे वे अपने सदाचार और स्वाभिमानको सुरक्षित रखती हुई आदर्श वन सकें। सीता, मैना-सुन्दरी, कौशिल्या और त्रिशला स्त्रियाँ ही तो थीं, उनके आदर्शोंसे आज विश्वमें भारतका मस्तक उन्नत है। अपनी वहू-वेटियों, वहिनों और माताओंके सामने ऐसे ही आदर्श रखिए तव अपने घरको स्वर्ग देखनेकी कामना कीजिये।

(अषाढ़ वदी ७ सं० २००७)

विश्व-बन्धुत्व

विश्वके साथ बन्धुता स्थापित करना परम पुण्यका कार्य है। इसके लिये नितान्त पवित्र परिणामोंकी आवश्यकता है। पवित्र परिणाम रखनेका उपाय यह है कि स्पष्ट वचनका व्यवहार करो। जो मनमें हो उसे व्यवहारमें लाओ। यदि किसीके प्रति तुम्हारे हृदयमें असद्भाव उत्पन्न हुए हैं तब उन्हें रोकनेका प्रयत्न करो। यदि उनको नहीं रोक सकते तो उस प्राणीसे कह दो—"प्रिय-वन्धु! मुझे खेद है कि मेरे परिणाम आपसे महानुभावके प्रति अनिष्ट करनेके हुए। इनसे आपका कुछ भी अनिष्ट होनेका नहीं क्योंकि आपकी आत्मा विपरीत भावसे रहित है, आपको तो जितने नोकर्म हैं उनके प्रति रागद्वेष नहीं, क्योंकि अभिप्रायसे आप निर्मल हो गये हैं। आपकी अज्ञानता चेतना चली गई है अतः आप न तो कर्म-चेतनाके कर्ता हैं और न कर्मफलके भोक्ता ही हैं। हमारी अज्ञानता हमसे नाना कल्पनाएँ करा रही है, और उसीके आवेशमें आकर आप जैसे भद्रोंके प्रति हमारे द्वारा अभद्रता हो रही है। आप हमारे प्रति साम्यभाव ही रखते हैं। यह आपकी सौम्य परिणतिका प्रभाव है परन्तु इससे हमारा लाभ नहीं। कुछ परोपकारकी दृष्टि और धर्मानुरागसे या अनुकम्पासे हम जैसे अज्ञानियोंके प्रति कुछ ऐसा वस्तु स्वरूप प्रतिपादन करनेकी चेष्टा कीजिये जिससे हमारी आत्मामें भी निर्मलता आवे। आखिर हम भी तो आपके वन्धु हैं। कर्मकी वलवत्तासे इन अनात्मीय भावोंके जालमें आ गये। यदि आपसे प्रबलतम आत्माओंके समक्ष हमारी यह पराधीनता न छूटी तब आपसे महापुरुषोंके सम्पर्कसे क्या लाभ? अतः अब विलम्ब न कीजिये झटिति शुद्ध मार्गका उपदेशकर इस बन्धनसे मुक्त कीजिये।"

इतनी अभ्यर्थना सुननेके पश्चात् एक तो वह व्यक्ति नम्र हो जायगा, यदि उसके हृदयमें कषाय उत्पन्न भी हुई होगी तो वह निर्मूल हो जावेगी। साथ ही इतनी विनय करनेका प्रभाव तुमपर स्वयं पड़े विना न रहेगा, तुम्हारी आत्मा भी निष्कषाय हो जायेगी। जहाँ दोनोंके हृदय निष्कषाय और नम्र हो गये वहाँ वन्धु-स्नेह उमड़ पड़ेगा। तुम्हारे इस व्यवहारको देखकर न जाने कितने लोग इस पथपर चलकर आत्म-कल्याण कर लेंगे ?

(अषाढ़ वदी ९ सं० २००७ स्मृति पुस्तिकासे)

●

आत्महित

कर्त्ताकर्म अधिकारमें बताया है कि आत्मा अपने परिणामोंका कर्त्ता है और पुद्गल अपने परिणामोंका। आत्मा पुद्गलका कर्त्ता नहीं है और न पुद्गल आत्माका। सब द्रव्य अपने अपने स्वरूपके कर्त्ता तथा भोक्ता हैं। पुद्गल और आत्माका एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होते हुए भी पुद्गलका एक अंश आत्मामें नहीं आता और न आत्माका एक अंश पुद्गलमें जाता है। स्वर्ण और चाँदीका परस्पर सम्बन्ध है फिर भी स्वर्णका एक अंश न चाँदीमें गया और न चाँदीका एक अंश स्वर्णमें आया, दोनों अपने अपने स्वरूप-से हैं। आत्मा पुद्गलका कर्त्ता नहीं है। यदि आत्मा पुद्गल कर्मको करे और अपने परिणामोंको भी करे तो वह दो क्रियाओंसे अभिन्न ठहरे परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है। पुद्गल अपने स्वरूप द्वारा परिणमता है और आत्मा अपने भावों द्वारा परिणत होता है। आत्माके राग, द्वेष, मोहका निमित्त पा करके पुद्गल ज्ञानावरणादि रूप परिणमन कर जाता है और पुद्गल कर्मका विपाक होनेपर आत्मा राग, द्वेषादिक रूप परिणमन कर जाता है, यही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है।

यदि आत्माके परिणामोंका निमित्त पाकर पुद्गल कर्मपने रूप परिणत हो गया तो जो ज्ञानावरणादि क्रिया हुई वह किसमें हुई? पुद्गलमें ही हुई। जैसे समुद्रमें जो उत्तरङ्ग और निस्तरङ्ग अवस्था होती है, वह किसमें होती है? समुद्रमें ही होती है। समुद्रका ही जल उत्तरङ्ग और निस्तरङ्ग रूप होता है। क्योंकि ऐसा सिद्धान्त है—

"यः परिणमति स कर्त्ता, यः परिणामो भवेत्तत्कर्म।"

जो परिणमन करता है वह कर्त्ता होता है और जो उसका परिणाम हुआ वह उसका कर्म कहलाता है। आत्माके राग, द्वेष, मोहादिरूप परिणाम कर्म हुए और आत्मा उनका कर्त्ता हुआ। अब देखिए, कपड़ेसे जो कोई भी चीज बनेगी वह कपड़ेकी ही तो कहलाई जायगी। पटसे घट इत्यादिक तो नहीं बन सकता ? इसी तरह पुद्गल ही ज्ञानावरणादि रूप परिणमता है और आत्मा अपने भावों रूप परिणत होता है, उसके निमित्त नैमित्तिक भावोंको देखकर लोग कहते हैं कि आत्मा ही पुद्गल कर्मोंको करता है तथा भोगता है ऐसा अनादि अज्ञानसे व्यवहार होता है।

देखिये—कुलाल घटको बनाता है। अब हम आपसे पूछते हैं कि कुलालने घटमें क्या कर दिया ? घटकी क्रिया घटमें हुई और कुलालकी क्रिया कुलालमें। मिट्टी घट पर्याय रूप हुई, कुलालने अपने हस्तादिकका व्यापार किया। परन्तु घट रूप जो पर्याय हुई उसमें कुलालका कौनसा अंश चला गया ? दोनों अपने अपने रूप परिणमन कर गये। यदि कुलाल घटको करे तो वह घटका कर्ता ठहरे, परन्तु निश्चयसे ऐसा कभी नहीं होता। वह घटादिकका सदा कर्ता हो जाय तो देखें बालूमें से तो घट बना दे ? घट पटादिक अपने स्वरूपसे परिणमन करते हैं और कुलाल अपने स्वरूपसे। कुलालने अपने योग और उपयोगका व्यापार किया, इसलिये उसका कर्ता हुआ परन्तु परद्रव्योंका कर्ता तो त्रिकालमें कभी नहीं होता।

यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है। स्त्रीने यों आटा गूँदा, उस आटेको चकलेपर बेल दिया और उसकी रोटी बना दी। लोग कहते हैं कि स्त्रीने रोटी बनाई पर विचार करो क्या स्त्रीने रोटी बनाई। रोटीकी क्रिया रोटीमें हुई और स्त्रीकी क्रिया स्त्रीमें परन्तु व्यवहारसे ऐसा कहते हैं कि स्त्रीने रोटी बनाई। अब देखो गाली तुम देते हो और इनको क्रोध आ जाता है वहाँ तुमने क्या कर

दिया। इन्होंने मान ही तो लिया कि यह गाली मुझे दी गई। वह क्रोध कषाय सत्तामें बैठी थी उसका निमित्त पा करके वह उदयमें आ गई। इसी तरह शान्ति है। शान्ति रूप परिणाम हो गये शान्ति मिल गई, वह कहीं बाहरसे नहीं आई। वह तुम्हारे अन्दरसे ही पैदा हो गई। अव लोग कहते हैं कि हम स्त्रीको भोगते हैं। अरे तुम क्या तुम्हारे दादा नहीं भोग सकते। तुम स्त्रीको क्या भोगोगे? अपने परिणामोंके ही भोक्ता हो जाओ परद्रव्योंके क्या भोक्ता बनोगे। झाँसीमें एक स्त्री थी। उसके पेटमें बच्चा था। जब वह अस्पतालमें आई तब उसके पेटसे बच्चा मरा हुआ निकला। वह स्त्री बड़ी मुश्किलोंसे बची। उसने उसी समय अपने पतिको बुलाया और उससे कहने लगी--देखो अब मैं मरती हूं तुम्हें जो दान धर्म इत्यादि करना है वह कर लो। वह पति रोने लगा। उसने कहा—तुम रोते क्यों हो? रोनेसे क्या हाथ लग जायगा? तुम्हें जो प्रतिज्ञा लेनी है सो लो? उसी समय वह हाथ जोड़ने लगा। देखिये! जो उस स्त्रीको भोगता था सब कर्म करता था। वह उसके हाथ जोड़ने लगा तो उसके परिणामोंमें ही निर्मलता आ गई। तब वह बोली, यह गहने वगैरह हैं, इनको बेचकर जो दान धर्म करना है सो कर देना और तुम प्रतिज्ञा लो कि हम अन्य किसी स्त्रीसे व्यवहार न करेंगे। उसने अपनी स्वीकृति दे दी। अन्तमें बोली--अच्छा हमें समाधिमरण पाठ सुनाओ। उसी समय उसने हाथपर हाथ धरकर अपने प्राण छोड़ दिये। अब बताओ उसे इतनी शिक्षा देने कौन गया था? यह परिणामोंकी निर्मलताका ही तो फल है। अतः अन्तरङ्गमें निर्मल परिणाम बना लो और दुनियाँके व्यवहार करो, कौन निषेध करता है? निर्मल परिणाम ही मोक्षमार्गमें साधक हैं। निर्मल परणतिके लिये यह ध्यान रहे कि—

१—आत्मकल्याणके लिये स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य और शुद्ध भोजन करना अति आवश्यक है।

२—आत्मविश्वासके बिना मोक्षमार्गकी प्राप्ति दुर्लभ है।

३—परपदार्थोंको पर जाननेके साथ साथ उनमें राग, द्वेष और मोह मत करो।

४—जो उदयमें आवे उसे ऋणके सदृश जान हर्ष विषाद मत करो।

५—किसीके उपकारकी इच्छा मत करो।

६—जो उपकार करो उसे भूल जाओ।

७—जो अपकार करो उसे भी भूल जाओ।

८—अपने गुणों व अवगुणोंका यथार्थ चिन्तन करो।

९—रागादिक ही निश्चय हिंसा है और यही संसारकी जननी है।

१०—इच्छाओंका अभाव ही शान्तिका मार्ग है।

११—पूर्ण निराकुलता ही परमात्मपद व मोक्ष है।

(इटावामें वर्णी जयन्तीपर दिया गया भाषण)

आश्विन वदी ४, वी० सं० २४७६

आत्मा

आत्माका ज्ञान स्वभाव—

'ज्ञान स्वभाव' आत्माका लक्षण है। लक्षण वही जो लक्ष्यमें पाया जावे। आत्माका लक्षण ज्ञान ही है जिससे लक्ष्य आत्माकी सिद्धि होती है। वैसे तो आत्मामें अनन्त गुण हैं जैसे दर्शन, चारित्र, वीर्य, सुख इत्यादि; पर इन सब गुणोंको बतलानेवाला कौन है? एक ज्ञान ही है। धनी, निर्धन, रंक, राव, मनुष्य, स्त्री इनको कौन जानता है? केवल एक ज्ञान। ज्ञान ही आत्माका असाधारण लक्षण है। दोनों (आत्मा और ज्ञान) के प्रदेशोंमें अभेदपना है। ज्ञानीजन ज्ञानमें ही लीन रहते और परमानन्दका अनुभव करते हैं। वह अन्यत्र नहीं भटकते। और परमार्थसे विचारो तो केवल ज्ञानके सिवाय अपना है क्या? हम पदार्थोंका भोग करते हैं, व्यंजनादिके स्वाद लेते हैं, उसमें ज्ञानका ही तो परिणमन होता है। यदि ज्ञानोपयोग हमारा दूसरी ओर जाय तो सुन्दरसे सुन्दर विषय सामग्री भी हमको नहीं सुहावे। उस ज्ञानकी अद्भुत महिमा है। वह कैसा है? दर्पणवत् निर्मल है। जैसे दर्पणमें पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं वैसे ही ज्ञानमें ज्ञेय स्वयमेव झलकते हैं। तो भी ज्ञानमें उन ज्ञेयोंका प्रवेश नहीं होता। अब देखो, दर्पणके सामने शेर गुंजार करता है तो क्या शेर दर्पणमें चला जाता है? नहीं। केवल दर्पणमें शेरके आकार रूप परिणमन अवश्य हो जाता है। दर्पण अपनी जगहपर है, शेर अपने स्थानपर है। उसी तरह ज्ञानमें ज्ञेय झलकते हैं तो झलको उसका स्वभाव ही देखना और जानना है, इसको कोई क्या करे? हाँ, रागादिक करना यही बंधका जनक है। हम इनको देखते हैं, उनको देखते हैं और सबको देखते हैं,

तो देखो पर अमुकसे रुचि हुई उससे राग और अमुकसे अरुचि हुई उससे द्वेष कर लिया, यह कहाँका न्याय है? बताओ। अरे उस ज्ञानका काम केवल देखना और जानना मात्र था, सो देख लिया और जान लिया। चलो छुट्टी पाई। ज्ञानको ज्ञान रहने देनेका ही उपदेश है, उसमें कोई प्रकारकी इष्टानिष्ट कल्पना करनेको नहीं कहा। पर हम लोग ज्ञानको ज्ञान कहाँ रहने देते हैं? कठिनता तो यही है।

भगवान्‌को देखो और जानो। यदि उनसे राग कर लिया तो स्वर्गमें जाओ और द्वेष कर लिया तो नरकमें पड़ो। इससे मध्यस्थ रहो। उन्हें देखो और जानो। जैसे प्रदर्शनीमें वस्तुएँ केवल देखने और जाननेके लिए होती हैं वैसे ही संसारके पदार्थ भी केवल देखने और जाननेके लिए हैं। प्रदर्शनीमें यदि एक भी वस्तुकी चोरी करो तो बंधना पड़ता है उसी प्रकार संसारके पदार्थोंके ग्रहण करनेकी अभिलाषा करो तो बन्धन है, अन्यथा देखो और जानो। अभी स्त्री बीमार पड़ी है तो उसके मोहमें व्याकुल हो गए। दवाई लानेकी चिन्ता हो गई; क्योंकि उसे अपनी मान लिया, नहीं तो देखो और जानो। निजत्वकी कल्पना करना ही दुःखका कारण है।

'समयसार' में एक शिष्यने आचार्यसे प्रश्न किया–महाराज! यदि आत्मा ज्ञानी है तो उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं और अज्ञानी है तो उसे उपदेशकी आवश्यकता नहीं। आचार्यने कहा कि जबतक कर्म और नोकर्मको अपनाते रहोगे अर्थात् पराश्रित बुद्धि रहेगी तबतक तुम अज्ञानी हो और जब स्वाश्रित बुद्धि हो जायगी तभी तुम ज्ञानी बनोगे।

एक मनुष्यके यहाँ दामाद और उसका लड़का आता है। लड़का तो स्वेच्छासे इधर-उधर पर्यटन करता है। परन्तु दामादका यद्यपि अत्यधिक आदर होता है तब भी वह सिकुड़ा-सिकुड़ा-सा घूमता

है। अतएव स्वाश्रित बुद्धि ही कल्याणप्रद है। आचार्य ने वही एक शुद्धज्ञान-स्वरूपमें लीन रहनेका उपदेश दिया है। जैसा कि नाटक समयसारमें लिखा है :—

'पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तुस्थितिबोधबन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमया भवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥ २९ ॥

यह ज्ञानी पूर्ण एक अच्युत शुद्ध (विकारसे रहित) ऐसे ज्ञान-स्वरूप जिसकी महिमा है ऐसा है। ऐसा ज्ञानी ज्ञेय पदार्थोंसे कुछ भी विकारको नहीं प्राप्त होता। जैसे दीपक प्रकाशने योग्य घट-पटादि पदार्थोंसे विकारको प्राप्त नहीं होता उस तरह। ऐसी वस्तु-की मर्यादाके ज्ञानसे रहित जिनकी बुद्धि है ऐसे अज्ञानी जीव अपनी स्वाभाविक उदासीनताको क्यों छोड़ते हैं और राग-द्वेषमय क्यों होते हैं ?

कुछ लोग ज्ञानावरण कर्मके उदयको अपना घातक मान दुखी होते हैं। तो कहते हैं कि कर्मके उदयमें दुखी होनेकी आवश्यकता नहीं है। अरे जितना क्षयोपशम है उसीमें आनन्द मानो। पर हम मानते कहाँ हैं? सर्वज्ञता लानेका प्रयास जो करते हैं। अब हम आपसे पूछते हैं, सर्वज्ञतामें क्या है ? हमने इतना देख लिया और जान लिया तो हमें कौन-सा सुख हो गया ? तो देखने और जाननेमें सुख नहीं है। सुखका कारण उनमें रागादिक न होने देना है। सर्वज्ञ भी देखो अनन्त पदार्थोंको देखते और जानते हैं पर रागादिक नहीं करते, इसलिए पूर्ण सुखी हैं। अतः देखने और जाननेकी महिमा नहीं है। महिमा तो रागादिकके अभावमें ही है।

लेकिन हम चाहते हैं कि रागादिक छोड़ना न पड़े और उस सुखका अनुभव भी हो जावे तो यह कैसे वने ? मूली खाओ और केशरका स्वाद भी आ जाय; यह कैसे हो सकता है ? रागादिक तो दुखके ही कारण हैं; उनमें यदि सुख चाहो तो कैसे मिल सकता है ? राग तो सर्वथा हेय ही है। अनादि कालसे हमने आत्माके उस स्वाभाविक सुखका स्वाद नहीं जाना, इसलिए रागके द्वारा उत्पन्न किञ्चित् सुखको ही वास्तविक सुख समझ लिया। आचार्य कहते हैं कि अरे उस सुखका कुछ तो अनुभव करो। अव देखो, कडुवी दवाको माँ कहती है कि 'वेटा इसे आँख मींचकर पी जाओ।' अरे, आँख मींचनेसे कहीं कडुवापन तो नहीं मिट जायगा ? पर कहती है कि वेटा पी जाओ। वैसे ही उस सुखका किञ्चित् भी तो अनुभव करो। पर हम चाहते हैं कि वच्चोंसे मोह छोड़ना न पड़े और उस सुखका अनुभव भी हो जाय।

'हल्दी लगे न फिटकरी रङ्ग चोखा आ जाय।'

अच्छा, वच्चोंसे मोह मत छोड़ों तो उस स्वात्मीक सुखका तो घात मत करो। पर क्या है ? उधर दृष्टि नहीं देते इसीलिए दुःखके पात्र हैं।

ऐसी वात नहीं है कि किसीके रागादिक घटते न हों। अभी संसारमें ऐसे प्राणी हैं जो रागादिक छोड़नेका शक्तिभर प्रयास करते हैं। पर सिद्धान्त यही कहता है कि रागादिक छोड़ना ही सर्वस्व है। जिसने इन्हें दुःखदायी समझकर त्याग दिया, वही हम तो कहते हैं 'धन्य हैं'। कहने सुननेसे क्या होता है ? इतने जनोंने शास्त्र श्रवण किया तो क्या सवके रागादिकोंकी निवृत्ति हो गई ? अव देखो आल्हा ऊदलकी कथा वाँचते हैं तो वहाँ कहते हैं 'यों मारा, यों काटा' पर यहाँ किसीके एक तमाचा तक नहीं लगा। तो केवल कहनेसे कुछ नहीं होता। जिसने रागादिक त्याग दिए वस उसीको

मजा है। जैसे हलवाई मिठाई तो बनाता है पर उसके स्वादको नहीं जानता। वैसे ही शास्त्र बाँचना तो मिठाई वनाना है पर जिसने चख लिया बस उसीको ही मजा है।

आत्माका आवृत स्वरूप—

आत्मामें अनन्तशक्ति तिरोभूत है। जैसे सूर्यका प्रकाश मेघ-पटलोंसे आच्छादित होनेपर अप्रकट रहता है वैसे ही कर्मोंके आव-रणसे आत्माकी अनन्त शक्तियाँ प्रकट नहीं होतीं। जिस समय आवरण हट जाते हैं उसी समय वे शक्तियाँ पूर्णरूपेण विकसित हो जाती हैं। देखो, निगोदसे लेकर मनुष्य पर्याय धारणकर मुक्तिके पात्र बने, इससे आत्माकी अचिन्त्य शक्ति ही तो विदित होती है। अतः हमें उस (आत्मा) को जाननेका अवश्यमेव प्रयत्न करना चाहिए। जैसे बालक मिट्टीके खिलौने वनाते फिर विगाड़ देते हैं वैसे ही हम ही ने संसार वनाया और हम ही यदि चाहें तो संसारसे मुक्त हो सकते हैं।

हम नाना प्रकारके मनोरथ करते हैं। उनमें एक मनोरथ मुक्तिका भी सही। वास्तवमें हमारे सब मनोरथ बालूकी भीतिकी भाँति ढह जाते हैं, यह सब मोहोदयकी विचित्रता है। जहाँ मोह गला वहाँ कोई मनोरथ नहीं रह जाता। हम रात्रि दिन पापाचार करते हैं और भगवान्से प्रार्थना करते हैं कि भगवान् हमारे पाप क्षमा करना। अरे, भगवान् तुम्हारे पाप क्षमा करें। पाप करो तुम भगवान् क्षमा करें—यह भी कहींका न्याय है? कोई पाप करे और कोई क्षमा करे। उसका फल उसही को भुगतना पड़ेगा। भगवान् तुम्हें कोई मुक्ति नहीं पहुँचा देंगे। मुक्ति पाओगे तुम अपने पुरुषार्थ द्वारा। यदि विचार किया जाय तो मनुष्य स्वयं ही कल्याण कर सकता है।

एक पुरुष था। उसकी स्त्रीका अकस्मात् देहान्त हो गया। वह बड़ा दुखी हुआ। एक आदमीने उससे कहा—अरे, बहुतोंकी स्त्रियाँ मरती हैं, तूँ इतना बेचैन क्यों होता है ? वह बोला—तुम समझते नहीं हो। उसमें मेरी मम बुद्धि लगी है इसीलिए मैं दुखी हूँ। दुनियाँकी स्त्रियाँ मरती हैं तो उनसे मेरा ममत्व नहीं,—इसहीमें मेरा ममत्व था। उसी समय दूसरा बोला—'अरे, तुझमें जब अहं-बुद्धि है तभी तो मम बुद्धि करता है। यदि तेरेमें अहंबुद्धि न हो तो ममबुद्धि किससे करे ? तो अहंबुद्धि और ममबुद्धिको मिटाओ, पर अहंबुद्धि और ममबुद्धि जिसमें होती है, उसे तो जानो। देखो लोकमें वह मनुष्य मूर्ख माना जाता है जो अपना नाम, अपने गाँव-का नाम, अपने व्यवसायका नाम न जानता हो उसी तरह परमार्थसे वह मनुष्य मूर्ख है जो अपने आपको न जानता हो। इसलिए अपनेको जानो। तुम हो जभी तो सारा संसार है। आँख मीच लो तो कुछ नहीं। एक आदमी मर जाता है तो केवल शरीर ही तो पड़ा रह जाता है और फिर पञ्चेन्द्रियाँ अपने अपने विषयोंमें क्यों नहीं प्रवर्तती ? इससे मालूम पड़ता है कि उस आत्मामें एक चेतना-का ही चमत्कार है। उस चेतनाको जाने बिना तुम्हारे सारे कार्य व्यर्थ हैं।

मोहमें ही इन सबको हम अपना मानते हैं। एक मनुष्यने अपनी स्त्रीसे कहा कि अच्छा बढ़िया भोजन बनाओ हम अभी खानेको आते हैं। ज़रा बाज़ार हो आएँ। अब मार्गमें चले तो वहाँ मुनि-राजका समागम होगया। उपदेश पाते ही वह भी मुनि होगया। और वही मुनि बनकर आहारके लिए वहाँ आगए। तो देखो उस समय कैसा अभिप्राय था अब कैसे भाव होगए। चक्रवर्तीको ही देखो। वह छः खण्डको मोहमें ही तो पकड़े है। जब वैराग्य उदय होता है तो सारी विभूतिको छोड़ बनवासी बन जाता है। तो देखो

उस इच्छाको ही तो मिटा देता है कि 'इदम् मम' यह मेरी है। वह इच्छा मिट गई अब छः खण्डको बताओ कौन सँभाले? जब ममत्व ही न रहा तब उसका क्या करे? इच्छाको घटाना ही सर्वस्व है। दान भी यदि इच्छा करके दिया तो बेवकूफी है। समझो यह हमारी चीज़ ही नहीं है। तुम कदाचित् यह जानते हो कि यदि हम दान न देवें तो उसे कौन दे? अरे उसे मिलना होगा तो दूसरा दान दे देगा फिर ममत्व बुद्धि रखके क्यों दान देता है? वास्तवमें तो कोई किसीकी चीज नहीं है। व्यर्थ ही अभिमान करता है। अभिमानको मिटा करके अपनी चीज मानना महाबुद्धिमत्ता है। कौन बुद्धिमान दूसरेकी चीजको अपनी मानकर कबतक सुखी रह सकता है? जो चीज तुम्हारी है उसीमें सुख मानो।

महादेवजीके कार्तिकेय और गणेश नामक दो पुत्र थे। एक दिन महादेवजीने उनसे कहा, 'जाओ, वसुन्धराकी परिक्रमा कर आओ'। तब कार्तिकेय और गणेश दोनों हाथ पकड़ कर दौड़े। गणेशजी तो पीछे रह गए और कार्तिकेय बहुत आगे चले गए। गणेशजीने वहींपर महादेवजीकी ही परिक्रमा कर ली। जब कार्तिकेय लौटे और महादेवजीने गणेशजीकी ओर संकेतकर कहा 'यह पहिले आए' तो कार्तिकेयने पूछा 'यह पहिले कैसे आए? बताइए।' उसी समय उन्होंने अपना मुँह फाड़ दिया जिसमें तीनों लोक दिखने लगे। महादेवजी बोले 'देखो इन्होंने तीनों लोकोंकी परिक्रमा कर ली।' तो उस केवलज्ञानकी इतनी बड़ी महिमा है कि जिसमें तीनों लोकोंकी चराचर वस्तुएँ भासमान होने लगती हैं। हाथीके पैरमें बताओ किसका पैर नहीं समाता—ऊँटका घोड़ेका सबोंका पैर समा जाता है। अतः उस ज्ञानकी बड़ी शक्ति है। और वह ज्ञान तभी पैदा होता है जब हम अपनेको जानें। परपदार्थोंसे अपनी चित्तवृत्तिको हटाकर अपनेमें संयोजित करें। देखो समुद्रसे मानसून उठते हैं और बादल बनकर पानीके रूपमें

वरस पड़ते हैं। तो पानीका यह स्वभाव होता है कि वह नीचेकी ओर ढलता है। पानी जब बरसा तो देखो रावी चिनाव झेलम सतलज होता हुआ फिर उसी समुद्रमें जा गिरता है। उसी प्रकार आत्मा मोहमें जो यत्र तत्र चतुर्दिक् भ्रमण कर रहा था ज्योंही वह मोह मिटा तो वही आत्मा अपनेमें सिकुड़कर अपनेमें ही समा जाता है। यों ही केवलज्ञान होता है। ज्ञानको सव परपदार्थोंसे हटाकर अपनेमें ही संयोजित कर दिया—बस केवलज्ञान हो गया। और क्या है?

हम परपदार्थोंमें सुख मानते हैं। पर उसमें सच्चा सुख नहीं है। मड़ावराकी बात है। वहाँसे ललितपुर ३६ मीलकी दूरीपर पड़ता है। वहाँ सर्दी वहुत पड़ती है। एक समय कुछ यात्री जा रहे थे। जब बीचमें उन्हें अधिक सर्दी मालूम हुई तो उन लोगोंने जंगलसे घास फूस इकट्ठा किया और उसमें दियासलाई लगा आँवसे तापने लगे। ऊपर वृक्षोंपर वन्दर वैठे हुए यह कौतुक देख रहे थे। जब वे यात्री लोग चले गए तो वन्दर ऊपरसे उतरे और उन्होंने वैसा ही घास फूस इकट्ठा कर लिया। अव कुछ घिसनेको चाहिए तो दियासलाईकी जगह वे जुगनूको पकड़कर लाए और घिसकर डाल दी पर आँच नहीं सुलगे। बार-बार वे उन्हें पकड़कर लाए और घिस घिसकर डाल दें पर आँच सुलगे तो कैसे सुलगे। इसी तरह परपदार्थोंमें सुख मिले तो कैसे मिले? वहाँ तो आकुलता ही मिलेगी और आकुलतामें सुख कहाँ? तुम्हें आकुलता हुई कि चलो मन्दिरमें पूजा करें और फिर शास्त्र श्रवण करें। तो जवतक तुम पूजा करके शास्त्र नहीं सुन लोगे तवतक तुम्हें सुख नहीं है; क्योंकि आकुलता लगी है। उसी आकुलताको मिटानेके लिए तुम्हारा सारा परिश्रम है। तुम्हें दुकान खोलनेकी आकुलता हुई; दुकान खोल ली चलो आकुलता मिट गई। तुम्हारे जितने भी कार्य हैं सव आकुलताको मेटनेके लिये हैं। तो आकुलतामें सुख नहीं। आत्माका

सुख निराकुल है वह कहीं नहीं है, अपनी आत्मामें ही विद्यमान है; एक क्षण परपदार्थोंसे राग द्वेष हटाकर देखो तो तुम्हें आत्मामें निराकुल सुख प्रकट होगा। यह नहीं, अब कार्य करे और फल बादको मिले। जिस क्षण तुम्हारे वीतराग भाव होंगे तत्क्षण तुम्हें सुखकी प्राप्ति होगी। आत्माकी विलक्षण महिमा है। कहना तो सरल है पर जिसने प्राप्त कर लिया वही धन्य है। और जितना पढ़ना लिखना है उसी आत्माको पहिचाननेके अर्थ है। कहीं किताबोंसे भी ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान तुम्हारी आत्मामें है। पुस्तकोंका निमित्त पाकर वह विकसित हो जाता है। वैराग्य कहीं नहीं धरा ? तुम्हारी आत्मामें ही विद्यमान है। अतः जैसे बने वैसे उस आत्माको पहिचानो।

एक कोरी था। उसे कहींसे एक पाजामा मिल गया। उसने पाजामा कभी पहिना तो था नहीं। वह कभी सिरसे उसे पहिनता तो ठीक नहीं बैठता। कभी कमरसे लपेट लेता तो भी ठीक नहीं बैठता। एक दिन उसने ज्योंही एक पैर एक पाजामेमें और दूसरा पैर दूसरेमें डाला तो ठीक बैठ गया। बड़ा खुश हुआ। इसी तरह हम भी इतस्ततः भ्रमण कर दुखी हो रहे हैं। पर जिस काल हमें अपने स्वरूपका ज्ञान होता है तभी हमें सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है। इसलिए उसकी प्राप्तिका निरन्तर प्रयास करना चाहिए।

('सुखकी झलकसे')

०

आत्म-भावना

आत्माका स्वभाव—

आत्माका स्वभाव सहज शुद्धज्ञान आनन्दस्वरूप निर्विकल्प और उदासीन है। उसका अनुभव ज्ञान और प्राप्ति किस प्रकार होती है? उसी भावनाको कहते हैं:—

अस्तिरूपसे—

'निज-निरञ्जन-शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूप-निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसञ्जातवीतरागसह-जानन्दरूपसुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन स्वसं-वेद्यो गम्यः प्राप्यो भरितावस्थोऽहम्।'

अर्थात् मैं निज निरञ्जन शुद्ध आत्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान अनुष्ठान रूप निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न वीतराग सहजानन्द रूप सुखकी अनुभूतिमात्र जिसका लक्षण स्वरूप है ऐसे स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा स्वसंवेद्य, गम्य, भरितावस्थ हूँ। ऐसे आत्माकी भावना करनी चाहिये। इस प्रकार पहिले स्वभावसे भरा हुआ परिपूर्ण हूँ ऐसा 'अस्ति' से कहा।

नास्तिरूपसे—

अब मेरा स्वभाव सब विभावोंसे रहित शून्य है ऐसा 'नास्ति' से कथन करते हैं—

'रागद्वेष–मोह-क्रोध-मान–माया–लोभ–पञ्चेन्द्रिय-विषयव्यापारमनोवचनकायव्यापार-भावकर्मद्रव्यकर्मनो-

कर्म-ख्याति - पूजा - लाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगकांक्षारूप-निदानमाया - मिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहित-शून्योऽहम् ।'

अर्थात् मैं सर्व विभावपरिणामोंसे रहित—शून्य हूँ ऐसी अपने आत्माकी भावना करनी चाहिए।

शुद्ध निश्चयसे—

'जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयनयेन तथा सर्वेऽपि जीवा इति निरन्तरं भावना कर्तव्येति ।'

अर्थात् तीन लोक और तीन कालमें शुद्धनिश्चयनयसे ऐसा (स्वभावसे पूर्ण और विभावसे रहित) हूँ तथा समस्त जीव ऐसे ही हैं। ऐसी मन, वचन, कायसे तथा कृत कारित अनुमोदनासे निरन्तर भावना करना योग्य है।

स्याद्वादी दृष्टिसे—

आगे सांख्यमतका निरूपण करते हुए वतलाते हैं कि उनका कहना कहाँतक उचित है? वे कहते हैं कि—"कर्म ही सब कुछ करता है—कर्म ही ज्ञानको ढकता है, क्योंकि ज्ञानावरण कर्मके उदयसे ज्ञान प्रकट नहीं होता, कर्म ही ज्ञानको वढ़ाता है, क्योंकि ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ज्ञानका विकास होता है। कर्म ही मिथ्यात्वोदयसे पदार्थको विपरीत दिखलाता है जैसे कामला रोग वालेको शङ्ख पीला दिखता है इत्यादि, कर्म सब कुछ करता है, आत्मा अकर्ता है।"

ऐसे सिद्धान्त माननेवालेको कहते हैं कि आत्मा बिलकुल अकर्ता नहीं है। यदि अकर्ता हो जाय तो फिर राग द्वेष मोह ये

किसके भाव हों ? यदि पुद्गलके कहो तो वह तो जड़ स्वभाववाला है। जड़में रागद्वेष क्रिया होती नहीं। अतः इस जीवके अज्ञानसे मिथ्यात्वादि भाव परिणाम हैं वे चेतन ही हैं जड़ नहीं हैं। इसलिए कथञ्चित् आत्मा कर्ता है और कथञ्चित् अकर्ता है। अज्ञानसे जब यह जीव रागद्वेषादिक भाव करता है तब वह कर्ता होता है और ज्ञानी होकर भेदज्ञानको प्राप्त हो जाता है तब साक्षात् अकर्ता होता है। इसलिए चेतन कर्मका कर्ता चेतन ही होना परमार्थ है। वहाँ अभेददृष्टिमें तो शुद्ध चेतनमात्र जीव है परन्तु कर्मके निमित्तसे जब परिणमता है तब उन परिणामोंसे युक्त होता है। उस समय परिणाम परिणामीकी भेददृष्टिमें अपने अज्ञानभाव परिणामोंका कर्ता जीव ही है और अभेददृष्टिमें तो कर्ता कर्मभाव ही नहीं है, शुद्ध चेतनमात्र जीव वस्तु है। इसलिए चेतन कर्मका कर्ता चेतन ही है, अन्य नहीं। श्री समन्तभद्राचार्य देवागममें लिखते है कि:—

'न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥५७॥'

पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। यदि पदार्थ को सामान्यापेक्षा देखा जाय तो वह एक रूप ही दिखाई देगा और विशेषकी अपेक्षासे उसमें नानापना दिखलाई देंगे। जैसे एक मनुष्य है। वह क्रमसे पहले बालक था, बालकसे युवा हुआ और युवासे वृद्ध हुआ। यदि सामान्यसे विचारो तो एक चेतनमात्र जीव ही है परन्तु विशेष दृष्टिसे देखो तो वह बालक है, युवा है और वही वृद्ध भी है ऐसा व्यवहार होता है। इसी तरह ज्ञायक स्वभावकी अपेक्षा तो आत्मा अकर्ता है परन्तु जबतक भेद-ज्ञान न हो तब तक मिथ्यात्वादि भाव कर्मोंका कर्ता मानना उचित है। इस तरह एक ही आत्मामें कर्ता-अकर्ता दोनों भाव विवक्षाके वशसे सिद्ध होते हैं। यह स्याद्वाद मत है तथा वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है।

द्रव्यदृष्टि और व्यवहारदृष्टिसे—

'द्रव्यदृष्टिसे विचारो तो सब आत्माएँ शुद्ध मिलेंगी पर नय विवक्षासे देखो, तो नाना प्रकारके भेद दिखेंगे। ये नय पर्याय-दृष्टिकर देखे जावें तो भूतार्थ ही हैं। अतः उनको उन्हीं रूपसे जानना सत्यार्थ भी है। सामान्यरूपसे जीव एक है परन्तु पर्याय-दृष्टिसे उसमें नानापना असत्य नहीं; तात्त्विक ही है तथा जीवके गुणोंमें जो विकार होता है उसके जानेसे गुणकी शुद्ध अवस्था रह जाती है, अभाव नहीं होता है। जैसे जलमें पङ्कका सम्बन्ध होनेसे मलिनता आजाती है। इसी तरह आत्मामें मोहादि कर्मके विपाकसे विकृतावस्था हो जाती है। उस विकृतावस्थामें उनमें नानापना दीखता है, उसका यदि उस अवस्थामें विचार किया जावे तो नानापना सत्यार्थ है; किन्तु वह औपाधिक है, अतः मिथ्या है, न कि स्वरूप उसका मिथ्या है। यदि स्वरूप मिथ्या होता तब संसार नाशकी आवश्यकता न थी। अतः नय विवक्षासे पदार्थोंको जानना ही संसारसे मुक्तिका कारण है।

अपनी भूल सुधारिये—

इस मनुष्यको अनादिकालसे जीव और पुद्गलका एकत्व अभ्यास हो रहा है। अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मीय बुद्धि मान रहा है। कभी इसने शुद्ध ज्ञानका स्वाद नहीं लिया। ज्ञेय मिश्रित ज्ञानका ही अनुभव न किया। केवल ककड़ीके खानेमें स्वाद नहीं आता पर नमक मिर्चके साथ खानेमें आनन्द मानता है; क्योंकि इसको वही मिश्रित पदार्थोंके खानेकी आदत पड़ी हुई है। अब खानेमें केवल ज्ञानका ही परिणमन होता है पर उस ज्ञानको छोड़ वह परपदार्थोंमें सुख मान लेता है,—यही अज्ञानकी भूल पड़ी है। आचार्योंने इसीलिए रस-परित्याग तप बतलाया है कि इस जीवको केवल एक शुद्ध

पदार्थके स्वादका अभ्यास पड़े। ऐसी ज्ञानमयी आत्माको छोड़ यह जीव अनन्त संसारका पात्र वन रहा है। पुद्गलमें जीवत्वका आरोप कर रहा है। अन्धकारमें रज्जुको सर्प मान रहा है। गिर रहा, पड़ रहा और नाना प्रकारके दुख भी उठा रहा है, पर फिर भी अपनी अज्ञानताको नहीं छोड़ता है। शरीरसे भिन्न अपनी आत्माको नहीं पहचानता है। यदि एक भो वार उस ज्ञानमयी आत्माका अनुभव हो जाय तो फिर कल्याण होनेमें कोई विलम्व न लगे। केवल अपनी भूलको सुधारना है।

एक स्त्री थी। जब उसका पति परदेश जाने लगा तो उसने उसको एक वटैया दी। इस विचारसे कि कहीं वह खोटे आचरणोंमें न पड़ जावे। उसने कहा कि इसको पहिले अपने सामने रखकर कोई भी पाप कार्य न करनेकी प्रतिज्ञा करना तत्पश्चात् इसकी पूजाकर फिर भोजन करना। वह आदमी उस वटैयाको लेकर चल दिया। मार्गमें एक स्थानपर विश्राम किया और जब भोजनका समय हुआ तो उसने उस वटैयाको निकालकर अपने सामने रक्खा और पूजा करके वैसा ही जैसा कि उसकी स्त्रीने कहा था पाप न करनेका संकल्प किया। जब वह पूजा पूर्णकर भोग लगा रहा था, उसी समय एक चूहा आया और उस भोगको खाने लगा। उसने सोचा अरे, इस वटैयासे तो चूहा ही बड़ा है, झट उस चूहेको पकड़ लिया और एक पिंजरेमें वन्द कर उसकी पूजा करना शुरू कर दिया। एक दिन अकस्मात् विल्ली आई। चूहा उस विल्लीको देखकर दवक गया। उसने सोचा—अरे, इस चूहेसे तो विल्ली ही वड़ी है; उसको पकड़कर वाँध लिया और उसकी पूजा करने लगा। एक दिन कुत्ता आया। कुत्तेको देखकर वह विल्ली दवक गई। उसने फिर सोचा—अरे, इस विल्लीसे तो कुत्ता वड़ा है। उसने कुत्तेको पकड़कर वांध लिया और उसकी पूजा प्रारम्भ कर दी। अव वह परदेशसे

कुत्तेको साथ लेकर अपने घर लौट आया। एक दिन उसकी स्त्री रोटी बना रही थी; वह कुत्ता लपककर चौकेमें घुस गया। स्त्रीने उसको एक डंडा मारा और वह भों-भों करके भाग गया। उसने सोचा—अरे कुत्तेसे तो यह स्त्री ही बड़ी है। अब वह उस स्त्रीको पूजने लगा—उसकी धोती धोना, उसका साज शृंगारादिक करना। एक दिन उसकी स्त्री खाना बनाते समय शाकमें नमक डालना भूल गई। जब वह आदमी खानेको वैठा तो उसने कहा 'आज शाकमें नमक क्यों नहीं डाला?' वह बोली 'मैं भूल गई।' उसने कहा—'क्यों भूल गई, और एक थप्पड़ मारा। वह स्त्री रोने लगी। उसने सोचा—अरे, मैं ही तो बड़ा हूँ, यह स्त्री तो मुझसे भी दबक गई। आखिर उसे अपनी भूलका ज्ञान हो गया और उसने उसे सुधार लिया।

अपनेको पहचानिये—

वास्तवमें जिसने अपनेको पहिचान लिया, उसके लिए क्रोध, मान, माया, लोभ क्या चीज है? हम दूसरोंको बड़ा बनाते हैं कि अमुक बड़े हैं, अमुक वड़े हैं, पर अपनी ओर दृष्टिपात नहीं करते। सोचो तो आत्मा स्वयं कहेगी—अरे, तुझसे तो बड़ा कोई नहीं है परन्तु वड़ा बननेके लिये बड़े कार्य कर। वास्तवमें अपनेको लघु मानना तो महती अज्ञानता है। "हम क्या हैं? किस खेतकी मूली है?" यह सोचना तो पवित्र आत्माको पतित बनाना है, उसके साथ अन्याय करना है। अरे, तुझमें तो अनंत-ज्ञानकी शक्ति तिरोभूत है। अपनेको मान तो सही कि "मुझमें परमात्मा होनेकी शक्ति विद्यमान है।"

आत्माको निर्मल कीजिये—

"आत्मा निर्मल होनेसे मोक्षमार्गकी साधक है और आत्मा ही मलिन होनेसे संसारकी साधक है।" अतः जहाँतक वने आत्माकी मलिनताको दूर करनेका प्रयास करना हमारा कर्तव्य है।

सभाएँ और समितियाँ

आजकी सभाओं और समितियोंका यह रूप है कि रूप-रेखाएँ और उद्देश्य वहुत वड़े लम्वे पैमानेपर वनते हैं, नियमावली तो सरकारी विधान जैसा रखते हैं, पदाधिकारियोंकी भरमार रहती है, अधिकांश वे ही पदाधिकारी होते हैं जो पैसावाले होते हैं, भले ही वे सभाकी सभ्यता और नियमों, वर्तमान परिस्थिति और वातावरणोंसे पूर्णतया अनभिज्ञ ही क्यों न हों ! यही कारण है कि आज जो सभाएँ और समितियाँ हितके लिये वनती हैं वे उलटा जनताके शिर भार हो जाती हैं ! अच्छा तो यह होता कि उद्देश्य छोटा होता कार्य वड़े होते। नियमावली संक्षिप्त होती, कर्तव्य विस्तृत होता। पदाधिकारी थोड़े और निर्धन होते परन्तु विज्ञ, योग्य, सदाचारी और सभ्य होते।

सभाके सदस्य यदि कर्तव्य निर्वाहकर स्वपरोपकार करना चाहते हैं तो उनसे हमारा कहना यह है कि—

१—आवेगमें आकर कोई ऐसा काम न करो जिसका प्रभाव क्षणिक हो।

२—सवसे पहिले सदाचारी वनो—

(क) आजन्म परस्त्रीका त्याग करो।

(ख) अष्टमी, चतुर्दशी, दश लक्षण पर्व और अष्टाह्निका पर्वमें व्रह्मचर्य से रहो।

(ग) स्त्रीके गर्भ रहनेके ३ वर्षतक व्रह्मचर्यसे रहो।

(घ) अपनी माँ वहिन और गृहिणीको सम्मति दो कि सादगीसे रहें।

(ङ) बीड़ी, पान, सिगरेट जैसी विलासिता वर्धक स्वास्थ्यनाशक वस्तुओंका उपयोग कम करते-करते छोड़ दो।

३—आयसे व्यय कम करो।

४—किसी जीवकी हिंसा मत करो, किसीको दुःख मत दो।

५—तुम्हारे घरमें भोजन वस्त्रमें जो व्यय हो उसमेंसे एक पैसा प्रति रुपया निर्धन छात्रोंके उपकारमें लगाओ। विवाहमें जो व्यय हो उसमें भी एक पैसा प्रति रुपया निकालो।

६—देशका उद्धार चाहते हो तो—

(क) राष्ट्रीय सरकारको सहयोग दो।

(ख) देशके दुश्मनों द्वारा होनेवाले भ्रष्टाचारका उन्मूलन करो।

(ग) घूस लेना छोड़ो, घूस देना छोड़ो।

(घ) राष्ट्रीय नेताओंके आदर्शोंका प्रचार करो, राष्ट्रीय पर्व दिनोंमें जनताको सादगी, सदाचार, स्वच्छताका सन्देश देते हुए उन्हें सच्चा नागरिक बनानेके लिये गाँव गाँवमें सभाएँ करो। सीधी, सरस, सरल और सारगर्भित भाषामें बात करो।

(ङ) रात्रि पाठशालाएँ स्थापित करो। जिनमें साधारण पढ़ाईके साथ औद्योगिक कलाकी शिक्षा दो। जिससे ग्रामोद्योगको प्रोत्साहन मिले, जनता आत्म निर्भर हो। साथ ही संगठनके लिए एक निष्पक्ष समिति बनाओ। स्वास्थ्य सुधारके लिये औषधालय स्थापित करो। सरल भाषामें कृषि विज्ञानकी बात समझाओ।

७—स्वास्थ्य रक्षाके लिये —

(क) रात्रि भोजन मत करो।

'पंकापाये जलस्य निर्मलतावत् ।' जलके ऊपर काई आ जानेसे जल मलिन दिखता था और जब काई दूर हो गई तो जल स्वच्छका स्वच्छ हो गया। उसकी स्वच्छता कहीं और जगह नहीं थी केवल काई लग जानेसे उसमें मलिनता थी सो जब वह दूर हुई तो जल स्वतः स्वच्छ हो गया। इसी तरह रागादि दूर हुए कि आत्मा स्वच्छ हो गया।

राग-द्वेष दूर कीजिये—

देखिये, यह कपड़ा है, इसपर यह चिकनाई लगी हुई है। इस चिकनाईके कारण उसमें धूलके कण लग गए जिससे वह मलिन हो गया। पर जब सोडा साबुन लगाकर उसे साफ कर दिया गया तो वह वस्त्र स्वच्छ हो गया। तो उस वस्त्रमें स्वच्छता थी तभी तो वह उजला हुआ, नहीं तो कैसे होता ? हाँ, उस वस्त्रमें केवल बाह्य मलिनता अवश्य आ गई थी, उसके धुल जानेसे वह जैसा था वैसा हो गया। इसी तरह आत्मा भी रागद्वेषादिकके संयोगसे विकारको प्राप्त हो रहा था, उस विकारताके मिट जानेसे वह जैसा था वैसा हो गया। अब देखो उस वस्त्रमें जो चिकनाई लग रही है, यदि वह नहीं मिटे और ऊपरसे चाहे जितना जलसे धो डालो तो क्या होता है ? क्योंकि उस चिकनाईकी वजहसे वह फिर मलिनका मलिन हो जायगा। इसी तरह आत्माके जो रागद्वेषादिक हैं यदि वे नहीं मिटें और ऊपर शरीरको खूब सुखाने लगें, तपश्चरण करने लगें तो क्या होता है ? तुषमाषभिन्न ज्ञान हुआ नहीं, और उस तुषको ही पीटने लग गए तो बताओ क्या होता है ? अन्तरंगकी रागद्वेष परिणति नहीं मिटी तो पुनः वही देह धारण है। पर्यायको मिटानेका प्रयत्न नहीं है पर जिन कारणोंसे पर्याय उत्पन्न हुई उन्हें मिटानेकी आवश्यकता है। उसका ज्ञान अनिवार्य है। जैसे मिश्री है। यदि उसे नहीं चखो तो कैसे उसका स्वाद आए कि यह मीठी

होती है। उसी तरह रागका भी यदि अनुभव न हो तो उसे मिटाने-का प्रयत्न भी कैसे हो? **'प्रीतिरूपपरिणामो रागः'** प्रीतिरूप परिणामका होना राग है और अप्रीतिरूप परिणामका होना द्वेष है। संसारका मूल कारण यही रागद्वेष है। जिसने इसपर विजय प्राप्त कर ली उसके लिये शेष क्या रह गया?

('सुखकी झलक' से)

(ख) पानी छानकर पिओ।
(ग) होटलोंमें गन्दा भोजन और बाजारके सड़े गले पदार्थ मत खाओ।
(घ) जितना हजम हो उतना ही भोजन करो।
(ङ) यदि देव पूजामें एक रुपया व्यय करते हो तो उसमेंसे चार आने शिक्षा प्रचारमें, आत्म ज्ञानके लिये शास्त्र पुस्तक खरीदनेमें व्यय करो। दूसरोंकी सेवा करो।

८—यदि सफलतापूर्वक समाज सेवा करना चाहते हो तो—
(क) रूढ़ियोंका वहिष्कार करो।
(ख) कन्याविक्रय, वृद्धविवाह, अनमेलविवाह, दहेज, मरण-भोज, धार्मिक और सामाजिक कार्योंमें अपव्यय, विवाहोंमें गन्दे गीत और अश्लील हँसी मजाक वन्द करो।
(ग) जो कार्य प्रारम्भ किया है उसे पूर्ण करो।
(घ) पराधीनताको त्यागो।
(ङ) किसीको पराजित करनेके भावसे कोई कार्य मत करो। जो कुछ करना चाहते हो उसे अपने जीवनमें घटाकर, पालनकर आदर्श उपस्थित करो। जो नये सदस्य हों वे सदाचारी हों, असफल होनेपर अपनी भूल देखो, कार्यके प्रारम्भमें जो उत्साह है वही अन्ततक रखो। इतना कर सको तो सफलता तुम्हारे साथ है।

(इटावाके प्रवचन और जबलपुरके पत्रोंसे)

दुःखका कारण परिग्रह

यद्यपि द्रव्य अर्थात् परपदार्थके त्यागनेका जो उपदेश देता है वह परमोपकारी है। द्रव्यमें जो लोभ है वह मूर्छा है, जो मूर्छा है वह परिग्रह है और परिग्रह ही सब पापोंकी जड़ है, क्योंकि बाह्य परिग्रह ही अन्तरङ्ग मूर्छाका जनक है। और अन्तरङ्ग परिग्रह ही संसारका कारण है, क्योंकि अन्तरङ्ग मूर्छाके बिना बाह्य पदार्थोंका ग्रहण नहीं होता। यही कारण है कि भगवान्‌ने मिथ्यात्व वेद त्रय हास्यादिषट् और चार कषाय इन्हें ही परिग्रह माना है। जबतक इनका सद्भाव है, तबतक ही यह जीव परवस्तुको ग्रहण करता है, इसमें सबसे प्रबल परिग्रह मिथ्यात्व है इसके सद्भावमें ही शेष परिग्रह बलिष्ठ रहते हैं। जैसे कि मालिकके सद्भावमें कूकर बलशाली रहता है, इतना बलशाली कि सिंह पर भी टूट पड़ता है। परन्तु मालिकके अभावमें एक लाठीसे पलायमान हो जाता है अतः जिन्हें आत्मकल्याणकी अभिलाषा है उन्हें द्रव्य त्यागका उपदेश देनेवालेको अपना मित्र समझना चाहिये।

संसारमें परिग्रह ही दुःखकी जड़ है। इस दुष्टने जहाँ पदार्पण किया वहीं कलह विसंवाद मचवा दिया। देख लो इसकी बदौलत कोई भी प्राणी ससारमें सुखी नहीं है। एक गुरु और एक चेला थे। वे दोनों सिंहलद्वीप पहुँचे। वहाँ गुरुने दो सोनेकी ईंट लीं और चेलाको सुपुर्द कर कहा कि 'इन्हें सिर पर धर कर ले चल।' वह ईंटें कुछ भारी थीं। अतः चेलाने मनमें सोचा 'देखो, गुरुजी बड़े चालाक हैं। आप तो स्वयं खाली चल रहे हैं और मुझे यह भार लाद दिया है।' दोनों चले जाते हैं।

गुरु कहता है—'चेला चले आओ। बड़ा भय है।'

चेला बोलता है—'हाँ, महाराज चला आता हूँ।' आगे मार्गमें एक कुआँ मिला। चेलाने उन ईंटोंको उठाकर कुँएमें पटक दिया।

गुरुने कहा—'चेला चले आओ आगे वड़ा भय है।'

चेला बोला—'हाँ महाराज! भय मत करो। अव आगे कुछ भय नहीं है।'

तो परिग्रह ही वोझा है। इससे जितना-जितना ममत्व हटाओगे उतना-उतना सुख प्रकट होगा। जितना-जितना अपनाओगे उतना ही दुःख मिलेगा।

एक जगह चार लुटेरे थे। वे कहींसे १०००) रु० लूटकर लाए। चोरोंने ढाई-ढाई सौ रुपये आपसमें वाँट लिये। एकने कहा—अरे, जरा वाजारसे मिठाई लाओ, सव मिलकर परस्पर वैठकर खावेंगे। उनमेंसे दो लुटेरे मिठाई लेने चल दिये। इन्होंने आपसमें सोचा, यदि जहरके लड्डू वनवाकर ले चलें तो वड़ा अच्छा हो। वे दोनों ही प्राणान्त होंगे और इस तरह वे ५००) रुपये भी अपने हाथ लग जावेंगे। उधर उन्होंने भी यही विचार किया कि यदि वे ५००) रुपये अपने पास आ जाएँ तो वड़ा अच्छा हो और उन दोनोंको मारनेके लिये उन्होंने भी धनुप वाण रख लिये। जव वे दोनों लड्डू लेकर आये तो इन्होंने धनुष वाणसे उनका काम तमाम किया और जव उन्होंने लड्डू खाए तो वे भी दुनियाँसे चल वसे।

अतः संसारमें परिग्रह ही पंच पापोंके उत्पन्न होनेमें निमित्त होता है। जहाँ परिग्रह है, वहाँ राग है, और जहाँ राग है वहीं आत्माके आकुलता है और जहाँ आकुलता है, वहीं दुःख है एवं जहाँ दुःख हैं वहाँ ही सुख गुणका घात है और सुख गुणके घात हीका नाम हिंसा है। संसारमें जितने पाप हैं उनकी जड़ परिग्रह है। परिग्रहके त्यागे विना अहिंसा तत्त्वका पालन करना असम्भव है।

एक थका हुआ मनुष्य कुँए पर जाकर सो गया। वह स्वप्नमें देखता है कि उसने किसी दुकान पर नौकरी की, वहाँसे कुछ धन मिला तो एक जायदाद मोल ली। फिर वह देखता है कि उसकी शादी हो गई और एक बच्चा भी उत्पन्न हो गया। फिर वह देखता है कि बगलमें बच्चा सोया हुआ है और उसके बगलमें स्त्री पड़ी हुई है। अब उसको स्त्री उससे कहती है कि जरा तनिक सरक जाओ, बच्चेको तकलीफ होती है! वह थोड़ा सरक जाता है। उसकी स्त्री फिर कहती है कि तनिक और सरक जाओ, तनिक और सरक जाओ। अन्ततोगत्वा वह थोड़ा सरकते-सरकते धड़ाम से कुँएमें गिर पड़ा। जब उसकी नींद खुली तो कुआँमें पड़ा हुआ पाया। बड़ा पछताने लगा। उधरसे एक मनुष्य उसी कुँए पर पानी भरने आया। इसने नीचेसे आवाज दी—भाई-मुझे कुँएसे निकाल लो। उसने रस्सी डालकर उसको येनकेन प्रकारेण कुँएमेंसे बाहर निकाला।

जब वह निकल आया तो दूसरा मनुष्य पूछता है 'भाई—तुम कौन हो?'

उसने कहा—'तुम बताओ, तुम कौन हो?'

वह बोला—'मैं एक गृहस्थ हूँ।'

उसने जवाब दिया—'जब एक मुझ गृहस्थकी यह दशा हुई तब दूसरा तू कैसे जिन्दा चला आया?'

गृहस्थीके इस जंजालको देखते हुए भ्रमजालके कारण इस परिग्रहसे मुक्त होनेका उपदेश देना चाहिये। नीतिका वाक्य है, कि **'तन्मित्रं यन्निवर्त्तयति पापात्'** अर्थात् मित्र वही है जो पापसे निर्वृत्त करे। विचार कर देखा जावे तो लोभ ही पापका पिता है। उससे जिसने मुक्ति दिलायी उससे उत्तम हितैषी संसारमें अन्य कौन हो सकता है? परन्तु यहाँ तो लोभको गुरु मानकर हमलोग

उसका आदर करते हैं। जो लोभ त्यागका उपदेश देता है उससे बोलना भी पाप समझते हैं तथा उसका अनादर करनेमें भी संकोच नहीं करते। जो हो यह संसार है, इसमें नाना प्रकारके जीवोंका निवास है। कषायोदयमें नाना प्रकारकी चेष्टाएँ होती हैं। जिन महानुभावोंके उन कषायोंका अभाव हो जाता है, वे संसार समुद्रसे पार हो जाते हैं। हम तो कषायोंके सद्भावमें यही ऊहापोह करते रहते हैं और यही करते-करते एक दिन सभीकी आयुका अवसान हो जाता है। अनन्तर जिस पर्यायमें जाते हैं उसीके अनुकूल परिणाम हो जाते हैं--**गंगामें गंगादास जमुनामें जमुनादास** की कहावत चरितार्थ करते हुए अनन्त संसारकी यातनाओंके पात्र होकर परिभ्रमण करते रहते हैं। इस परिभ्रमण-का मूल कारण हमारी ही अज्ञानता है। हम निमित्त कारणको संसार परिभ्रमणका कारण मानकर साँपकी लकीर पीटते हैं। अतः जिन जीवोंको स्वात्महित करना इष्ट है, उन्हें आत्मनिहित अज्ञा-नताको पृथक् करनेका सर्वप्रथम प्रयास करना चाहिये। उन्हें यही श्रेयोमार्गकी प्राप्तिका उपाय है।

परमार्थसे वीर प्रभुका यही उपदेश था कि यदि संसारके दुःखोंसे मुक्त होनेकी अभिलाषा है तो जिस प्रकार मैंने परिग्रहसे ममता त्यागी, ब्रह्मचर्य व्रतको ही अपना सर्वस्व समझा, राज्यादि बाह्य सामग्रीको तिलाञ्जलि दी, माता-पिता आदि कुटुम्बसे स्नेह त्यागा, दैगम्बरी दीक्षाका अवलम्बन लिया, बारहवर्ष तक अन-वरत द्वादश प्रकारका तप तपा, दश धर्म धारण किये, द्वाविंशति परीषहों पर विजय प्राप्त की, क्षपकश्रेणीका आरोहण कर मोहका नाश किया। और अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त क्षीणकषाय गुणस्थानमें रहकर इसीके द्विचरम समयमें चौदह प्रकृतियोंका नाश किया एवं केवल-ज्ञान प्राप्त किया, इसी प्रकार सबको करना चाहिये। यदि मैं केवल सिद्ध परमेष्ठीका ही स्मरण करता रहता तो यह अवस्था न होती,

वह स्मरण तो प्रमत्तगुणस्थानकी ही चर्या थी। मैंने परिणामोंकी उत्तरोत्तर निर्मलतासे ही अर्हन्त पद पाया है अतः जिन्हें इस पदकी इच्छा हो वे भी इसी उपायका अवलम्बन करें। यदि दैगम्बरी दीक्षाकी योग्यता न हो तो श्रद्धा तो रक्खो जिस किसी तरह बने इस परिग्रह पापसे अवश्य ही आत्माको सुरक्षित रक्खो। परिग्रह सबसे महान् पाप है।

('सुखकी झलक' और 'मेरी जीवनगाथा' से)



त्याग

मूर्छाका त्याग करना त्याग कहलाता है। जो चीज आपकी नहीं है, उसे आप क्या छोड़ेंगे? वह तो छूटी ही है। रुपया, पैसा, धन-दौलत सब आपसे जुदे हैं। इनका त्याग तो है ही। आप इनमें मूर्छा छोड़ दो, लोभ छोड़ दो; क्योंकि मूर्छा और लोभ तो आपका है—आपकी आत्माका विभाव है। धनका त्याग लोभ कषायके अभावमें होता है। लोभका अभाव होनेसे आत्मामें निर्मलता आती है। यदि कोई लोभका त्यागकर मान करने लग जाय—दान करके अहंकार करने लग जाय तो वह मान कषायका दादा हो गया। **'चूल्हेसे निकले भाड़में गिरे'** जैसी कहावत हो गई। सो यदि एक कषायसे बचते हो तो उससे प्रबल दूसरी कषाय मत करो। आपके त्यागसे हमारा लाभ नहीं—आपका लाभ है। आपकी समाजका लाभ है, आपके राष्ट्रका लाभ है। हमारा क्या है? हमें तो दिनमें दो रोटियाँ चाहिये, सो आप न दोगे, दूसरे गाँववाले दे देंगे। आज परिग्रहके कारण सबकी आत्मा थर-थर काँप रही है। रात-दिन चिन्तित हैं—कोई न ले जाय। काँपनेमें क्या रखा है? रक्षाके लिए तैयार रहो। शक्ति सञ्चित करो। दूसरेका मुँह क्या ताकते हो? यह अटूट श्रद्धा रक्खो, जिस कालमें जो बात जैसी होनेवाली है वह उस कालमें वैसी होकर रहेगी।

'यद्भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
नग्नत्वं नीलकंठस्य महाहिशयनं हरेः॥'

यह नीति बच्चोंको हितोपदेशमें पढ़ाई जाती है। जो काम होने-वाला नहीं वह नहीं होगा और जो होनेवाला है वह अन्यथा किसी

प्रकार नहीं होगा। महादेवजी तो दुनियाँके स्वामी थे पर उन्हें एक वस्त्र भी नहीं मिला। और हरि संसारके रक्षक थे उन्हें सोनेके लिये मखमल आदि कुछ नहीं मिला। क्या मिला ? सर्प।

'जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहूँ नहीं होसो काहे होत अधीरा रे॥'

होगा तो वही जो वीतरागने देखा है, जो बात अनहोनी है वह कभी नहीं होगी। दिल्लीकी बात है। वहाँ लाला हरजसराय रहते थे। करोड़पति आदमी थे। बड़े धर्मात्मा थे। जिन पूजनका नियम था। जब गदर पड़ी तब सब लोग इधर-उधर भाग गये। इनके लड़कोंने कहा—पिताजी ! समय खराब है, इसलिये स्थान छोड़ देना चाहिये। हरजसरायने कहा—तुम लोग जाओ मैं वृद्ध आदमी हूँ। मुझे धनकी आवश्यकता नहीं। हमारे जिनेन्द्रकी पूजा कौन करेगा ? यदि आदमी रखा जायगा तो वह भी इस विपत्तिके समय यहाँ स्थिर रह सकेगा, यह सम्भव नहीं। पिताके आग्रहसे लड़के चले गये। एक घण्टे बाद चोर आये। हरजसरायने अपने हाथसे स्वयं तिजोरियाँ खोल दीं। चोरोंने सब सामान इकट्ठा किया। ले जानेको तैयार हुए, इतनेमें एकाएक उनके विचारमें आया कि कितना भला आदमी है ? इसने एक शब्द भी नहीं कहा। लूटनेके लिये सारी दिल्ली पड़ी है, कौन यही एक है, इस धर्मात्माको सताना अच्छा नहीं। हरजसरायने बहुत कहा, चोर एक कणिका भी नहीं ले गये। और दूसरे चोर आकर इसे तङ्ग न करें, इस ख्यालसे उसके दरवाजेपर ५ डाकुओंका पहरा बैठा गये। अतः मेरा तो अब भी विश्वास है कि जो इतना दृढ़ श्रद्धानी होगा उसका कोई बाल बाँका नहीं कर सकता।

"बाल न बाँका करि सके, जो जग हो रिपु होय"

जिसके धर्मपर अटल विश्वास है सारा संसार उसके विरुद्ध हो जाये तो भी उसका वाल वाँका नहीं हो सकता। भय है ही किस वातका ? वह अपने आपको जव अजर अमर, अविनाशी पर-पदार्थसे भिन्न श्रद्धा करता है। उसे जव इस वातका विश्वास है कि परपदार्थ मेरा नहीं है, मैं अनाद्यनन्त नित्योद्योत विशद ज्ञान-ज्योति-स्वरूप हूँ। मैं एक हूँ। परपदार्थसे मेरा क्या सम्वन्ध, अणुमात्र भी परद्रव्य मेरा नहीं है। हमारे ज्ञानमें ज्ञेय आता है पर वह भी मुझसे भिन्न है। मैं रसको जानता हूँ पर नव पदार्थ मेरे नहीं हो जाते। भगवान् कुन्द कुन्द स्वामीने लिखा है—

'अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदाऽरूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि॥'

मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञानमय हूँ, अरूपी हूँ। अधिककी वात जाने दो परमाणु मात्र भी परद्रव्य मेरा नहीं है।

पर वात यह है कि हम लोगोंने तिलीका तेल खाया है, घी नहीं। इसलिये उसे हो सव कुछ समझ रहे हैं। कहा है :—

'तिलतैलमेव मिष्टं येन न दृष्टं घृतं क्वापि।
अविदितपरमानन्दो जनो वदति विषय एव रमणीयः॥'

जिसने वास्तविक सुखका अनुभव नहीं किया वह विषय सुख-को ही रमणीय कहता है। इस जीवकी हालत उस मनुष्यके समान हो रही है जो सुवर्ण रखे तो अपनी मुट्ठीमें है पर खोजता फिरता है अन्यत्र। अन्यत्र कहाँ धरा ? आत्माकी चीज आत्मामें ही मिल सकती है।

एक भद्र प्राणी था। उसे धर्मकी इच्छा हुई। मुनिराजके पास पहुँचा, मुझे धर्म चाहिये। मुनिराजने कहा-भैया ? मुझे और वहुत-

सा काम करना है। अतः अवसर नहीं। इस पासकी नदीमें चले जाओ, उसमें एक नाकू रहता है। मैंने उसे अभी-अभी धर्म दिया है वह तुम्हें दे देगा। भद्र प्राणी नाकूके पास जाकर कहता है कि मुनिराजने धर्मके अर्थ मुझे आपके पास भेजा है धर्म दीजिये। नाकू बोला--अभी लो एक मिनिटमें, पर पहले एक काम मेरा कर दो। मैं बड़ा प्यासा हूँ, यह सामने किनारेपर एक कुँआ है उससे लोटा भर पानी लाकर मुझे पिला दो, फिर मैं आपको धर्म देता हूँ। भद्र प्राणी कहता है--तू बड़ा मूर्ख मालूम होता है, चौबीस घण्टे तो पानीमें बैठे हो और कहते हो कि मैं प्यासा हूँ! नाकूने कहा--महाशय! जरा अपनी ओर भी तो देखो। तुम भी चौबीसों घण्टे धर्ममें बैठे हो, इधर-उधर धर्मकी खोजमें क्यों फिर रहे हो? धर्म तो तुम्हारी आत्माका स्वभाव है, वह अन्यत्र कहाँ मिलेगा?

सम्यग्दृष्टि सोचता है जिस कालमें जो बात होनेवाली होती है उसे कौन टाल सकता है? भगवान् आदिनाथको ६ माह आहार नहीं मिला। पांडवोंको अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान होनेवाला था, ज्ञान कल्याणकका उत्सव करनेके लिये देवलोग आनेवाले थे। पर इधर उन्हें तप्त लोहेके जिरहवख्तर पहिनाये जाते हैं। देव कुछ समय पहिले और आ जाते? आ कैसे जाते! होना तो वही था जो हुआ था। यही सोचकर सम्यग्दृष्टि न इस लोकसे डरता है, न परलोकसे। न उसे इस बातका भय होता है कि मेरी रक्षा करनेवाले गढ़ कोट आदि कुछ भी नहीं है। मैं कैसे रहूँगा? न उसे आकस्मिक भय होता है और सबसे बड़ा मरणका भय होता है सो सम्यग्दृष्टिको वह भी नहीं होता। वह अपनेको सदा अनाद्यनन्त नित्योद्योत विशद ज्ञानज्योति-स्वरूप मानता है। सम्यग्दृष्टि जीव संसारसे उदासीन होकर रहता है। तुलसीदासने एक दोहेमें कहा है--

'जग तै रहु छत्तीस हो रामचरण छह तीन।'

संसारसे छत्तीस ३६ के समान विमुख रहो और रामचन्द्रजीके चरणोंमें ६३ के समान सम्मुख।

वास्तवमें वस्तु तत्त्व यही है कि सम्यग्दृष्टिकी आत्मा बड़ी पवित्र हो जाती है, उसका श्रद्धान गुण वड़ा प्रवल हो जाता है। यदि श्रद्धान न होता तो यह बीसों उपवास करनेवाले क्या ऐसा करते ? यदि धर्मका श्रद्धान न होता तो इतना क्लेश फौकटमें कौन सहता ? पाप करके लक्ष्मीका संचय जिनके लिये करना चाहते हो वे उसके फल भोगनेमें शामिल न होंगे। वाल्मीकिका किस्सा है, वाल्मीकि जो एक वड़ा ऋषि माना जाता है, चोरी डकैती करके अपने परिवारका पालन करता था। उसके रास्ते जो कोई निकलता उसे वह लूट लेता था। एक वार एक साधु निकले। उनके हाथमें कमण्डलु था। वाल्मीकिने कहा रख दो यहाँ कमण्डलु। साधुने कहा वच्चे यह तो डकैती है, इसमें पाप होगा। वाल्मीकिने कहा—मैं पाप-पुण्य कुछ नहीं जानता, कमण्डलु रख दो। साधुने कहा—अच्छा, मैं यहाँ खड़ा रहूँगा, तुम अपने घरके लोगोंसे पूछ आओ कि मैं एक डकैती कर रहा हूँ उसका जो फल होगा उसमें तुम शामिल हो, कि नहीं ? लोगोंने टका-सा जवाव दे दिया तुम चाहे डकैती करके लाओ चाहे साहूकारीसे। हम लोग तो खाने भरमें शामिल हैं। वाल्मीकिको बात जम गई और वापिस आकर साधुसे वोला—वावा मैंने डकैती छोड़ दी। आप मुझे अपना चेला वना लीजिये।

वास्तविक वात यही है। आपलोग पुण्य-पापके द्वारा जिनके लिये सम्पत्ति इकट्ठी कर रहे हो वे कोई साथ देनेवाले नहीं हैं। अतः समय रहते सचेत हो जाओ। देखें, आप लोगोंमेंसे कोई हमारा साथ देता है या नहीं।

('सुखकी झलक' से)

●

बन्ध

अध्यवसाय भाव ही बन्धका कारण है। बाहिरी क्रिया कोई बन्धका कारण नहीं है परन्तु अन्तरंगमें जो विकारी भाव होते हैं वही बन्धके कारण हैं।

जैसे, किसीने किसीको मार डाला, तो मारनेसे बन्ध नहीं हुआ पर अन्तरंगमें जो उसके मारनेके भाव हुए उससे बन्ध हुआ। कोई पूछे कि बाह्य वस्तु जब बन्धका कारण नहीं है तो उसका निषेध किसलिये किया जाता है कि बाह्य वस्तुका प्रसङ्ग मत करो, त्याग करो। उसका समाधान यह है कि बन्धका कारण निश्चय नयसे अध्यवसान ही है और बाह्य वस्तुएँ अध्यवसानका आलम्बन हैं। उनकी सहायतासे अध्यवसान उत्पन्न होता है इसलिये अध्यवसान कारण कहा जाता है। बिना बाह्य वस्तुके अवलम्बनके निराश्रय अध्यवसान भाव नहीं उपजता। इसीसे बाह्य वस्तुका त्याग कराया गया है।

सच्चा त्याग—

हम परपदार्थोंका त्याग करना ही सच्चा त्याग समझ लेते हैं। परन्तु वास्तवमें परपदार्थ हमारा है कहाँ? जिसका हम त्याग करनेके हकदार कहलाते हैं, वह तो जुदा है। अतः परपदार्थका त्याग, त्याग नहीं। सच्चा त्याग तो अन्तरंगकी मूर्छाका होता है। हमने उस पदार्थसे अपनी मूर्छा हटा ली तो उसका स्वतः त्याग हो गया। अतः प्रवृत्तिकी ओर मत जाओ, निवृत्ति पर ध्यान दो। कोई कहता है कि हमने १००) रुपयेका दान कर दिया। अरे

मूरख, १००) रुपये तुम्हारे हैं कहाँ, जो तुमने दान कर दिये। वे तो जुदे ही थे। तिजोड़ीसे निकालकर दानशालामें धर दिये। तो रुपयेका त्याग करना दान देना नहीं हुआ, पर अन्तरङ्गमें जो तुम्हारी मूर्छा उन रुपयोंके प्रति लग रही थी वह दूर हो गई। अतः मूर्छाका त्याग करना वास्तविक त्याग कहलाया। कोई कहता है कि हमने इतने परिग्रहका त्याग कर दिया, अमुक परिग्रहका प्रमाण कर लिया तो क्या वह परिग्रहका प्रमाण हो गया ? नहीं। परिग्रह-प्रमाणव्रत नहीं हुआ। परिग्रहप्रमाणव्रत तब हुआ जब तुम्हारी इच्छा इतनी कम हो गई। तुम्हारा मन जो दौड़-धूप कर रहा था अब उस पर कन्ट्रोल हो गया, उस पर विजय पा ली अतः इच्छा जितनी कम हुई उतना प्रमाण हुआ इसलिये त्याग कहलाया।

कोई किसीको नहीं मारता जिलाता—

यह कहना कि मैं इसको जिलाता हूँ और इसको मारता हूँ, मिथ्या अभिप्राय है। कोई किसीको मारता और जिलाता नहीं है सब अपनी-अपनी आयुसे जीवित रहते हैं और आयुके निषेक पूरे होनेसे मरणको प्राप्त होते हैं। आचार्य कहते हैं अरे, क्या तेरे हाथमें आयु है जो तू दूसरेको जिलाता तथा मारता है ? निश्चयनय करके जीवके मरण है वह अपने आयु कर्मके क्षयसे होता है। और अपना आयु कर्म अन्य कर हरा नहीं जा सकता। इसलिए अन्य अन्यका मरण कैसे कर सकता है ? इसी तरह जीवोंका जीवन भी अपने आयु कर्मके उदयसे हो है।

कोई किसीको सुखी दुःखी नहीं करता—

मैं परजीवको सुखी दुखी करता हूँ और मुझे परजीव सुखी दुखी करते हैं, यह भी मानना अज्ञान है, क्योंकि सुख दुख सब जीवोंका अपने कर्मके उदयसे होता है और वह कर्म अपने-अपने

परिणामोंसे उत्पन्न होता है। इस कारण एक दूसरेको सुख दुख कैसे दे सकता है? मैनासुन्दरीको ही देखो। अपने पितासे स्पष्ट कह दिया कि मैं अपने पुरुषार्थसे खाती हूँ। उसके पिताने कोढ़ी श्रीपालसे उसका विवाह कर दिया। पर मैनाने सिद्ध चक्रका विधान रचकर उसका कोढ़ भी दूर कर दिया। पर विचार करो क्या उसने पतिका कोढ़ दूर कर दिया? अरे उसके पुण्यका उदय होना था कोढ़ दूर हो गया। उसका मिलना था सो निमित्त मिल गया। पर क्या वह ऐसा नहीं जानती थी? अतः सब अपने भाग्यसे सुखी और दुखी हैं।

समयसारमें लिखा है:—

'सर्वं सदेव नियतं भवति स्वकीय—
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःख-सौख्यम् ॥
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात् पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥'

इस लोकमें जीवोंके जो मरण, जीवन, दुःख और सुख होते हैं वे सब स्वकीय कर्मोंके उदयसे होते हैं, ऐसा होने पर भी जो ऐसा मानते हैं कि परके द्वारा परके जीवन मरण, दुःख और सुख होते हैं—यह अज्ञान है।

कोई किसीको नहीं बाँधता छोड़ता——

कोई कहे कि मैं इसको मोचन करता हूं और इसको बाँधता हूँ तो यह भी मिथ्या है। तुमने अपना अभिप्राय तो ऐसा कर लिया कि **'एनं मोचयामि'** मैं इसको मोचन करता हूँ, और **'एनं बन्धयामि'** मैं इसको बाँधता हूँ। पर जिससे ऐसा कहा कि **'एनं मोचयामि'** मैं इसको मोचन करता हूँ और उसने सराग परिणाम

कर लिया तो कहाँ वह मुक्त हुआ ? और जिससे ऐसा कहा कि **'एनं बन्धयामि'** मैं इसको बाँधता हूँ उसने वीतराग परिणाम कर लिये तो वह मुक्त हो गया। और तुमने कुछ भी अभिप्राय नहीं किया एकने सराग परिणाम कर लिये और दूसरेने वीतराग भाव कर लिये, तो पहिला बन्ध गया और दूसरा मुक्त हो गया। इसलिये यह बन्धन क्रिया और मोचन क्रिया तुम्हारे हाथकी बात नहीं है। तुम अपने पदार्थके स्वामी हो और परपदार्थ अपनेका है। तुम दूसरे पदार्थको अपनी इच्छानुकूल परिणमाना चाहो तो वह त्रिकालमें नहीं हो सकता। अतः **'एनं मोचयामि'** मैं इसको मोचन करता हूँ और **'एनं बन्धयामि'** इसको बाँधता हूं ऐसा अभिमान करना व्यर्थ है और उससे उल्टा कर्मका बन्धन होता है। हाँ तुम अपना अभिप्राय निर्मल रक्खो दूसरा चाहे कुछ भी अभिप्राय रक्खे।

निर्मल अभिप्राय—

निर्मल अभिप्राय ही मोक्षमार्ग है। तुम पाठ पूजन खूब करो पर अभिप्राय निर्मल नहीं तो कुछ नहीं। अब देखो, तुम कहते हो न **'प्रभु पतित पावन'**। अरे, प्रभु थोड़े ही पतित पावन है। तुमने उतने अंशमें अपने अभिप्राय निर्मल कर लिये तुम ही पतितसे पावन हो गये। प्रभु क्या पावन करेंगे। तुमने प्रभुको कारण बना लिया, पर कार्य हुआ तुममें। इसीलिये कविवर पं० दौलतराम जी अपनी स्तुतिमें लिखते हैं कि—

मुझ कारज के कारण सु आप
सा करो हरो मम मोह ताप ॥

और भगवान्की महिमाको कौन जान सकता है। भगवान्की महिमा भगवान् ही जाने। हम मोही जीव उनकी महिमाको क्या जान सकते हैं, तो प्रयोजनीय बात इतनी ही है कि परपदार्थ हमारी

श्रद्धामें आ जाय कि ये हमारी चीज नहीं है। तो फिर संसार बन्धनसे छूटनेमें कोई वड़ी बात नहीं है। समझ लो रागद्वेषादिक परकृत विकार हैं, मेरे शुद्ध स्वभावको घातनेवाले हैं इसलिये छोड़नेका प्रयत्न करो। सम्यक्त्वीके यही श्रद्धान तो दृढ़ हो जाता है। वह जानता है कि मेरा आत्मा तो स्वच्छ स्फटिक समान है। ये जितने भी औपाधिक भाव होते हैं, वे मोहके निमित्तसे होते हैं। अतः उन्हें छोड़नेका पूर्ण प्रयत्न करता है। हमलोग बाह्य चारित्रके पालनमें आतुर हो जाते हैं।

निर्मल श्रद्धा—

चारित्रमें क्या है। सबसे वड़ी श्रद्धा है। भगवान् आदिनाथने ८३ लाख पूर्व गृहस्थीमें व्यतीत कर दिये। एक पुत्रको इस बगलमें बिठालते रहे और दूसरेको दूसरी बगलमें। नाना प्रकारकी ज्योतिष और गणितविद्या भी बतलाते रहे। यह सब क्या, परन्तु बन्धुओ, चारित्रमोहकी मन्दता हुई तो घर छोड़नेमें देर न लगी। तो हमें चारित्रमें इतना यत्न न करना चाहिये। चारित्र तो कालान्तर पाके हो ही जायगा। चारित्र पालनेमें उतनी बड़ाई नहीं है जितनी श्रद्धा लानेमें। श्रद्धामें अमोघ शक्ति है। यथार्थ श्रद्धा ही मोक्षमार्ग है। सम्यक्त्वीके श्रद्धाकी ही तो महिमा होती है। वह परपदार्थोंका भोग नहीं करता सो बात नहीं है। पर श्रद्धामें जान जाता है कि 'अरे यह तो पराई हैं।' अब देखिये लड़की जब पैदा होती है तब माँ अन्तरंगमें जान ही तो जाती है कि यह पराई है। वह उसका पालन-पोषण नहीं करती सो बात नहीं है वह पालती है, उसे बड़ा करती है, उसका विवाह भी रचाती है और जब पर घर जानेको होती है तब रोती भी है; चिल्लाती है और थोड़ी दूर तक साथ भी जाती है, पर कव तक? यही हाल उसका होता है। वह भोग भोगता है, युद्ध करता है, अदालतमें मुकदमा भी लड़ता है पर कब

तक ? और हम आपसे पूछते हैं, उसके काहेके भोग हैं ? विल्ली चूहेको पकड़ लेती है और लाठी मारने पर भी नहीं छोड़ती, भोग तो वह कहलाते हैं। हरिण मुखमें तृण लिये हुए है पर यों ताली फटकारी चौकड़ी भरकर भाग खड़ा हुआ तो वह काहेका भोग ? भोग तो वही है जिसमें आसक्ति हो, उसमें उपादेय वुद्धि हो। अब मुनिको ही देखो। क्या उनके स्त्री परीषह नहीं होती ? होती है, पर जैसी हमको होती है वैसी उनको नहीं है। क्या उनको क्षुधाका वेदन नहीं होता ? यदि वेदन नहीं होता तो आहार लेनेके वास्ते जाते ही क्यों हैं ? क्षुधाका वेदन होता है पर वह उस चालका नहीं है। निरन्तराय भोजन मिला तो कर लिया नहीं तो वापिस लौट आते हैं। किसी कविने कहा है :—

अपराधिनि चेत्क्रोधः क्रोधे क्रोधः कथं न हि।
धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णां परिपन्थिनि ॥

यदि अपराधी व्यक्तिपर क्रोध करते हो तो सबसे वड़ा अपराधी क्रोध है उसीपर क्रोध करना चाहिये, क्योंकि वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका शत्रु है। अच्छा वतलाओ किसपर तोष-रोष करे। हम जितने भी पदार्थ संसारमें देखते हैं, सव अचेतन ही तो हैं और चेतन है सो दिखता नहीं है। जैसे हमने तुमपर क्रोध किया, तो क्रोध जिसपर किया वह अचेतन है और जिसपर करना चाहते हो वह दिखता नहीं अमूर्तिक है। अतः हमारी समझमें तो रागद्वेषादिक करना सव व्यर्थ है।

अपनी आत्माका उद्धार करो—

अपना कल्याण करे दुनियाँको न देखे। जो दुनियाँको तो शिक्षा करे और अपनी ओर न देखे तो उससे क्या लाभ ? अरे अनादि कालसे हमने परको वनानेकी कोशिश की है और फिर भी परको

बनानेमें अपनेको चतुर समझते हैं तो उस चतुराईको धिक्कार है जो दूसरोंको उपदेश करे, व अपने आत्माके हितका नाश करे। उस आँखसे क्या लाभ जिसके होते हुए भी गड्ढेमें गिर पड़े। उस ज्ञानसे भी क्या जो ज्ञानी होकर विषयोंके भीतर पड़ जावे। इसलिये केवल अपनेको बनाए। जिसने अपनेको नहीं बनाया वह दूसरोंको भी क्या बना सकता है? अपनेको बनाना ही संसार बन्धनसे छूटनेका प्रयास है। यही मोक्षकी कुन्जी है।

एक धुनियाँ था। वह कहीं कामसे चला जा रहा था। मार्गमें उसने रूईसे भरे जहाजोंको आते हुए देख लिया। उसने सोचा—हाय! यह तो मुझे धुननी पड़ेगी। ऐसा सोचते ही घरमें आकर वह बीमार पड़ गया। उसके लड़केने पूछा—पिताजी! क्या बात हो गई? वह बोला—'कुछ नहीं'! वैसे ही तबियत खराब हो गई है। लड़केने बहुत डाक्टरों और वैद्योंका इलाज करवाया पर वह अच्छा नहीं हुआ। अन्तमें एक आदमीको मालूम हुआ और उसने लड़केसे पूछा—तेरे पिताजीकी कैसी तबियत है? वह बोला—कुछ नहीं, उन्होंने कहीं रूईसे भरे हुए जहाजोंको देख लिया है इस कारण बीमार पड़ गये हैं। उस आदमीने सोचा कि अरे वह धुनिया तो है ही शायद उसने समझा होगा कि यह रूई कहीं मुझे ही धुननी पड़े। वह बोला—देखो, हम तुम्हारे पिताजीको अच्छा कर देंगे लेकिन १००) रुपये लेंगे। लड़केने मंजूर कर लिया।

उस आदमीने उसी समय उसके घर जाकर एक गिलास पानी लिया और कुछ मन्त्र पढ़कर कुछ राख डालकर धुनियासे बोला इस गिलासका पानी पी जाओ। उस धुनियेने वैसा ही किया और वह पानी पी लिया। तब वह आदमी बोला—'देखो' उन रूईसे भरे हुए जहाजोंमें आग लग गई। इतना कहना था कि वह झट बोल

उठा—क्या सचमुच उन जहाजोंमें आग लग गई। उसने कहा—हाँ। तुरन्त ही वह भला चंगा हो गया? इसी प्रकार हम भी पर-पदार्थोंको लक्ष्य कर यह सोच रहे हैं कि हमें यह करना है, वह करना है। इसी कारण रोगी वने हुए हैं और जव अपने स्वरूप पर दृष्टिपात करते हैं तव प्रतीत होता है कि हमें कुछ नहीं करना है। केवल अपने पदको पहिचानना है।

('सुखकी झलक' से)

●

बन्ध मुक्ति

आत्माके केवल एक राग ही बन्धका कारण है। जैसे तैल मर्दनयुक्त पुरुष अखाड़ेकी भूमिमें धूलिसे लिप्त हो जाता है वैसे ही रागादिककी चिकनाहट जीवको वन्ध करानेवाली है।

निश्चयसे केवल अन्तरंगका अध्यवसान ही बंधका कारण होता है चाहे वह शुभ हो अथवा अशुभ। वाह्य वस्तुओंसे बन्ध नहीं होता वह तो अध्यवसानका कारण है। इसीलिए चरणानुयोगकी पद्धतिसे बाह्य वस्तुओंका निषेध किया जाता है, क्योंकि जहाँ कारण होता है वहीं कार्यकी सिद्धि है। अतः आचार्योंने पराश्रित व्यवहार सभी छुड़ाया है केवल शुद्ध आनन्द-स्वरूप अपनी आत्माका ही अवलम्ब ग्रहण कराया है। अब देखिए सम्यग्दृष्टिके चारित्रको कुचारित्र नहीं कहा और द्रव्यलिंगी मुनि जो एकादश अंगके पाठी हैं फिर भी उनके चारित्रको कुचारित्र बतला दिया। तो केवल पढ़नेसे कुछ नहीं होता जिस पठन-पाठनके फलस्वरूप जहाँ आत्माको बोधका लाभ होना चाहिए था वह नहीं हुआ तो कुछ भी नहीं किया।

शरीरकी अपेक्षा हृदयको सजाइये—

हम नित्य पुस्तकोंको खोलते हैं, उनपर सुन्दर-सुन्दर गत्तेके आवरण भी चढ़ाते हैं पर अन्तरंगका कुछ भी ख्याल नहीं करते तो क्या होता है ? अतः सब अन्तरंगसे ही बन्धकी क्रिया होती है। यदि स्त्री भी त्यागी, घर भी त्यागा और दिगम्बर भी हो गए, पर अन्तरंगकी राग द्वेषमयी परिणतिका त्याग नहीं हुआ तो कुछ भी त्याग नहीं किया। साँपने केचुलीका त्याग कर दिया पर अन्तरंगका जो विष है उसका त्याग नहीं किया तो क्या फायदा ? जबतक आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग नहीं होता तबतक किञ्चित् भी त्याग

नहीं कहलाता। अब देखिये, कुत्तेको लाठी मारी जाती है तो वह तो लाठी पकड़ता है, परन्तु सिंहका यह कायदा है कि वह लाठीको न पकड़ मनुष्यको ही पकड़ता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अन्तरंग परिग्रह जो रागादिक हैं उन्हें हटानेका यत्न करता है पर मिथ्यात्वी ऊपरी टीपटापमें ही धर्म मान बैठता है। एक प्रातःकालकी ललामी हैं तो एक सायंकालकी ललामी। प्रातःकालकी ललामी तो उत्तर कालमें प्रकाशका कारण है और सायंकालकी ललामी उत्तर कालमें अन्धकारका कारण है दोनों हैं ललामी ही। अतः यह सब अन्तरंगके परिणामोंकी जाति है। सुदर्शन सेठको रानीने कितना फुसलाया पर वह अपने सम्यक् परिणामोंपर दृढ़ बने रहे। तो बाह्यसे कुछ भी क्रिया करो, क्या होता है?

अन्तःकलुषताके कारण त्यागिये—

हम बाह्य निमित्तोंको हटानेका प्रयत्न करते हैं, इन निमित्तों-को हटानेसे क्या होगा? हम आपसे पूछते हैं। किस किसको बाह्य निमित्त बनाकर हटाओगे? तीनों लोकोंमें निमित्त भरा पड़ा है। अतः वह अन्तरका निमित्त हटाओ जिसकी वजहसे अन्य निमित्तों-को हटानेका प्रयत्न किया जाता है। अन्तरंगसे वह कलुषता हटाने-की आवश्यकता है जिससे बन्ध होता है। तुम चाहे कुछ भी कार्य करो पर अन्तरंगमें जैसे तुम्हारे अध्यवसान है उसीके अनुसार बन्ध होगा। एक मनुष्यने दूसरेको तलवारसे मारा तो तलवारको कोई फाँसी नहीं देता। मनुष्य ही फाँसी पर लटकता है। तो बाह्य वस्तुओंको त्यागनेकी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है अन्तरंगके रागादिक त्यागकी। सम्यक्त्वी क्रोध भी करता है पर अन्तरंगसे जानता है कि ये मेरे निज स्वभावकी चीज नहीं है। औदयिक परि-णाम हैं, मिटनेवाली चीज है। अतः त्यागनेका प्रयत्न करता है। वह त्यागको ही सर्वस्व मानता है। पंचम गुणस्थान देशव्रतमें अव्रतका

त्याग किया, अप्रमत्तमें प्रमादका त्याग किया और आगे चढ़ा तो सूक्ष्मसांपरायमें लोभका त्याग किया और क्षीणमोहमें मोहका त्याग-कर एक निज शुद्ध स्वरूपमें ही रह गया। इससे धर्मका उपदेश त्याग प्रधान है। हम लोग बाह्य वस्तुओंका त्यागकर अशान्तिको बढ़ा लेते हैं। अरे, त्यागका यह मतलब थोड़े ही था। त्यागसे तो सुख और शान्तिका उद्भव होना चाहिए था, परन्तु यह नहीं हुआ तो त्यागसे क्या लाभ हुआ ? त्यागका अर्थ ही आकुलताका अभाव है। बाह्य त्यागकी वहींतक मर्यादा है जहाँतक वह आत्मपरिणामोंमें निर्मलताका साधक हो। तो आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग परमावश्यक है परन्तु परिग्रहका त्याग बहुत कठिन है, कोई सामान्य बात नहीं है। परिग्रहसे ही देखो सारे झगड़े हैं। यदि तुम्हारे पॉकेटमें दाम रखे हुए हैं तो उनके कट जानेका भय है। मुनि हैं नंगे हैं तो उन्हें काहेका भय, बताओ। तो परिग्रह त्यागमें ही सुख है। तुम परिग्रहको मत त्यागो पर उसके दोष तो जानो, यह तो मानो कि संसार बेलको बढ़ानेवाली है। भोजन खानेका निषेध नहीं है; परन्तु उसमें जो दोष हो उसे तो मानो : समझो कि वस्तुतः उसमें स्थायी आस्वाद नहीं है। भगवान्‌का पूजन भी करो; परन्तु यह तो मानो कि साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं है। अतः अन्तरङ्गमें एक केवल शुद्धात्माका ही अनुभव करो।

मोहके चक्रसे बचिये—

"हम तुम एक हैं" यह मोहकी महिमा तो देखो। हम और तुम अलग-अलग कहता ही जा रहा है और एक बतला रहा है कि "हम तुम एक हैं।" अब तुम देखो मुनिके पास जाओ तो क्या कहेंगे ? यही कि हम सरीखे हो जाओ। और क्या ? घर छोड़ो, बाल बच्चे छोड़ो और नंग धड़ंग हो जाओ तो क्या करें उनके उसी जातिका मोह है। जैनी कहते हैं कि सब संसार जैनी हो जाए।

मुसलमान सवको मुसलमान हो जानेको कहते हैं और ईसाई सवको ईसाई वनाना चाहते हैं। तो सव अपनी अपनी ढपली अपना-अपना राग अलापते हैं, क्योंकि उनके पास उसी प्रकारका मोह है। अतः मोहकी विलक्षण महिमा है। मुनि तो चाहते हैं कि सव संसार मुनि हो जाए पर होय कैसे? संसारका चक्र हो ऐसा चला आया है।

कोई कहे कि हमारी आत्मा तो भोजन करती ही नहीं इसलिए हम भोजन क्यों करें? मत करो। कौन कहता है कि तुम भोजन करो। पर दो ही दिन वाद क्षुधाकी वेदना सताने लगेगी, क्योंकि मोहकी सत्ता विद्यमान है। उसके होते हुए भोजन कैसे नहीं करोगे? हाँ, मोह जिनके नष्ट हो गया है उनको कोई क्षुधाकी वेदना नहीं है। औदारिक शरीर होते हुए भी उसकी वेदना उनको नहीं सताती। अतः मोहमें ही क्षुधा लगती है।

शक्तिके अनुसार ही त्याग कीजिये--

कार्य धीरे-धीरे होता है। देखिये कि वृक्ष भी समय पर ही फूलता-फलता है। एक मनुष्य था। वह मार्गमें चला जा रहा था। उसने एक वुढ़ियाको जाड़ेमें ठिठुरते हुए देखा। उसपर उसे दया आ गई और अपना कम्वल उसे दे दिया। पर जाड़ा वहुत पड़ रहा था। उसे ठंड सहन नहीं हुई तो आप किसी मकानमें घुस गया और वहाँ छप्पड़ खींचने लग गया।

'कौन है' मकानवालेने पूछा।

वह वोला—'मैं हूँ धर्मात्माका दादा।'

वह तुरन्त आया और उससे छप्पर खींचनेका कारण पूछा। उसने कहा—'मेरे पास एक कम्वल था सो मार्गमें मैंने एक वुढ़ियाको दे दिया। पर मुझे ठंड वहुत लग रही थी तो मैं यहाँ चला आया।'

मकानवालेने कहा—अरे, जब तुझपर ठंड सहन नहीं हुई तो अपना कम्बल उस बुढ़ियाको ही क्यों दिया ?'

वह चुप रहा और धीरेसे निकलकर अपना मार्ग जा नापा। तो तात्पर्य यही कि अपनी जितनी शक्ति हो उसीके अनुसार कार्य करना चाहिए। मान बड़ाईमें आकर शक्तिसे परे आचरण करना तो उल्टी अपनी पूँजी खोना है।

वास्तवमें यदि विचार किया जाय तो कल्याण करनेमें कुछ नहीं है। केवल उस तरफ हमारा लक्ष्य नहीं है। जब नकुल शूकर और वानर आदि तिर्यंचोंने अपना कल्याण कर लिया तो हम तो मनुष्य हैं, संज्ञी पंचेन्द्रिय हैं। क्या हम अपना कल्याण नहीं कर सकते ? अवश्य कर सकते हैं।

मनुष्यको देवसे बड़ा समझिये—

मनुष्य यदि चाहे तो देवोंसे भी बड़ा बन सकता है। अभी त्याग-मार्गको अपना ले तो आज वह देवोंसे बड़ा बन जाय। मनुष्य वास्तवमें क्या नहीं कर सकता ? वह तप, यम, संयम सब कुछ पाल सकता है जो देवोंको परम दुर्लभ है। वे देव यदि तप करना चाहें अथवा संयम पालना चाहें तो नहीं पाल सकते। ऊपर-से हजारों वर्ष तक नहीं खावें पर अन्तरमें तो उनकी चाह खानेकी नहीं मिटती। मनुष्य पर्याय क्यों उत्तम बतलाई है, इसीसे कि उसमें बाह्याभ्यन्तर त्याग करनेकी शक्ति है। अरे देव ज्यादासे ज्यादा नदीश्वर द्वीप चले गये, पञ्च कल्याणके उत्सव देख लिए और क्या है ? चौथे गुणस्थानसे तो आगे नहीं बढ़ सकते। पर मनुष्य यदि चाहे तो चौदह गुणस्थान पार कर सकता है—यहाँ तक कि वह सर्वार्थसिद्धिके देवों द्वारा पूजनीय हो सकता है। और तुम चाहो तो कुछ बन जाओ। चाहे पाप करके नरक चले जाओ। चाहे पुण्योपार्जन करके स्वर्गमें, और पाप-पुण्यको नाश कर चाहे मोक्ष

चले जाओ। २५ गत्यागति हैं, चाहे किसीमें भी चले जाओ। यह तुम्हारे हाथकी बात है।

अपने पदको पहचानिये--

माघनन्दि आचार्यको ही देखो। दूसरे आचार्यने शिष्यसे कहा-उस माघनन्दि आचार्यके पास जाओ, वही प्रश्नका उत्तर देंगे। तो क्या उनको उस प्रश्नका उत्तर नहीं आता था? पर क्या करें? उनको किसी तरह जो अपना पद वतलाना था। अतः अपने पदको पहिचानो। यही एक अद्वैत है। उसीका केवल अनुभव करो। और देखो, यदि अनुभवमें आवे तो उसे मानो अन्यथा कोई वाध्य नहीं करता। कुन्दकुन्दाचार्यने यही कहा कि अनुभवमें आवे तो मानो नहीं तो मत मानो। वाध्य होकर मानना कोई मानना नहीं हुआ करता। कोई कहे आत्मा तो अमूर्तिक है, वह दिखती ही नहीं तो उसे देखनेकी क्या चेष्टा करें? तो कहते हैं कि वह दिखनेकी चीज ही नहीं है, अनुभवगोचर है। लोकमें भी देखो जिसको वातरोग हो जाता है उसका दुःख वही जानता है। वाह्यमें वह रोग प्रकट नहीं दिखता पर जिसके दर्द है उसे ही अनुभव होता है। इसी तरह आत्मा एक अनुभवकी चीज है। आचार्योंने स्पष्ट लिख दिया—

'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥'

यह देवका स्वरूप है। निरारम्भी गुरु है। दयामयी धर्म है। अथवा जिस वस्तुका जो स्वभाव है उसका वही धर्म है। यदि यह अनुभवमें आवे तो मानो नहीं तो मत मानो। अतः जिस तरह आत्मा अनुभवमें आवे वही उपाय श्रेयस्कर है।

अपनेको परद्रव्यका कर्ता मत मानिये--

सव द्रव्योंके परिणाम जुदे-जुदे हैं। अपने-अपने परिणामोंके सव

कर्ता हैं। जीव अपने परिणामोंका कर्ता है और अजीव अपने परिणामोंका। यह निश्चय नयका सिद्धान्त है। पर मनुष्यको जब तक भेद-ज्ञान प्रकट नहीं होता तब तक वह अपनेको परद्रव्योंका कर्ता अनुभव करता है। लेकिन परद्रव्योंका कर्ता त्रिकालमें नहीं होता। जैसे तन्तुवायने ताना बाना करके वस्त्र तैयार किया, पर तन्तुवायका क्या एक अंश भी वस्त्रमें गया ? वस्त्रका परिणमन वस्त्रमें हुआ और तन्तुवायका परिणमन तन्तुवाय में। पर तन्तुवायने वस्त्र बनाया ऐसा सब कोई व्यवहारसे कहता है पर निश्चयसे ऐसा नहीं है। वस्त्रकी क्रिया वस्त्रमें ही हुई है। अतः वह वस्त्रका कर्ता नहीं है। ज्ञानी केवल अपने ज्ञानका कर्ता है। वह दूसरे ज्ञेयोंको जानता है। यदि पूर्वोपार्जित कर्मका उदय भी आता है तो उस कर्मफलको वह जानता ही है अतः समतासे भोग लेता है।

परद्रव्यको अपना मत समझिये—

हम परद्रव्यको अपना मान लेते हैं तभी दुखी होते हैं। कोई इष्ट वस्तुका वियोग हुआ तो दुखी होकर चिल्लाने लगे। क्यों ? उसे अपनी मान लिया। कोई अनिष्ट वस्तुका संयोग हो गया तो आर्तध्यान करने लगे। यह सव पराई वस्तुको अपना माननेका कारण है। परको आपा मानना मिथ्या है। यदि पुत्र उत्पन्न हुआ समझो हमारा नहीं है। स्त्री भी घरमें आई तो समझो पराई है। ऐसा समझने पर उनका वियोग भी हो जायगा तो तुम्हें दुःख नहीं होगा। अब देखो मुनि जब विरक्त हो जाते हैं तो स्त्रीसे ममत्व बुद्धि ही तो हटा लेते हैं। और जब वह स्त्री मुनिको पड़गाह लेती है तो क्या आहार नहीं लेते ? और उनके हाथमें भोजन भी रखती है तो क्या आँख मीच लेते हैं ? नहीं। उसे देखते हैं, आहारको भी शोधकर खाते हैं पर उससे मूर्छा हटा लेते हैं। दुनियाँ भरके कार्य करो कौन निषेध करता है ? पुत्रको पालो, कुटुम्बको खिलाओ पर अपने-

से जुदा समझो। इसी तरह पुद्गलको खिलाओ पिलाओ पर समझो हमारा नहीं है। यदि इसे खिलाओगे नहीं तो वताओ काम कैसे देगा ? अरे, हाड़ मांस चाम वने रहो इससे हमारा क्या विगड़ता है ? बने रहो, पर इसे खिलाओ नहीं यह कहाँका न्याय है ? इसे खिलाओ पिलाओ पर इससे काम भी पूरा लो। नौकरको मत खिलाओ तो देखें कैसे काम करेगा ? मुनि क्या शरीरको खिलाते नहीं हैं ? इसे खिलाते तो हैं पर उससे पूरा-पूरा काम भी लेते हैं। पुद्गलको खिलाओ पिलाओ पर उसे अपना मत मानो। माननेमें ही केवल दोष है। रस्सीको सर्प मान लिया तो गिर रहे हैं, पड़ रहे हैं, चोट भी खा रहे हैं। तो यह क्यों ? केवल ज्ञानमें ही तो रस्सीकी कल्पना कर ली। और रस्सी कभी सर्प होती नहीं इसी तरह पुद्गल कभी आत्मा होता नहीं। पर अज्ञानसे मान लेते हैं। वस यही केवल भूल है। उस भूलको मिटाकर भेद-ज्ञान करो। समझो आत्मा और पुद्गल जुदा द्रव्य है। परन्तु उस तरफ हमारा लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य करें तो संसार क्या है ?

इस लकड़हारेसे शिक्षा लीजिये—

एक लकड़हारा था, वह रोज एक मन लकड़ीका गट्ठा लाता और वाजारमें वेच देता था। एक दिन उसने एक पण्डितजीसे व्याख्यान सुना। उसमें उन्होंने कहा कि यह पुद्गल जुदा और आत्मा जुदा है—यह सम्यग्दर्शन है। और फिर पंच पापोंका स्वरूप वतलाया। उसने सोचा मैं हिंसा तो करता हो नहीं हूं। और यह एक मन लकड़ीका गट्ठा लाता हूँ तो इसे आठ आनेमें वेच लिया करूँगा। मेरे यही एक भाव होगा। इस तरह झूठ भी नहीं वोलूँगा। मैं किसीकी चोरी तो करता ही नहीं हूँ अतः चोरीका भी सहजमें त्याग हो जायगा। मेरे एक अकेली स्त्री है, इसलिये पर-स्त्रीका भी त्याग कर दूँगा। और पाँचवां परिग्रह प्रमाण है। तो

मुझे लकड़ी बेचनेमें आठ आने मिलेंगे ही। उसमें तीन आने तो खानेमें खर्च लूँगा, दो आने बचाऊँगा, एक आना दान करूँगा और दो आने कपड़े आदिमें खर्च करूँगा। इस तरह परिग्रह प्रमाण भी कर लूँगा। ऐसा सोचकर उसने उसी समय पंच पापोंका त्याग कर दिया। अब प्रतिदिन वह लकड़ी लाता और बाजारमें बेचनेको रख देता।

उसके पास ग्राहक आते और पूछते—'क्या लकड़ी बेचेगा ?'
वह बोलता—'बेचनेके लिये ही तो लाया हूँ।'
ग्राहक कहते—'क्या दाम लेगा ?'
वह बोलता—'आठ आने।'
वे कहते—'कुछ कम करेगा।'

वह कहता—'नहीं महाराज! मेरी एक मन लकड़ियाँ हैं, इसे तौलकर देख लो यदि ज्यादा हों तो दाम देना, नहीं मत देना ?'

जब उन्होंने तौलकर देखा तो ठीक एक मन निकली। उसे उन्होंने आठ आने दे दिये। इस तरह रोज उसकी लकड़ी बिक जाया करती।

एक दिन जब वह लकड़ी ले जा रहा था तो रास्तेमें एक नौकरने आवाज दी 'अरे, क्या लकड़ी बेचेगा ?'
उसने कहा 'हाँ।'
'क्या दाम लेगा' नौकरने पूछा।
उसने कहा 'आठ आने।'
'सात आने लेगा' नौकर बोला।
उसने कहा 'नहीं।'
फिर उसने बुलाया और कहा 'अच्छा, साढ़ेसात आने लेगा।'
वह बोला 'अरे तू किस बेवकूफका नौकर है। एक बार कह दिया नहीं लूँगा।'

ऊपरसे उसका सेठ सुन रहा था। वह एकदम गरम होके नीचे आया और बोला 'अबे, क्या बकता है ?'

उसने कहा 'ठीक कहता हूँ। यदि तुम सत्य बोलते तो क्या तुम्हारा असर इस नौकर पर नहीं पड़ता।'

सेठ और भी क्रोधित हुआ। उसने फिर कहा 'यदि तुम क्रोधित होओगे तो मैं तुम्हारी पोल खोल दूँगा। तुम महाबदमाश परस्त्री-लम्पटी हो। इतने दिनों तक शास्त्रश्रवण किया पर कुछ भी असर नहीं हुआ। मैंने एक बार ही सुनकर पंच-पापोंका त्याग कर दिया।' सेठ उसके ऐसे वचन सुनकर एकदम सहम गया। तात्पर्य यह है कि उसने भी उसी समय पंच पापोंका त्याग कर दिया। तो देखो, उसपर वक्ताका असर नहीं पड़ा और उस लकड़हारेका उपदेश लग गया। इसका कारण यह कि लकड़हारेने स्वयं सुमार्ग पर चलकर उसे सुमार्ग सुझाया।

स्वयं सुमार्गपर चलिये—

जब हम स्वयं सुमार्गपर चलते हैं तब दूसरोंपर असर पड़ता है। हम रोते हैं कि हमारे बच्चे कहना नहीं मानते। अरे, मानें कैसे ? तुम तो सुमार्गपर चलते नहीं हो वे कैसे तुम्हारा कहना मानें। बताओ। तुम तो स्वयं शुद्ध भोजन करते नहीं फिर कहते हो कि बीमार पड़ गए। ये जितनी भी बीमारियाँ होती हैं सब अशुद्ध भोजन खानेसे होती हैं। तुम तो बाजारसे चाट उड़ाओ और घर आकर अपनी स्त्रीसे कहो कि बाजारका मत खाओ। और कदाचित् खा भी ले तो फिर कहते हो हमारी स्त्री बीबी बन गई। अरे बीबी नहीं, वह तो बाबा हो जायगी। आप स्वयं शुद्ध भोजन करनेका नियम तो लो, वह दूसरे दिन स्वयं शुद्ध बनाने लगेगी। यदि तुम्हें फिर भी शुद्ध भोजन न मिले तो चक्की लेकर बैठ जाओ। दूसरे दिन वह स्वयं अपने आप पीसना शुरू कर देगी। तुम तो पर-

स्त्रीलंपटी बनो और स्त्रीको ब्रह्मचर्यका उपदेश करो। आप तो रावण बनो और स्त्रीसे सती सीता बननेकी आशा करो। कैसा अन्याय है ? ध्यान दो—यदि स्त्रीको सीता रूपमें देखना चाहते हो तो तुम स्वयं राम बनो, राम जैसे कार्य करो। तभी तुम्हारी कामनाएँ सफल होंगी।

परवस्तुको त्यागिये—

तुम कहते हो कि जितने भी त्यागी आते हैं वह यही उपदेश करते हैं कि यह त्यागो, वह त्यागो। तो वह तो तुम्हारे हितका ही उपदेश करते हैं। अरे, तुम परवस्तुओंको अपना माने हुए हो तभी तो वह त्यागनेका उपदेश करते हैं। और चोरटापन क्या है ? पराई वस्तुको अपनी मानना यही तो चोरटापन है। तो वह तुम्हारा यह चोरटापन छुड़वाना चाहते हैं और वह तुम्हें बुरा लगता है। हाँ, यदि तुम्हारे निजकी चीज छुड़वाएँ तो तुम कह सकते हो। ज्ञान दर्शन तुम्हारी चीज है। उसे अपनाओ। लेकिन परद्रव्योंको क्यों अपनाते हो ? यह कहाँका न्याय है ? अतः वह तुम्हारे हितका ही उपदेश करते हैं।

इस जीवके अनादिसे चार संज्ञाएँ लग रही हैं। अब बताओ आहार करना कौन सिखलाता है ? इसी तरह पुद्गलमें भी इसकी आत्मीय बुद्धि लग रही है। अब देखो यह लाल कपड़ा हम पहिने हुए हैं। तो इस लाल कपड़ेको पहिननेसे क्या यह शरीर लाल हो जाता है ? यह कपड़ा इतना लम्बा चौड़ा है, इतना मोटा पतला है तो क्या यह शरीर इतना लम्बा चौड़ा दुबला-पतला हो जाता है ? नहीं। इसी तरह यह शरीर कभी आत्मा होता नहीं। इस शरीरमें जो पूरण गलन स्वभाव है वह कभी आत्माका नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि जो पुद्गलकी क्रिया है वह त्रिकालमें आत्माकी क्रिया नहीं है। अपनी वस्तुको अपना मानना ही बुद्धिमानोंका कार्य है।

श्रद्धाको दृढ़ कीजिये—

यह कोई बड़ी बात नहीं है। उस तरफ केवल हमारा लक्ष्य ही नहीं है। पर कमसे कम इतना तो जरूर हो जावे कि इस पुद्गलसे यह अभिप्राय हटा ले कि **'इदम् मम'** यह मेरा है। श्रद्धामें यह तो बिलकुल जम जावे। हम तो कहते हैं कि चारित्रको पालो या मत पालो कोई हर्ज नहीं। गृहस्थीके त्यागकी भी आवश्यकता नहीं पर यह श्रद्धान तो दृढ़ हो जाना चाहिए। अरे, चारित्र तो कालान्तर पाकर हो ही जायगा। जब यह ज्ञान लिया कि यह मेरी चीज नहीं है तो उसे छोड़नेमें कोई बड़ी भारी बात नहीं। अब तीर्थंकरोंको ही देखिए। जबतक आयु पूर्ण न होय तब तक देखें मोक्ष कैसे चले जाँय। तो श्रद्धानमें यह निश्चय बैठ जाना चाहिये कि न मैं पुद्गलका हूँ और न पुद्गल मेरा है। इसके बिना करोड़ों जप तप करो कुछ फलदायी नहीं। अतः सिद्ध हुआ कि श्रद्धामें अमोघ शक्ति है।

('सुखकी झलक' से)

हिंसा और अहिंसा

हिंसा—

लोक व्यवहारमें भी हिंसा उसे कहते हैं जिसने परजीवका घात किया हो। आचार्योंने **'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा'** इस सूत्रको रच दिया। इसका मतलब यही कि प्रमादके निमित्तसे प्राणोंका वियोग करना हिंसा है। अतः प्रमादसे किसी भी कार्यको करना हिंसा है। तुमने प्रमादके वशसे कोई भी कार्य किया, चाहे उसमें हिंसा हुई हो अथवा नहीं, लेकिन उसमें हिंसाका दूषण लग गया। अतः प्रत्येक व्यक्तिको प्रमाद या शिथिलाचारकी उन अवस्थाओंसे सदा सतर्क रहना चाहिये जिनमें कि क्षणमात्रकी असावधानीसे हिंसाके कारण अनन्त संसारका बन्ध होता है। प्रत्येक जीव अपनी आयुसे जीवित रहता है और आयुके निषेक पूरे होनेसे मरण प्राप्त करता है। कोई किसीकी आयुको न देता है न हरता है। छत्रसालका नाम प्रसिद्ध है। उनके विषयमें यह जनश्रुति है कि जब उनके पिताके नगरपर मुगलोंने आक्रमण किया तो उनकी सारी सेना हार गई। कोई चारा न देखकर आप अपनी स्त्री समेत भागनेको एक घोड़ेपर सवार हुए। स्त्रीके उदरमें था गर्भ। ज्योंही वे भागनेको तैयार हुए उसी समय बच्चा पैदा हो गया। अब वे दोनों असमंजसमें पड़ गये कि अब क्या करना चाहिये? इधर तो बच्चेका जन्म है और उधरसे सेनाका आक्रमण। तो उन्होंने अपने प्राण बचानेके लिये बच्चेको एक तरफ फेंका तो वह मकोड़ोंके झाड़में जा पड़ा। उसके ठीक ऊपर था एक मधुका छत्ता। उसमेंसे एक-एक शहदकी बूँद निकले और उस बच्चेके मुखमें जा पड़े। इस तरह सात दिन व्यतीत हो गये। जब वे दोनों वापिस लौटे और बच्चेको वहाँ देखा

तो हँसता खेलता हुआ पाया। उन्होंने उसे उठा लिया और नगरमें आकर फिर बड़ी खुशियाँ मनाई। वही पुत्र वीर छत्रसाल नामसे प्रसिद्ध हुआ जिसने आगे चलकर मुगलोंके दाँत खट्टे किये। तो कहनेका तात्पर्य यही कि जब मनुष्यकी आयु होती है तब उसको प्राय: ऐसे निमित्त मिल जाते हैं जिनसे उनकी रक्षा हो जाती है। अत: व्यक्तिको चाहिये कि हिंसाका व्यर्थ यत्नकर पापका भागी न बने।

अहिंसा—

अहिंसा तत्त्व ही इतना व्यापक है कि इसके उत्तरमें सभी धर्म आ जाते हैं। जैसे हिंसा पापमें सभी पाप गर्भित हो जाते हैं। यहाँ सभीसे तात्पर्य चोरी, मिथ्या, अब्रह्म और परिग्रहसे है, क्रोध, मान, माया, लोभ ये सब आत्मगुणके घातक हैं अत: ये सब पाप ही हैं। इन्हीं कषायोंके द्वारा आत्मा पापोंमें प्रवृत्ति करता है तथा जिनको लोकमें पुण्य कहते हैं वह भी कषायोंके सद्‌भावमें होते हैं। कषाय आत्माके गुणोंकी घातक है अत: जहाँ भी आत्माके चारित्र गुणका घात है वहाँ हिंसा ही है। अतः जहाँपर आत्माकी परिणति कषायोंसे मलीन नहीं होती वहीं पर आत्माका अहिंसा परिणाम विकास रूप होता है उसीका नाम यथाख्यात चारित्र है। जहाँपर रागादिक परिणामोंका अंश भी नहीं रहता उसी तत्त्वको आचार्योंने अहिंसा कहा है—

'अहिंसा परमो धर्मः यतो धर्मस्ततो जयः'

श्री अमृतचन्द्र स्वामीने उसका लक्षण यों कहा है :—

'अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥'

'निश्चयकर जहाँपर रागादिक परिणामोंकी उत्पत्ति नहीं होती वहीं अहिंसाकी उत्पत्ति है और जहाँ रागादिक परिणामोंकी उत्पत्ति होती है वहीं हिंसा होती है। ऐसा जिनागमका संक्षेपमें कथन जानना। यहाँपर रागादिकोंसे तात्पर्य आत्माकी परिणति विशेषसे है। परपदार्थमें प्रीतिरूप परिणामका होना राग तथा अप्रीतिरूप परिणामका नाम द्वेष, और तत्त्वकी अश्रद्धा रूप परिणामका होना मोह अर्थात् राग, द्वेष, मोह ये तीन आत्माके विकार भाव हैं। ये जहाँपर होते हैं वहीं आत्मा कलिलका संचय करता है, दुखी होता है, नाना प्रकार पापादि कार्योंमें प्रवृत्ति करता है। कभी मन्द राग हुआ तब परोपकारादि कार्योंमें व्यग्र रहता है तीव्र राग द्वेष हुआ तब विषयोंमें प्रवृत्ति करता या हिंसादि पापोंमें भग्न हो जाता है। कहीं भी इसे शान्ति नहीं मिलती। यह सब अनुभूत विषय है। और जब रागादि परिणाम नहीं होते तब शान्तिसे अपना जो ज्ञाता द्रष्टा स्वरूप है उसीमें लीन रहता है। जैसे जलमें पंकके सम्बन्धसे मलिनता रहती है, यदि पंकका सम्बन्ध उससे पृथक् हो जावे तब जल स्वयं निर्मल हो जाता है। तदुक्तं—**'पंकापाये जलस्य निर्मलतावत्।'** निर्मलताके लिये हमें पंकको पृथक् करनेकी आवश्यकता है अथवा जैसे जलका स्वभाव शीत है, अग्निके सम्बन्धसे, जलमें उष्ण पर्याय हो जाती है, उस समय जल देखा जावे तो उष्ण ही है। यदि कोई मनुष्य जलको शीत स्वभाव मानकर पान कर जावे तब वह नियमसे दाह भावको प्राप्त हो जावेगा। अतएव जलको शीत करनेके वास्ते आवश्यकता इस बातकी है कि उसको किसी दूसरे बर्तनमें डालकर उसकी उष्णता पृथक् कर दी जाय, इसी प्रकार आत्मामें मोहोदयसे जो रागादि परिणाम होते हैं वे विकृत भाव हैं। उनके न होनेका यही उपाय है जो वर्तमानमें रागादिक हों उनमें उपादेयताका भाव त्यागे, यही आगामी न होनेसे मुख्य उपाय है। जिनके यह अभ्यास हो जाता है उनकी परिणति सन्तोष-

मयी हो जाती है। उनका जीवन शान्तिमय बीतता है, उनके एक बार ही परपदार्थोंसे निजत्वकी कल्पना मिट जाती है तब सुतरां रागद्वेष नहीं होते। जहाँ आत्मामें रागद्वेष नहीं होते वहीं पूर्ण अहिंसाका उदय होता है। अहिंसा ही मोक्षमार्ग है। वह आत्मा फिर आगामी अनन्त कालतक जिस रूपसे परिणम गया, उसी रूप रहता है। जिन भगवान्‌ने यही अहिंसाकातत्त्व बताया है—अर्थात् जो आत्माएँ रागद्वेष मोहके सद्भावसे मुक्त हो चुकी हैं उन्हींका नाम जिन है। वह कौन हैं? जिसके यह भाव हो गये वही जिन है। उसने जो कुछ पदार्थका स्वरूप दर्शाया उस अर्थके प्रतिपादक जो शब्द हैं उसे जिनागम कहते हैं। परमार्थसे देखा जाय तो जो आत्मा पूर्ण अहिंसक हो जाता है उसके अभिप्रायमें न तो परके उपकारके भाव रहते हैं और न अनुपकारके भाव रहते हैं अतः न उनके द्वारा किसीके हितकी चेष्टा होती है और न अहितकी चेष्टा होती है किन्तु जो पूर्वोपार्जित कर्म है वह उदयमें आकर अपना रस देता है। उस कालमें उनके शरीरसे जो शब्द वर्गणा निकलती हैं उनसे क्षयोपशम ज्ञानी वस्तु स्वरूपके जाननेके अर्थ आगम रचना करते हैं।

आज बहुतसे भाई जनोंके नामसे यह समझते हैं कि एक जाति विशेष है। यह समझना कहाँतक तथ्य है, पाठकगण जानें। वास्तवमें जिसने आत्माके विभाव भावोंपर विजय पा ली वही जैन है। यदि नामका जैनी है और उसने मोहादि कलंकोंको नहीं जीता तब वह नाम 'नामका नैन सुख आँखोंका अन्धा'की तरह है। अतः मोह विकल्पोंको छोड़ो और वास्तविक अहिंसक बनो।

वास्तवमें तो बात यह है कि पदार्थ अनिर्वचनीय है कोई कह नहीं सकता। आप जब मिसरी खाते हो तब कहते हो मिसरी मीठी होती है। परन्तु यह भी कथन नहीं बनता, क्योंकि यह

सिद्धान्त है कि ज्ञान ज्ञेयमें नहीं जाता और ज्ञेय ज्ञानमें नहीं जाता। फिर जब मिसरी ज्ञानमें गई नहीं तब मिसरी मीठी होती है, यह कैसे शब्द कहा जा सकता है? अथवा जब ज्ञानमें ही पदार्थ नहीं आता तब शब्दसे उसका व्यवहार करना कहाँतक न्याय संगत है। इससे यह तात्पर्य निकला कि मोह परिणामोंसे यह कल्पना है। मोहके अभावसे यह सर्व कल्पना विलीन हो जाती है यह असंगत नहीं। जबतक प्राणीके मोह है तबतक ही यह कल्पना है जो ये मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ और ये मेरी भार्या है मैं इसका पति हूँ। मोहके फन्देमें रहता है तब नाना कल्पनाओंकी पुष्टि करता है, किसीको हेय और उपादेय मानकर अपनी प्रवृत्ति बनाकर इतस्ततः भ्रमण करता है। मोहके अभावमें आपसे आप शान्त हो जाता है। विशेष क्या कहूँ, इसका मर्म वे ही जानें जो निर्मोही हैं, अथवा वे ही क्या जानें, उन्हें विकल्प ही नहीं।

अहिंसाके आदर्श श्रीमहावीर स्वामी—

श्रीमहावीर स्वामीका जन्म संसारमें अद्वितीय ही था अर्थात् इस कलिकालके उद्धारके लिये वे ही अन्तिम महापुरुष हुए। वही अहिंसा धर्मके सच्चे उपदेष्टा थे। उनके दिखलाये हुए मार्गका अवलम्बन करनेसे ही हम उनके अनुयायी हो सकते हैं। लाखों रुपयोंका व्यय करनेपर भी हम श्रीवीर प्रभुका उतना प्रभाव दिखानेमें समर्थ नहीं हो सकते जितना कि उनके द्वारा प्रतिपाद्य अहिंसाको पालन करनेसे दिखा सकते हैं। यदि हम सच्चे अन्तरंगसे श्रीवीरके उपासक हैं तो हमें आजसे यह नियम हृदयङ्गम करना चाहिये कि हम अपनी आत्माको हिंसा दोषसे लिप्त न होने देवेंगे तथा आजके दिनसे किसी भी प्राणीके प्रति मन, वचन, कायसे दुःख न होने देनेका प्रयत्न करेंगे एवं कमसे कम एक दिनकी आय परोपकारमें लगावेंगे। साथ ही इस दिन मन, वचन, कायसे सब

पापोंका त्याग करेंगे और उस त्यागमें ब्रह्मचर्य व्रतकी पूर्ण रक्षा करेंगे। इस दिनका ऐसा निर्मल आचार होगा कि जिसे देख अन्यके परिणाम दयापरक हो जावेंगे। अहिंसाकी परिभाषा करनेमें ही चतुरता दिखलानेकी चेष्टा न होगी किन्तु उसके पालनमें अनुराग होगा। यदि हम अन्तरङ्गसे अहिंसाके उपासक हो गये तो अनायास ही हमारी यातनाएँ पलायमान हो जायेंगी। यदि हम चेष्टा करते हैं कि संसारमें अहिंसा धर्मका प्रचार हो चाहे हममें उसकी गन्ध भी न हो। सर्वोत्तम मार्ग तो यह है कि हम अपनी प्रवृत्तिको अति निर्मल बनानेका प्रयत्न करें। श्रीमहावीर स्वामीके जीवन चरित्रसे यही शिक्षा लेनी चाहिये कि हम पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंसे अपनेको सुरक्षित रखें। आत्मामें अनन्त शक्ति है, प्रत्येक आत्मामें वह है परन्तु हम तो इतने कायर हो गये हैं कि अपनी परिणतिको दुर्वल समझ ऊपर चढ़नेकी कोशिश ही नहीं करते।

एक सजीव उदाहरण—

वरुवासागरमें एक बात विलक्षण हुई जो इस प्रकार है—हम लोग स्टेशन पर मूलचन्द्रजीके मकानमें रहते थे। पासमें कहार लोगोंका मोहल्ला था। एक दिन रात्रिको ओलोंकी वर्षा हुई। इतनी विकट कि मकानोंके छप्पर फूट गये। हम लोग रजाई आदिको ओढ़कर किसी तरह ओलोंके कष्टसे वचे। पड़ोसमें जो कहार थे वे सब राम-राम कहकर अपनी प्रार्थना कर रहे थे। वे कह रहे थे कि—

'हे भगवन्! इस कष्टसे रक्षा कीजिये, आपत्ति कालमें आपके सिवाय ऐसी कोई शक्ति नहीं जो हमें कष्टसे वचा सके।' उनमें एक दस वर्षकी लड़की भी थी, वह अपने माता पितासे कहती है कि 'तुम लोग व्यर्थ ही राम राम रट रहे हो। यदि कोई राम होता तो इस आपत्ति कालमें हमारी रक्षा न करता। दिन भर मेहनत करते

हैं तब कहीं जाकर शामको अन्न मिलता है वह भी पेट भर नहीं मिलता। पिताजी! आपने राम राम जपते अपना जन्म तो बिता दिया पर रामने एक भी दिन संकटमें सहायता न दी, यदि कोई राम होते तो क्या सहायता न करते। बगलमें देखो सर्राफजीका मकान है। उनके हजारों मन गल्ला है, अनेक प्रकारके वस्त्रादि हैं, नाना प्रकारके भूषण हैं, दूध आदिकी कमी नहीं है, पास होमें उनका बाग है जिसमें आम, अमरूद, केला आदिके पुष्कल वृक्ष हैं। यहाँ तो हमारे घरमें अन्नका दाना नहीं, दूधकी बात छोड़ो छांछ भी मांगेसे नहीं मिलती, यदि मिले भी तो लोग उसके एवजमें घास माँग लेते हैं। इस विपत्तिमय जीवनकी कहानी कहाँ तक कहूँ? अतः पिताजी! न कोई राम है और न रहीम है यदि कोई राम-रहीम होता तो उसके दया होती और वह ऐसे अवसरमें हमारी रक्षा करता। यह कहाँका न्याय है कि पड़ोसवालेको लाखोंकी सम्पत्ति और हम लोगोंको उदर भर भोजनके भी लाले। अपनी इस विपत्तिसे इतना जानती हूँ कि जो नीम बोवेगा उसके नीमका ही पेड़ होगा और जब वह फलेगा तब उसमें निबोरी ही होगी, जो आमका बीज बोवेगा उसके आम हीका फल लगेगा। पिताजी! आपने जन्मान्तरमें कोई अच्छा कार्य नहीं किया जिससे कि तुम्हें सुखकी सामग्री मिलती और न मेरी माताने कोई सुकृत किया अन्यथा ऐसे दरिद्रके घर इनका विवाह नहीं होता। मैं भी अभागिनी हूँ जिससे कि आपके यहाँ जन्मी। न तो मुझे पेट भर दाना मिलता है और न तन ढकनेको वस्त्र ही।

यदि तुम इन सब आपत्तियोंसे बचना चाहते हो तो एक काम करो, देखो तुम प्रतिदिन सैकड़ों मछलियोंको मारकर अपनी आजीविका करते हो। जैसी हमारी जान है वैसी ही अन्यकी भी है। यदि तुम्हें कोई सुई चुभा देता है तो कितना दुःख होता है। जब तुम मछलीकी जान लेते हो तब उसे जो दुःख होता है उसे

वही जानती होगी। अतः मैं यही भिक्षा माँगती हूँ कि चाहे भिक्षा माँगकर पेट भर लो परन्तु मछली मारकर पेट मत भरो। संसारमें करोड़ों मनुष्य हैं क्या सब हिंसा करके ही अपना पालन पोषण करते हैं ?

लड़कीकी ज्ञानभरी बातें सुनकर पिता एकदम चुप रह गया और कुछ देर बाद उससे पूछता है कि बेटी तुझे इतना ज्ञान कहाँसे आया ? वह बोली कि मैं पढ़ी-लिखी तो हूँ नहीं परन्तु बाईजीके पास जो पंडितजी हैं वे प्रतिदिन शास्त्र बाँचते हैं। एक दिन बाँचते समय उन्होंने बहुत-सी बातें कहीं जो मेरी समझमें नहीं आई पर एक बात मैं अच्छी तरह समझ गई। वह यह कि इस अनादि निधन संसारका कोई न तो कर्ता है न धर्ता है और न विनाश कर्ता है। अपने-अपने पुण्य पापके अधीन सब प्राणी हैं। यह बात आज मुझे और भी अधिक जँच गई कि यदि कोई बचानेवाला होता तो इस आपत्तिसे न बचाता ?

इसके सिवाय एक दिन बाईजीने भी कहा था कि परको सताना हिंसा है और हिंसासे पाप होता है। फिर आप तो हजारों मछलियोंकी हिंसा करते हैं अतः सबसे बड़े पापी हुए। कसाईके तो गिनती रहती है पर तुम्हारे वह भी नहीं।

पिताने पुत्रीकी बातोंका बहुत आदर किया और कहा कि 'बेटी ! हम तुमसे बहुत प्रसन्न हैं और जो यह मछलियोंके पकड़नेका जाल है उसे अभी तुम्हारे ही सामने ध्वस्त करता हूं।'

इतना कहकर उसने आग जलाई और उस पर वह जाल रखने लगा। इतनेमें उसकी स्त्री बोली कि 'व्यर्थ ही क्यों जलाते हो, इसको बेचनेसे दो रुपये आजावेंगे और उनमें एक धोती जोड़ा लिया जा सकेगा।' पुरुष बोला कि 'यह हिंसाका आयतन है, जहाँ जावेगा वहीं हिंसामें सहकारी होगा अतः नंगा रहना अच्छा परन्तु

इस जालको बचाना अच्छा नहीं।' इस तरह उसने बातचीतके बाद उस जालको जला दिया और स्त्री पुरुषने प्रतिज्ञा की कि अब आजन्म हिंसा न करेंगे।

यह कथा हम और बाईजी सुन रहे थे। बहुत ही प्रसन्नता हुई और मनमें विचार आया कि देखो समय पाकर दुष्टसे दुष्ट भी सुमार्ग पर आ जाते हैं। जातिके कहार अपने आप अहिंसक हो गये। बालिका यद्यपि अबोध थी पर उसने किस प्रकार समझाया कि अच्छेसे पंडित भी सहसा न समझा सकते।

इसके अनन्तर ओला पड़ना बन्द हुआ। प्रात:काल नित्य क्रियासे निर्वृत्त होकर जब हम मन्दिरजी पहुँचे तब ८ बजे वे तीनों जीव आये और उत्साहसे कहने लगे कि हम आजसे हिंसा न करेंगे। मैंने प्रश्न किया—क्यों? उत्तरमें उसने रात्रिको रामकहानी आनुपूर्वी सुना दी। जिसे सुनकर चित्तमें अत्यन्त हर्ष हुआ और श्री समन्तभद्र स्वामीका यह श्लोक स्मरण द्वारा सामने आ गया—

'सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥'

हम लोगोंकी यह महती अज्ञानता है कि किसीको सर्वथा तुच्छ नीच या अधम मान बैठते हैं। न जाने कब किसके काललब्धि आजावे? जातिके कहार महाहिंसक, कौन उन्हें उपदेश देने गया कि आप लोग हिंसा छोड़ दो? जिस लड़कीके उपदेशसे माता पिता एकदम सरल परिणामी होगये उस लड़कीने कौन-सी पाठशालामें शिक्षा पाई थी? दस वर्षकी अबोध बालिकामें इतनी विज्ञता कहाँसे आ गई? इतनी छोटी उमरमें तो कपड़ा पहिरना ही नहीं आता परन्तु पिछला संस्कार था जो समय पाकर काम करने लगा, अतः हमें उचित है कि अपने संस्कारोंको अति निर्मल बनानेका सतत

प्रयत्न करें। इस अभिमानको त्याग देवें कि हम तो उत्तम जाति हैं सहज ही कल्याणके पात्र हो जावेंगे। यह कोई नियम नहीं कि उत्तम कुलमें जन्ममात्रसे ही मनुष्य उत्तम गतिका पात्र हो और जघन्य कुलमें जन्म लेनेसे अधम गतिका पात्र हो। यह सब तो परिणामोंकी निर्मलता और कलुषता पर निर्भर है।....इस प्रकार हम बाईजी और मूलचन्द्रजी परस्पर कथा करने लगे इतनेमें वह लड़की बोली–'वर्णीजी हम तीनोंको क्या आज्ञा है ?'

मैंने कहा—'बेटी ! तुमको धन्यवाद देता हूं, आज तूने वह उत्कृष्ट कार्य किया जो महापुरुषों द्वारा साध्य होता है। तुम्हारे माता पिताने जो हिंसाका त्याग किया है श्लाघनीय है, तुमसे सर्राफ बहुत प्रसन्न हैं और तुम लोगोंको जिसकी आवश्यकता पड़े सर्राफसे ले सकते हो।'

उस लड़कीका पिता बोला—'मैंने हिंसाका त्याग किया है उसका यह तात्पर्य नहीं कि आप लोगोंसे कुछ याचना करनेके लिए आया हूं। मैं तो केवल आप लोगोंको अहिंसक जानकर आपके सामने उस पापको छोड़नेके लिये आया हूं। आपसे क्या माँगूं ? हमारा निमित्त ही ऐसा है कि मजदूरी करना और जो मिले सन्तोष से खाना। आजतक मछलियाँ मारकर उदर भरते थे। अब मजदूरी करके उदर पोषण करेंगे। अभी तो हमने केवल हिंसा करना ही छोड़ा था पर अब यह भी नियम करते हैं कि आजसे मांस भी नहीं खावेंगे तथा हमारे यहाँ जो देवीका बलिदान होता था वह भी नहीं करेंगे। कोई-कोई वैष्णव लोग बकराके स्थानमें भूरा कुम्हड़ा चढ़ाते हैं हम वह भी नहीं चढ़ावेंगे केवल नारियल चढ़ावेंगे बस, अब हमलोग जाते हैं क्योंकि खेत नींदना है...।

इतना कहकर वे तीनों चले गये और हमलोग भी उन्हींकी चर्चा करते हुए अपने स्थान पर चले आये। इतनेमें बाईजी बोलीं–'बेटा ! तुम भूल गये ऐसे भद्र जीवोंको मदिरा और मधु भी छुड़ा देना था।'

मैंने कहा—'अभी क्या बिगड़ा है? उन्हें बुलाता हूं, पास ही तो उनका घर है?'

मैंने उन्हें पुकारा, वे तीनों आगये, मैंने उनसे कहा—'भाई! हम एक बात भूल गये, वह यह कि आपने मांस खाना तो छोड़ दिया पर शहद और मदिरा नहीं छोड़ी अतः इन्हें भी छोड़ दीजिये।' लड़की बोली—'हाँ पिताजी! वही शहद न? जो दवाईमें कभी-कभी काम आती है वह तो बड़ी बुरी चीज है, हजारों मक्खियाँ मारकर निचोड़ी जाती है, छोड़ दीजिये और मदिरा तो हम तथा माँ पीती ही नहीं हैं तुम्हीं कभी-कभी पीते हो और उस समय तुम पागलसे हो जाते हो, तुम्हारा मुँह बसाने लगता है। बाप बोला—बेटी! ठीक है, जब मांस ही जिससे कि पेट भरता था छोड़ दिया तब अब न मदिरा पीवेंगे और न मधु ही खावेंगे। जो प्रतिज्ञा करते हैं उसका निर्वाह भी करेंगे।'

हम वर्णीजी और बाईजीकी बात तो नहीं कहते क्योंकि यह साधु लोग हैं परन्तु बड़े बड़े जैनी व ब्राह्मण लोग अस्पतालकी दवा खाते हैं जहाँ भंगी और मुसलमानोंके द्वारा दवा दी जाती है। उस दवामें मांस मदिरा और शहदका संयोग अवश्य रहता है। बड़े आदमियोंकी बात करो तो यह लोग न जाने हमलोगोंकी क्या दशा करेंगे? अतः इनकी बात न करना ही अच्छा है। अपनेको क्या करना है? 'जो करेगा सो भोगेगा।' परन्तु बात तो यह है कि जो बड़े पुरुष आचरण करते हैं वही नीच श्रेणीके करने लग जाते हैं। जो भी हो हमको क्या करना है? वह फिर कहने लगा कि 'वर्णीजी! कुछ चिन्ता न करना, हमने जो व्रत लिया है मरण पर्यन्त कष्ट सह लेने पर भी उसका भंग न करेंगे।' अच्छा अब जाते हैं.......यह कहकर वे चले गये और हमलोग आनन्द सागरमें निमग्न होगये। मुझे ऐसा लगा कि धर्मका कोई ठेकेदार नहीं है।

('सुखकी झलक' और 'मेरी जीवनगाथा' से)

मद्य-मांस-मधु

मदिरा त्याग—

गृहस्थका मद्य, मांस और मधुका त्याग करना धर्मका मूल सिद्धान्त है। यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है कि मदिरा पान करनेवाले उन्मत्त हो जाते हैं और उन्मत्त होकर जो जो अनर्थ करते हैं सब जानते हैं। मदिरा पान करनेवालोंकी तो यहाँतक प्रवृत्ति देखी गई कि वे अगम्यागमन भी कर बैठते हैं, मदिराके नशामें मस्त हो नालियोंमें पड़ जाते हैं, कुत्ता मुखमें पेशाब कर रहा है फिर भी मधुर-मधुर कहकर पान करते जाते हैं, बड़े-बड़े कुलीन मनुष्य इसके नशेमें अपना सर्वस्व खो बैठते हैं, उन्हें धर्म कथा नहीं रुचती, केवल वेश्यादि व्यसनोंमें लीन रहकर इहलोक और परलोक दोनोंकी अवहेलना करते रहते हैं। इसीको श्रीअमृतचन्द्र स्वामीने पुरुषार्थ-सिद्ध्युपायमें अच्छी तरह दर्शाया है। वे लिखते हैं—

'मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।
विस्मृतधर्मो जीवो हिंसां निःशङ्कमाचरात ॥'

'मदिरा मनको मोहित करती है। जिसका चित्त मोहित हो जाता है वह धर्मको भूल जाता है और जो मनुष्य धर्मको भूल जाता है वह निःशङ्क होकर हिंसाका आचरण करता है।'

मांस त्याग—

धर्मका दूसरा सिद्धान्त यह है कि मांस भक्षण नहीं करना चाहिये। मांसकी उत्पत्ति जीव घातके बिना नहीं होती। जरा विचारो तो सही कि जिस प्रकार हमें अपने प्राण प्यारे हैं उसी

प्रकार अन्य प्राणियोंको क्या उनके प्राण प्यारे न होंगे ? जब जरा सी सुई चुभ जाने अथवा काँटा लग जानेसे हमें महती वेदना होती है तब तलवारसे गला काटनेपर अन्य प्राणियोंको कितनी वेदना न होती होगी ? परन्तु हिंसक जीवोंको इतना विवेक कहाँ ? हिंसक जीवोंको देखनेसे ही भयका संचार होने लगता है। हाथी इतना बड़ा होता है कि यदि सिंहपर एक पैर रख दे तो उसका प्राणान्त हो जावे परन्तु वह सिंहसे भयभीत हो जाता है। क्रूर सिंह छलांग मारकर हाथीके मस्तकपर धावा बोल देता है। इसीसे उसको 'गजारि' कहते हैं। मांस खानेवाले अत्यन्त क्रूर हो जाते हैं। उनसे संसारका उपकार न हुआ है न होगा। भारतवर्ष दया प्रधान देश था। इसने संसारके प्राणीमात्रको धर्मका उपदेश सुनाया है। यहाँ ऐसे-ऐसे ऋषि उत्पन्न हुए कि जिनके अवलोकन मात्रसे क्रूर जीव भी शान्त हो जाते थे। जैसा कि एक जगह कहा है—

'सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशं केकिकान्ता भुजङ्गम्।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्॥'

'जिनका मोह नष्ट हो चुका है, कलुषता शान्त हो चुकी है और जो समभावमें आरूढ़ हैं ऐसे योगीश्वरोंका आश्रय पाकर हिरणी सिंहके बालकको अपना पुत्र समझकर स्पर्श करने लगती है, गाय व्याघ्रके बालकको अपना पुत्र समझने लगती है, बिल्ली हंसके बालकको और मयूरी प्रेमके परवश हुए सर्पको स्पर्श करने लगती है⋯इस प्रकार विरोधी जन्तु मद रहित होकर आजन्म-जात वैर भावको छोड़ देते हैं—सबमें परस्पर मैत्रीभाव हो जाता है।' कहनेका तात्पर्य यह है कि जिनकी आत्मा रागद्वेष मोहसे रहित

हो जाती है, उनके सान्निध्यमें क्रूरसे क्रूर जीव भी शान्तभावको प्राप्त हो जाते हैं इसमें आश्चर्यकी क्या वात है, क्योंकि आत्माका स्वभाव अशान्त नहीं है। जिस प्रकार जलका स्वभाव शीतल है परन्तु अग्निका निमित्त पाकर गर्म हो जाता है और अग्निका निमित्त दूर होते ही पुनः शीतल हो जाता है उसी प्रकार आत्मा स्वभावसे शान्त है परन्तु कर्मकलङ्कका निमित्त पाकर अशान्त हो रहा है। ज्यों ही कर्मकलङ्कका निमित्त दूर हुआ त्यों ही पुनः शान्त हो जाता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि यद्यपि सिंहादिक क्रूर जन्तु हैं तो भी उनका आत्मा शान्त स्वभाववाला है इसीलिये योगीश्वरोंके पादमूलका निमित्त पाकर अशान्ति दूर हो जाती है। योगियोंके पादमूलका आश्रय पाकर उनकी उपादान शक्तिका विकास हो जाता है अतः मोही जीवोंको उत्तम निमित्त मिलानेकी आवश्यकता है।

योगी होना कुछ कठिन वात नहीं परन्तु हम राग, द्वेष और मोहके वशीभूत होकर निरन्तर अपने पराये गुण दोष देखते रहते हैं, वीतराग परिणतिका जो कि आत्माका स्वभाव है अमल नहीं करते। यही कारण है कि आजन्म दुःखके पात्र रहते हैं। जिन्होंने राग, द्वेष, मोहको जीत लिया उनकी दशा लौकिक मानवोंसे भिन्न हो जाती है। जैसा कि कहा है—

'एकः पूजां रचयति नरः पारिजातप्रसूनैः
क्रुद्धः कण्ठे क्षिपति भुजगं हन्तुकामस्ततोऽन्यः।
तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्यं स योगी
साम्यारामं विशति परमज्ञानदत्तावकाशम् ॥''

'जिस महानुभाव योगीकी ऐसी वृत्ति हो गई है कि कोई तो विनय पूर्वक पारिजातके पुष्पोंसे पूजा कर रहा है और कोई क्रुद्ध

होकर मारनेकी इच्छासे कण्ठमें सर्प डाल रहा है परन्तु उन दोनोंमें ही जिसकी सदा एक-सी वृत्ति रहती है वही योगीश्वर समभाव रूपी आराममें प्रवेश करता है। ऐसे समभाव रूपी क्रीडावनमें ही केवलज्ञानके प्रकाश होनेका अवकाश है।'

कहनेका तात्पर्य यह कि जहाँ आत्मामें निर्मलता आजाती है वहाँ शत्रु मित्र भावकी कल्पना नहीं होती। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे शत्रु मित्रके स्वरूपको नहीं समझते हैं, क्योंकि वह तो ज्ञानका विषय है परन्तु मोहका अभाव होनेसे उनके शत्रु मित्रकी कल्पना नहीं होती। इस समय ऐसे महापुरुषोंकी विरलता ही क्या; अभाव ही है इसीलिये संसारमें अशान्तिका साम्राज्य है।

जिसके मुखसे सुनो 'परोपकार करना चाहिये' यही बात निकलती है परन्तु अपनेको आदर्श बनाकर परोपकार करनेकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। जब तक मनुष्य स्वयं आदर्श नहीं बनता तब तक उसका संसारमें कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता। यही कारण है कि अनेक प्रयत्न होने पर भी समाजकी उन्नति नहीं देखी जाती।

मधु त्याग—

धर्मका तीसरा सिद्धान्त मधु त्याग करना है। मधु क्या है? अनन्त सम्मूर्च्छन जीवोंका निकाय है, मक्खियोंका उच्छिष्ट है परन्तु क्या कहें जिह्वालम्पटी पुरुषोंकी बात? उन्हें तो रसास्वादसे मतलब चाहे उसकी एक बूंदमें अनन्त जीवोंका संहार क्यों न हो जाय। जिनमें मनुष्यत्वका कुछ अंश है, जिनके हृदयमें दयाका कुछ संचार है उनकी प्रवृत्ति तो इस ओर स्वप्नमें भी नहीं होनी चाहिये। यह कालका प्रभाव ही समझना चाहिये कि मनुष्य दिन प्रतिदिन इन्द्रिय लम्पटी होकर धार्मिक व्यवस्थाको भङ्ग करते जाते हैं।

जिसके कारण समाज अवनत होती जा रही है। राजाओंके द्वारा समाजका बहुत अंशोंमें उत्थान होता था परन्तु इस समयकी बलिहारी। उनका आचरण जैसा हो रहा है वह आप प्रजाके आचरणसे अनुमान कर सकते हैं।'

('मेरी जीवनगाथा'से)

सम्यक्त्व

जैन दर्शनमें श्रद्धाको सर्व प्रथम स्थान प्राप्त है। इसीका नाम सम्यग्दर्शन है। यदि यह नहीं हुआ तो व्रत लेना नींवके बिना महल बनानेके सदृश है। इसके होते ही सब व्रतोंकी शोभा है। सम्यग्दर्शन आत्माका वह गुण है जिसका विकास होते ही अनन्त संसारका बन्धन छूट जाता है। आठों कर्मोंसे सबकी रक्षा करनेवाला यही है। यह ऐसा शूर है कि अपनी रक्षा करता है और शेष गुणोंकी भी।

सम्यग्दर्शनका लक्षण आचार्योंने 'तत्त्वार्थश्रद्धान' लिखा है। जैसा कि दशाध्याय तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम अध्यायमें आचार्य गृद्धपिच्छने लिखा है—

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'

श्री नेमिचन्द्र स्वामीने द्रव्य संग्रहमें लिखा है—

'जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं'

यही समयसारमें लिखा है तथा ऐसा ही लक्षण प्रत्येक ग्रन्थमें मिलता है, परन्तु पञ्चाध्यायीकर्ताने एक विलक्षण बात लिखी है। वे लिखते हैं कि यह सब तो ज्ञानकी पर्याय है। सम्यग्दर्शन आत्माका अनिर्वचनीय गुण है, जिसके होने पर जीवोंके तत्त्वार्थका परिज्ञान अपने आप हो जाता है वह आत्माका परिणाम सम्यग्दर्शन कहलाता है।

ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम आत्मामें सदा विद्यमान रहता है, संज्ञी जीवके और भी विशिष्ट क्षयोपशम रहता है। सम्यग्दर्शनके होते ही वही ज्ञान सम्यग्व्यपदेशको पा जाता है। पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें श्री अमृतचन्द्राचार्यने लिखा है—

'जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ।।'

अर्थात् जीवाजीवादि सप्त पदार्थोंका विपरीत अभिप्रायसे रहित सदैव श्रद्धान करना चाहिये....इसीका नाम सम्यग्दर्शन है, यह सम्यग्दर्शन ही आत्माका पारमार्थिक रूप है। इसका तात्पर्य यह है कि इसके बिना आत्मा अनन्त संसारका पात्र रहता है।

वह गुण अतिसूक्ष्म है। केवल उसके कार्यसे ही हम उसका अनुमान करते हैं। जैसे अग्निकी दाहकत्व शक्तिका हमें प्रत्यक्ष नहीं होता केवल उसके ज्वलन कार्यसे ही उसका अनुमान करते हैं। अथवा जैसे मदिरा पान करनेवाला उन्मत्त होकर नाना कुचेष्टाएँ करता है पर जब मदिराका नशा उतर जाता है तब उसकी दशा शान्त हो जाती है। उसको वह दशा उसीके अनुभवगम्य होती है। दर्शक केवल अनुमानसे जान सकते हैं कि इसका नशा उतर गया। मदिरामें उन्मत्त करनेकी शक्ति है पर हमें उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, वह अपने कार्यसे ही अनुमित होती है। अथवा जिस प्रकार सूर्योदय होनेपर सब दिशाएँ निर्मल हो जाती हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके होनेपर आत्माका अभिप्राय सब प्रकारसे निर्मल हो जाता है। उस गुणका प्रत्यक्ष मति-श्रुत तथा देशावधिज्ञानियोंके नहीं होता किन्तु परमावधि, सर्वावधि, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानसे युक्त जीवोंके ही होता है। उनकी कथा करना ही हमें आता है, क्योंकि उनकी महिमाका यथार्थ आभास होना कठिन है। बात हम अपने ज्ञानकी करते हैं। यही ज्ञान हमें कल्याणके मार्गमें ले जाता है।

वस्तुतः आत्मामें अचिन्त्य शक्ति है और उसका पता हमें स्वयमेव होता है। सम्यग्दर्शन गुणका प्रत्यक्ष हमें न हो परन्तु उसके होते ही हमारी आत्मामें जो विशदताका उदय होता है वह तो

हमारे प्रत्यक्षका विषय है। यह सम्यग्दर्शनकी ही अद्भुत महिमा है कि हमलोग बिना किसी शिक्षक व उपदेशकके उदासीन हो जाते हैं। जिन विषयोंमें इतने अधिक तल्लीन थे कि जिनके विना हमें चैन ही नहीं पड़ता था, सम्यग्दर्शनके होनेपर उनकी एकदम उपेक्षा कर देते हैं।

इस सम्यग्दर्शनके होते ही हमारी प्रवृत्ति एकदम पूर्वसे पश्चिम हो जाती है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यका आविर्भाव हो जाता है। श्री पञ्चाध्यायीकारने प्रशम गुणका यह लक्षण माना है—

'प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः॥'

अर्थात् असंख्यात लोकप्रमाण जो कषाय और विषय हैं उनमें स्वभावसे ही मनका शिथिल हो जाना प्रशम है। इसका यह तात्पर्य है कि आत्मा अनादि कालसे अज्ञानके वशीभूत हो रहा है और अज्ञानमें आत्मा तथा परका भेदज्ञान न होनेसे पर्यायमें ही आपा मान रहा है, अतः जिस पर्यायको पाता है उसीमें निजत्वकी कल्पना कर उसीकी रक्षाके प्रयत्नमें सदा तल्लीन रहता है। पर उसकी रक्षाका कुछ भी अन्य उपाय इसके ज्ञानमें नहीं आता केवल पञ्चेन्द्रियोंके द्वारा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण एवं शब्दको ग्रहण करना ही इसे सूझता है। प्राणीमात्र ही इसी उपायका अवलम्बन कर जगत्में अपनी आयु पूर्ण कर रहे हैं।

जब बच्चा पैदा होता है तब माँ के स्तनको चूसने लगता है। इसका मूल कारण यह है कि अनादि कालसे इस जीवके चार संज्ञाएँ लग रही हैं, उनमें एक आहार संज्ञा भी है, उसके बिना इसका जीवन रहना असम्भव है। केवल विग्रहगतिके ३ समय

छोड़कर सर्वदा आहार वर्गणाके परमाणुओंको ग्रहण करता रहता है! अन्य कथा कहाँ तक कहें? इस आहारकी पीड़ा जब असह्य हो उठती है तब सर्पिणी अपने बच्चोंको आप ही खा जाती है। पशुओंकी कथा छोड़िये जब दुर्भिक्ष पड़ता है तब माता अपने बालकों को बेचकर खा जाती है। यहाँ तक देखा गया है कि कूड़ाघरमें पड़ा हुआ दाना चुन-चुन कर मनुष्य खा जाते हैं, जूठी पत्तलके दाने भी बीन-बीनकर खा जाते हैं। यह एक ऐसी संज्ञा है कि जिससे प्रेरित होकर मनुष्य अनर्थसे अनर्थ कार्य करनेको प्रवृत्त हो जाता है। इस क्षुधाके समान अन्य दोष संसारमें नहीं। कहा भी है—

'सब दोषन मांहो या सम नाहीं—'

इसकी पूर्तिके लिये लाखों मनुष्य सैनिक हो जाते हैं। जो भी पाप हो इस आहारके लिये मनुष्य कर लेता है। इसका मूल कारण अज्ञान ही है। शरीरमें निजत्व बुद्धि ही इन उपद्रवोंकी जड़ है। जब शरीरको निज मान लिया तब उसकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य हो जाता है और जब तक यह अज्ञान है तभी तक हम संसारके पात्र हैं?

यह अज्ञान कब तक रहेगा इस पर श्रीकुन्दकुन्द महाराजने अच्छा प्रकाश डाला है—

'कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु वुद्धि अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥'

भावार्थ—जब तक ज्ञानावरणादि कर्मों और औदारकादि शरीरमें आत्मीय बुद्धि होती है और आत्मामें ज्ञानावरणादिक कर्म तथा शरीरकी बुद्धि होती है अर्थात् जब तक जीव ऐसा मानता है कि ज्ञानावरणादिक कर्म और शरीर मेरे हैं तथा मैं इनका स्वामी हूँ तब तक यह जीव अज्ञानी है और तभी तक अप्रतिबुद्ध है। यदि

शरीरमें अहम्बुद्धि मिट जावे तो आहारकी आवश्यकता न रहे। जब शरीरकी शक्ति निर्बल होती है तभी आत्मामें आहार ग्रहण करनेकी इच्छा होती है। यद्यपि शरीर पुद्गलपिण्ड है तथापि उसका आत्माके साथ सम्पर्क है और इसी लिये उसकी उत्पत्ति दो विजातीय द्रव्योंके सम्पर्कसे होती है। पर यह निश्चय है कि शरीरका उपादान कारण पुद्गल द्रव्य ही है आत्मा नहीं। दोनोंका यह सम्बन्ध अनादि कालसे चला आता है इसीसे अज्ञानी जीव दोनोंको एक मान बैठता है। शरीरको निज मानने लगता है।

उस शरीरको स्थिर रखनेके लिए जीवके आहार ग्रहणकी इच्छा होती है और उससे आहार ग्रहण करनेके लिए रसना इन्द्रियके द्वारा रसको ग्रहण करता है। ग्रहण करनेमें प्रदेश प्रकम्पन होता है उससे हस्तके द्वारा ग्रास ग्रहण करता है। जब ग्रासके रसका रसना इन्द्रियके साथ सम्बन्ध होता है तब उसे स्वाद आता है। यदि अनुकूल हुआ तो प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण करता जाता है। ग्रहणका अर्थ यह है कि रसना इन्द्रियके द्वारा रसका ज्ञान होता है, इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञान रसमय हो जाता है। यदि रस रूप हो जाता तो आत्मा जड़ ही बन जाता।

इस विषयक ज्ञान होते ही जो रसग्रहणकी इच्छा उठी थी वह शान्त हो जाती है और इच्छाके शान्त होनेसे आत्मा सुखी हो जाता है। सुखका बाधक है दुःख, और दुःख है आकुलतामय। आकुलताकी जननी इच्छा है, अतः जब इच्छाके अनुकूल विषयकी पूर्ति हो जाती है तब इच्छा स्वयमेव शान्त हो जाती है। इसी प्रकार सब व्यवस्था जानना चाहिये। जब-जब शरीर निःशक्त होता है, तब-तब आहारादिकी इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छाके उदयमें आहार ग्रहण करता है और आहार ग्रहण करनेके अनन्तर आकुलता शान्त हो जाती है...। इस प्रकार यह चक्र बराबर चला

जाता है और तब तक शान्त नहीं होता जब तक कि भेदज्ञानके द्वारा निजका परिचय नहीं हो जाता।

इसी प्रकार इसके भय होता है। यथार्थमें आत्मा तो अजर अमर है, ज्ञान गुणका धारी है. और इस शरीरसे भिन्न है फिर भयका क्या कारण है? यहाँ भी वही बात है अर्थात् मिथ्यात्वके उदयसे यह जीव शरीरको अपना मानता है अतएव इसके विनाशके जहाँ कारणकूट इकट्ठे हुए वहीं भयभीत हो जाता है। यदि शरीरमें अभेदबुद्धि न होती तो भयके लिए स्थान ही न मिलता। यही कारण है कि शरीर नाशके कारणोंका समागम होने पर यह जीव निरन्तर दुःखी रहता है।

वह भय सात प्रकारका है—१ इहलोक भय, २ परलोक भय, ३ वेदना भय, ४ असुरक्षा भय, ५ अगुप्ति भय, ६ आकस्मिक भय और ७ मरण भय। इनका संक्षिप्त स्वरूप यह है—

इस लोकका भय तो सर्वानुभवगम्य है, अतः उसके कहनेकी आवश्यकता नहीं। परलोकका भय यह है कि जब यह पर्याय छूटती है तब यही कल्पना होती है कि स्वर्गलोकमें जन्म हो तो भद्र—भला है, दुर्गतिमें जन्म न हो, अन्यथा नाना दुःखोंका पात्र होना पड़ेगा। इसी प्रकार मेरा कोई त्राता नहीं। असाताके उदयमें नाना प्रकारकी वेदनाएँ होती हैं यह वेदना भय है। कोई त्राता नहीं किसकी शरणमें जाऊँ? यह अशरण—असुरक्षाका भय है। कोई गोप्ता नहीं यही अगुप्ति भय है। आकस्मिक वज्रपातादिक न हो जावे यह आकस्मिक भय है और मरण न हो जावे यह मृत्युका भय है।...इन सप्तभयोंसे यह जीव निरन्तर दुखी रहता है। भयके होने पर उससे बचनेकी इच्छा होती है और उससे जीव निरन्तर आकुलित रहता है। इस तरह यह भय संज्ञा अनादि कालसे जीवों-के साथ चली आ रही है।

संसारमें जो मिथ्या प्रचार फैल रहा हैं उसमें मूल कारण राग द्वेषकी मलिनतासे जो कुछ लिखा गया वह साहित्य है। वही पुस्तकें कालान्तरमें धर्मशास्त्रके रूपमें मानी जाने लगीं। लोग तो अनादिकालसे मिथ्यात्वके उदयमें शरीरको ही आत्मा मानते हैं। जिनको अपना ही बोध नहीं वे परको क्या जानें? जब अपना पराया ज्ञान नहीं तब कैसा सम्यग्दृष्टि? यही श्री समयसारमें लिखा है—

परमाणुमित्तयं पि रागादीणं सुविज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणं यदु सव्वागमधरो वि॥'

जो सर्वागमको जाननेवाला है, उसके रागादिकोंका अंशमात्र भी यदि विद्यमान है तो वह आत्माको नहीं जानता है। जो आत्माको नहीं जानता है वह जीव और अजीवको नहीं जानता। जो जीव-अजीवको नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? कहनेका तात्पर्य यह कि आगमाभ्यास हो जीवादिकोंके जाननेमें मुख्य कारण है और आगमाभासका अभ्यास ही जीवादिकोंको अन्यथा जाननेमें कारण है। जिनको आत्म-कल्याणकी लालसा है वे आप्तकथित आगमका अभ्यास करें। क्षेत्रोंपर ज्ञानके साधन कुछ नहीं, केवल रुपये इकट्ठे करनेके साधन हैं। कल्पना करो यह धन यदि एकत्रित होता रहे और व्यय न हो तो अन्तमें नहींके तुल्य हुआ। अस्तु, इस कथासे क्या लाभ?

('मेरी जीवनगाथा'से)

मिथ्यात्व

परपदार्थको आत्मीय मानना ही मिथ्यात्व है। यद्यपि परपदार्थ आत्मा नहीं हो जाता तथापि मिथ्यात्वके प्रभावसे हमारी कल्पनामें आत्मा ही दीखता है। जैसे जो मनुष्य रज्जुमें सर्पभ्रान्ति हो जानेके कारण भयसे पलायन होने लगता है परन्तु रज्जु रज्जु ही है और सर्प सर्प ही है। ज्ञानमें जो सर्प आ रहा है वह ज्ञानका दोष है ज्ञेयका नहीं। इसीको अन्तर्ज्ञेय कहते हैं, इस अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा वह ज्ञान अप्रमाण नहीं क्योंकि यदि अन्तर्ज्ञेय सर्प न होता तो वह पलायन नहीं होता। उक्त ज्ञानको जो मिथ्या कहते हैं वह बाह्य प्रमेयकी अपेक्षा ही कहते हैं। इसीलिये श्रीसमन्तभद्र स्वामीने देवागमस्तोत्रमें लिखा है—

'भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः।
बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभञ्च ते॥'

अर्थात् यदि अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा वस्तु स्वरूपका विचार किया जावे तो कोई भी ज्ञान अप्रमाण नहीं, क्योंकि जिस ज्ञानमें प्रतिभासित विषयका व्यभिचार न हो वही ज्ञान प्रमाण है। जब हम मिथ्याज्ञानके ऊपर विचार करते हैं तब उसमें जो अन्तर्ज्ञेय भासमान हो रहा है वह तो ज्ञानमें है ही। यदि ज्ञानमें सर्प न होता तो पलायन होनेकी क्या आवश्यकता थी ? फिर उस ज्ञानको जो मिथ्या कहते हैं वह केवल बाह्य प्रमेयकी अपेक्षा ही कहते हैं क्योंकि बाह्यमें सर्प नहीं है रज्जु है। अतएव स्वामीने यही सिद्धान्त निश्चित किया कि बाह्य प्रमेयकी अपेक्षा ही ज्ञानमें प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था है। अन्तरङ्ग प्रमेयकी अपेक्षा सब ज्ञान प्रमाण ही हैं।

यही कारण है कि जब हम ज्ञानमें शरीरको आत्मा देखते हैं तब उसीमें निजत्वकी कल्पना करने लगते हैं। उस समय हमें कितने ही प्रकारसे समझानेका प्रयत्न क्यों न किया जावे सब विफल होता है, क्योंकि अन्तरङ्गमें मिथ्यादर्शनकी पुट विद्यमान रहती है। जैसे कामला रोगीको शङ्ख पीला ही दीखता है। उसे कितना ही क्यों न समझाया जावे कि शङ्ख तो शुक्ल ही होता है, आप बलात्कार पीत क्यों कह रहे हैं? पर वह यही उत्तर देता है कि आपकी दृष्टि विभ्रमात्मक है जिससे पीले शङ्खको शुक्ल कहते हो।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जबतक मिथ्यादर्शनका सद्भाव है तबतक परपदार्थसे आत्मीय बुद्धि नहीं जा सकती। जिन्हें सम्यग्ज्ञान अभीष्ट है उन्हें सबसे पहले अभिप्रायको निर्मल करनेका प्रयत्न करना चाहिये। जिनका अभिप्राय मलिन है वे सम्यग्ज्ञानके पात्र नहीं, अतः सब परिग्रहोंमें महान् पाप मिथ्यात्व परिग्रह है। जबतक इसका अभाव नहीं तबतक आप कितने ही व्रत तप संयमादि ग्रहण क्यों न करें मोक्षमार्गके साधक नहीं। इस मिथ्यात्वके सद्भावमें ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्वका तथा बाह्यमें मुनि धर्मका पालन करनेवाला भी नव ग्रैवेयकसे ऊपर नहीं जा सकता। अनन्तबार मुनि लिङ्ग धारण करके भी इसी संसारमें रुलता रहता है।

मिथ्यात्वका निर्वचन भी सम्यक्त्वकी तरह ही दुर्लभ है, क्योंकि ज्ञानगुणके विना जितने अन्य गुण हैं वे सब निर्विकल्पक हैं। ज्ञान ही आत्मामें एक ऐसी शक्ति है कि जो सबकी व्यवस्था बनाये है—यही एक ऐसा गुण है जो परकी भी व्यवस्था करता है और अपनी भी। मिथ्यात्वके कार्य जो अतत्त्वश्रद्धानादिक हैं वे सब ज्ञानकी पर्याय हैं। वास्तवमें मिथ्यात्व क्या है? यह मति श्रुत ज्ञानके गम्य नहीं। उसके कार्यसे ही उसका अनुमान किया जाता है। जैसे वातरोगसे शरीरकी सन्धि-सन्धिमें वेदना होती है। उस वेदनासे हम अनुमान करते हैं कि हमारे वातरोग है। वातरोगका

प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। ऐसे ही कुगुरु कुदेव और कुधर्मके माननेका जो हमारा परिणाम होता है उससे मिथ्यात्वका अनुमान होता है। वास्तवमें उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। अथवा शरीरमें जो अहम्बुद्धि होती है वह मिथ्यात्वके उदयमें होती है अतः उस अहम्बुद्धिसे मिथ्यात्वका अनुभव होता है। वस्तुतः उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि वह गुण निर्विकल्पक होता है। इस तरह यह परिग्रह आत्माके सम्पूर्ण परिग्रहोंका मूल है। जबतक इसका त्याग नहीं तबतक आत्मा संसारका ही पात्र रहता है। इसके जाननेसे ही आत्मा मोक्षमार्गके पथपर चलनेका अधिकारी हो सकता है। जबतक सम्यग्दर्शन न हो तबतक यह जीव न तो गृहस्थ धर्मका अधिकारी हो सकता है और न ऋषिधर्मका। ऊपरसे चाहे गृहस्थ रहे, चाहे मुनिवेष धारण कर ले, कौन रोक सकता है?

जन्मसे शरीर नग्न ही होता है अनन्तर जिस वातावरणमें इसका पालन होता है तद्रूप इसका परिणमन हो जाता है। देखा जाता है कि राजाओंके यहाँ जो बालक होते हैं उनको घाम और शीतसे बचानेके लिये बड़े-बड़े उपाय किये जाते हैं। उनके भोजनादिकी व्यवस्थाके लिये हजारों रुपये व्यय किये जाते हैं। उनको जरा-सी शीत बाधा हो जानेपर बड़े-बड़े वैद्यों व डाक्टरोंकी आपत्ति आ जाती है। वही बालक यदि गरीबके गृहमें जन्म लेता है तो दिन-दिन भर सरदी और गरमीमें पड़ा रहता है फिर भी राजबालककी अपेक्षा कहीं अधिक हृष्ट पुष्ट रहता है। प्राकृतिक शीत और उष्ण उसके शरीरकी वृद्धिमें सहायक होते हैं। यदि कभी उसे जूडी-सरदी सताती है तो लोंग घिसकर पिला देना ही उसकी नीरोगताका साधक हो जाता है। जो जो वस्तुजात धनाढ्योंके बालकोंको अपकारक समझे जाते हैं वही वस्तुजात निर्धनोंके बालकोंके सहायक देखे जाते हैं। जगत्की रीति ऐसी विलक्षण है कि जिसके पास कुछ पैसा हुआ लोग उसे पुण्यशाली पुरुष कहने

लगते हैं, क्योंकि उनके द्वारा सामान्य मनुष्योंको कुछ सहायता मिलती है और वह इसलिये मिलती है कि सामान्य मनुष्य उन धनाढ्योंकी असत् प्रशंसा करें। यह लोग जो कि धनाढ्यों द्वारा द्रव्यादि पाकर तुष्ट होते हैं, चारण लोगोंका कार्य करते हैं। यदि यह न हो तो उनकी पोल खुल जावे। बड़े-बड़े प्रतिभाशाली कवि-राज जरा-सी द्रव्य पानेके लिये ऐसे ऐसे वर्णन करते हैं कि साधा-रणसे साधारण धनाढ्यको इन्द्र, धनकुवेर तथा दानवीर कर्ण आदि कहनेमें भी नहीं चूकते! यद्यपि वह धनाढ्य लोग उन्हें धन नहीं देना चाहते तथापि अपने ऐबों-दोषोंको छिपानेके लिये लाखों रुपये दे डालते हैं। उत्तम तो यह था कि कवियोंकी प्रतिभा-का सदुपयोग कर स्वात्माकी परिणतिको निर्मल बनानेकी चेष्टा करते परन्तु चन्द चांदीके टुकड़ोंके लोभसे लालायित होकर अपनी अलौकिक प्रतिभा विक्रय कर देते हैं। ज्ञान प्राप्तिका फल तो यह होना उचित था कि संसारके कार्योंसे विरक्त होते पर वह तो दूर रहा, केवल लोभके वशीभूत होकर आत्माको बाह्य पदार्थोंका अनु-रागी बना लेते हैं। अस्तु,

मिथ्यात्व परिग्रहका अभाव हो जानेपर भी यद्यपि परिग्रहका सद्भाव रहता है तथापि उसमें इसकी निजत्व कल्पना मिट जाती है, अतः सब परिग्रहोंका मूल मिथ्यात्व ही है। जिन्हें संसार बन्धनसे छूटनेकी अभिलाषा है उन्हें सर्व प्रथम इसीका त्याग करना चाहिए, क्योंकि इसका त्याग करनेसे सब पदार्थोंका त्याग सुलभ हो जाता है।

('मेरी जीवनगाथा'से)

प्रभावना

जिस ग्राममें मन्दिर और मूर्तियोंकी प्रचुरता है यदि वहाँ पर मन्दिर न वनवाया जाय, तथा गजरथ न चलाया जावे तो कोई हानि नहीं। वही द्रव्य दरिद्र लोगोंके स्थितीकरणमें लगाया जावे, वालकोंको शिक्षित वनाया जावे, धर्मका यथार्थ स्वरूप समझाकर लोगोंकी धर्ममें यथार्थ प्रवृत्ति करायी जावे, प्राचीन शास्त्रोंकी रक्षा की जावे, प्राचीन मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराया जावे या सव विकल्प छोड़ यथायोग्य विभागके द्वारा साधर्मी भाइयोंको धर्म साधनमें लगाया जावे तो क्या धर्म नहीं हो सकता ?

जहाँ तक वने सन्मार्गका उपदेश देकर सन्मार्गकी प्रभावना करना महान् धर्म है परन्तु हमारी दृष्टि उस ओर नहीं जाती। धर्मका स्वरूप तो दया है। वे भी तो हमारे भाई हैं जो कि उपदेशके अभावमें कुमार्गगामी हो गये हैं। यदि हमारा लक्ष्य होता तो उनका कुमार्गसे सुमार्गपर आना क्या दुर्लभ था ? वे संज्ञी हैं, मनुष्य हैं, साक्षर हैं, वुद्धिमान् हैं फिर भी सदुपदेशके अभावमें आज उनकी यह दुर्दशा हो रही है। यदि उन्हें सदुपदेशका लाभ हो तो उनका सुधारना कठिन वात नहीं परन्तु उस ओर हमारी दृष्टि जाती ही नहीं।

जिस समय श्रीशान्तिसागर महाराजका शिखरजी शुभागमन हुआ था उस समय वहाँ एक लाखसे भी अधिक जनताका जमाव हुआ था। भारतवर्ष भरके धनाढ्य, विद्वान् तथा साधारण मनुष्य उस समारोहमें थे। पण्डितोंके मार्मिक तत्त्वों पर वड़े-वड़े व्याख्यान हुए थे। महासभा, तीर्थक्षेत्र कमेटी आदिके अधिवेशन हुए थे, कोठियोंमें भरपूर आमदनी हुई, लाखों रुपये रेलवे कम्पनीने कमाये और लाखों ही रुपये मोटरकार तथा वैलगाड़ियोंमें गये परन्तु

सर्वदाके लिये कोई स्थायी कार्य नहीं हुआ ! क्या उस समय दश लाखकी पूँजीसे एक ऐसी संस्थाका खोला जाना दुर्लभ था जिसमें कि उस प्रान्तके भीलोंके हजारों बालक जैनधर्मकी शिक्षा पाते, हजारों गरीबोंके लिये औषधिका प्रबन्ध होता और हजारों मनुष्य आजीविकाके साधन प्राप्त करते ? परन्तु यह तो स्वप्नकी वार्ता है, क्योंकि हमारी दृष्टि इन कार्योंको व्यर्थ समझ रही है। यह कलिकालका माहात्म्य है कि हम द्रव्य व्यय करके भी उसके यथेष्ट लाभसे वञ्चित रहते हैं।

आजकल प्राय: अंग्रेजी दवाका विशेष प्रचार हो गया है। इसका मूल कारण यह है कि ऐसे औषधालय नहीं रहे जिनमें शुद्ध औषधि तैयार मिल सके। यद्यपि इसमें लाखों रुपयोंका काम है पर समुदाय क्या नहीं कर सकता ? उत्तमसे उत्तम वैद्योंकी नियुक्ति की जावे, शुद्ध औषधिकी सुलभता हो, ठहरने आदिके सब साधन उपलब्ध हों तो लोग अनुपसेव्य औषधका सेवन क्यों करेंगे ?

जब लोग धर्मको जान लेंगे तब अनायास उसपर चलेंगे। आत्मा स्वयं परीक्षक है; परन्तु क्या करे ? सबके पास साधन नहीं, यदि धर्म प्रचारके यथार्थ साधन मिलें तो बिना किसी प्रयत्नके धर्म प्रसार हो जावे। धर्म वस्तु कोई बाह्य पदार्थ नहीं, आत्माकी निर्मल परिणतिका नाम ही तो धर्म है। जितने जीव हैं सबमें उसकी योग्यता है परन्तु उस योग्यताका विकास संज्ञी जीवके ही होता है। जो असंज्ञी हैं अर्थात् जिनके मन नहीं उनके तो उसके विकासका कारण ही नहीं है। संज्ञी जीवोंमें एक मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसके उसका पूर्ण विकास हो सकता है। यही कारण है कि मनुष्य पर्याय सब पर्यायोंमें उत्तम पर्याय मानी गई है। इस पर्यायसे हम संयम धारण कर सकते हैं। अन्य पर्यायोंमें संयमकी योग्यता नहीं। पञ्चेन्द्रियोंके विषयसे चित्तवृत्तिको हटा लेना तथा जीवोंकी रक्षा करना ही तो संयम है। यदि इस ओर हमारा लक्ष्य हो जावे तो

आज ही हमारा कल्याण हो जावे। हमारा ही क्या समाज भरका कल्याण हो जावे।

आगममें लिखा है कि आदिनाथ भगवान् जव अपने पूर्वभवमें राजा वज्रजङ्घ थे और वज्रदन्त चक्रवर्तीके विरक्त होनेके वाद उनकी राज्य व्यवस्थाके लिये जा रहे थे तव वीचमें एक सरोवरके तटपर ठहरे थे। वहाँ उन्होंने चारण ऋद्धिधारी मुनियोंके लिये आहार दान दिया। जिस समय वे आहार दान दे रहे थे उस समय शूकर, सिंह, नकुल और वानर ये चार जीव भी शान्त भावसे वैठे थे और आहारदान देखकर मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे! भोजनानन्तर राजा वज्रजङ्घने चारण मुनियोंसे प्रश्न किया कि हे मुनिराज! यह जो चार जाव शान्त वैठे हुए हैं इसका कारण क्या है? उस समय मुनिराजने उनके पूर्व जन्मका वर्णन किया जिसे सुनकर वे इतने प्रभावित हुए कि उनका अवशिष्ट जीवन धर्ममय होगया और आयुका अवसान होनेपर जहाँ राजा वज्रजङ्घ और उनकी रानी श्रीमतीका जन्म हुआ वहीं पर इनका भी जन्म हुआ तथा राजाके मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और श्रेष्ठी ये चारों जीव भी वहीं उत्पन्न हुए। पश्चात् वज्रजङ्घका जोव जव कई भवोंके वाद श्री आदिनाथ तीर्थङ्कर हुआ तव वे जीव भी उन्हीं प्रभुके वाहुवलि आदि पुत्र हुए। कहनेका तात्पर्य यह है कि धर्म किसी जाति विशेषका पैतृक विभव नहीं अपि तु प्राणीमात्रका स्वभाव धर्म है। कर्मकी प्रवलतासे उसका अभाव-सा हो रहा है अतः जिन्हें धर्मकी प्रभावना इष्ट है उन्हें उचित है कि प्राणीमात्रके ऊपर दया करें, अहम्वुद्धिको तिलाञ्जलि देवें, तभी धर्मकी प्रभावना हो सकती है।

वाह्य उपकरणोंका प्राचुर्य धर्मका उतना साधक नहीं जितना कि आत्मपरिणतिका निर्मल होना साधक है। भूखे मनुष्यको आभूषण देना उतना तृप्तिजनक नहीं जितना कि दो रोटियाँ देना

है। इस पञ्चम कालमें प्रायः दुखी प्राणी बहुत हैं अतः अपनी सामर्थ्यके अनुकूल उनके दुःख दूर करनेमें प्रयास करो, वे आपसे आप धर्मसे प्रेम करने लगेंगे। प्रतिदिन व्यापार करते हो, टोटा भी पड़ता है और नफा भी होता है। क्या जब टोटा पड़ता है तब व्यापार त्याग देते हो? नहीं, तब धर्ममें इतनी निराशताका उपयोग क्यों? धर्मके लिये यथाशक्ति द्रव्यका सदुपयोग करो यही सच्ची प्रभावना है।

बहुतसे ऐसे महानुभाव हैं कि जिनके सजातीय बन्धु तो आजीविका विहीन होकर इतस्ततः भ्रमण कर रहे हैं पर वे हजारों रुपये प्रतिष्ठा आदिमें व्यय कर रहे हैं और खूबीकी बात यह कि सजातीय बन्धुओंकी अवस्थाके सुधारमें एक पैसा देनेमें भी उदारताका परिचय नहीं देते। क्या यह प्रभावना है?

ऐसा देखा गया है कि मनुष्य जिनसे हजारों रुपये अर्जन कर इस लोकमें प्रतिष्ठाको प्राप्त हुए हैं और जिनके द्रव्यसे धर्मकर सिंघई, सेठ या श्रीमन्त बननेके पात्र हुए हैं उन्हींके नन्हें-नन्हें बालकों पर जो कि अन्नके लिये तरस रहे हैं दया न करके मनोनीत कार्योंमें द्रव्य व्ययकर धर्मात्मा बननेका प्रयत्न करते हैं। यह क्या उचित है, यह क्या धर्मका स्वरूप है?

इसका मूल कारण अन्तरङ्गमें अभिप्रायकी मलिनता है। जिसका अभिप्राय निर्मल है वे जो भी कार्य करेंगे, यथायोग्य ही करेंगे। गर्मीके दिनमें प्राणी तृषासे आतुर रहते हैं अतः उन्हें पानीसे सन्तुष्ट करना उचित है।

आजकल संसारमें अधिकतर मनुष्य बेकार हो गये हैं। उन्हें यथायोग्य कार्यमें लगा देना ही उचित है। आगमकी तो यह आज्ञा है कि द्रव्य क्षेत्रादि निमित्तको देखकर द्रव्यादिकी व्यवस्था करनी चाहिये। वर्तमानमें अनेक मनुष्य अन्नके बिना अपना धर्म छोड़कर अन्य धर्म अङ्गीकार कर लेते हैं। कोई उनकी रक्षा करनेवाला

नहीं। द्रव्यका सदुपयोग यही है कि दुःखी प्राणियोंकी रक्षामें लगाया जावे। प्रत्येक आत्मामें धर्म है परन्तु कर्मोदयकी वलवत्तासे उसका विकास नहीं हो पाता। यदि भाग्योदयसे तुम्हारी आत्मामें उसके विकासका अवसर आया है तो इस वाह्य द्रव्यसे ममता छोड़कर नैर्ग्रन्थपद धारण करो। यदि इतनी योग्यता नहीं तो जो बाह्य सामग्री तुम्हें उपलब्ध है उसे उसीके साधनोंमें व्यय करो। जितना-जितना कषाय उपशम होता जावे उतना-उतना त्यागको वृद्धिरूप करते जाओ। सबसे पहिले गृहस्थावस्थामें अन्यायसे जो धनार्जन करते थे उसका संवर करो एवं अन्यायके जो विषय थे उन्हें त्यागो। भोजन ऐसा करो जो अभक्ष्य न हो। दानशाला खोलो परन्तु उनमें शुद्ध भोजनादिकी व्यवस्था हो। औषधालय खोलो परन्तु शुद्ध औषधिकी व्यवस्था करो। विद्यालय खोलो परन्तु उनमें स्वपरभेद ज्ञानकी शिक्षाके मुख्य साधन जुटाओ। मन्दिर वनवाओ परन्तु उनमें ऐसी प्रतिमा पधराओ कि जिसे देखकर प्राणी मात्रको शान्ति आजावे।

('मेरी जीवनगाथा'से)

पुरुषार्थ

आत्माको पहिचानना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। सच्चा पुरुषार्थ तो वह है कि उदयके अनुसार जो रागादिक होवें हमारे ज्ञानमें भी आवें, उनकी प्रवृत्ति भी हममें हो किन्तु हम उन्हें कर्मज भाव समझकर इष्टानिष्ट कल्पनासे अपनी आत्माकी रक्षा कर सकें। लोग कहते हैं कि हमें शान्ति नहीं मिलती। अरे, तुम्हें शान्ति मिले तो कैसे मिले? एक क्षण रागादिकसे निवृत्त होकर शान्ति मुद्रासे बैठकर तो देखो कैसा शान्तिका समुद्र उमड़ता है? न कुछ करना ही आत्माका काम है। मन, वचन, कायके योग भी आत्माके नहीं हैं। वह तो एक निर्विकल्पभाव है। लोग कहते हैं कि आत्माकी महिमा अनंतशक्तिमें है परन्तु उसकी महिमा केवल अनन्तशक्तिमें ही नहीं है क्योंकि पुद्गलमें भी अनन्तशक्ति है, केवल एक ज्ञाना-वरण कर्म ही आत्माके केवलज्ञानको रोक लेता है। अतः आत्माकी महिमा उस शक्तिमें है जो सम्यग्दर्शन पैदा करके अन्तर्मुहूर्तमें कर्मोंका नाशकर आत्माको परमात्मा बना देता है। इससे सिद्ध है कि आत्माकी महिमा उसकी अचिन्त्यशक्तिमें नहीं, क्योंकि उसका काम केवल देखना और जानना मात्र है। और देखना जानना भी क्या है? यह कि जो चीज जैसी है वैसी ही देखे जाने।

अकर्मण्यता छोड़ो—

लोग अपनेको कर्मोंपर छोड़ देते हैं। वे कहते हैं "क्या करें हमारे कर्ममें ही ऐसा लिखा था।" कितनी अज्ञानता और कायरता है? जैसा कि और लोग भी कहते हैं। "क्या करें भगवान्को ऐसा ही स्वीकार था।" कर्मोंके मत्थे सारा दोष मढ़ते हैं, पुरुषार्थपर

किंचित् भी ध्यान नहीं देते। जिस आगममें पुरुषार्थका इतना विशद वर्णन हो उसको ये लोग भूल जाते हैं! जरा भी नहीं सोचते कि कर्मोंको दोष देनेसे क्या होगा? जो जन्मार्जित कर्म हैं, उनका तो फल उदयमें आयगा ही। भगवान्‌को ही देखो। मोह नष्ट हो चुका, अर्हत् पदमें विराजमान हैं। पर फिर भी दण्ड कपाट करो। दंडाकार हो कपाटरूप हो प्रतर करा और लोकपूरण करो। यह सब क्या है? वही जन्मार्जित कर्म ही तो उदयमें आकर खिर रहे हैं, तो कर्मोंके सहारे रहना ठीक नहीं है। पुरुषार्थ भी कोई चीज नहीं है। जिस पुरुषार्थसे केवलज्ञानकी प्राप्ति हो उस पुरुषार्थकी ओर ध्यान न दो तो यह अज्ञानता ही है।

मोहको जीतो—

परन्तु मोह! तेरी महिमा अचिन्त्य है, अपार है जो संसार-मात्रको अपना बनाना चाहता है। नारकीकी तरह मिलनेको तो कण भी नहीं, परन्तु इच्छा संसार भरके अनाज खानेकी होती है।

अब देखिये इस शरीरपर तुम यह कपड़ा पहिनते हो तो क्या यह कपड़ा तुम्हारे अन्दर प्रवेश करता है? अरे, मोही जीव उसे अपना मान बैठते हैं। और चोट्टापन क्या है? दूसरी चीजको अपनी मान लेना यही तो चोट्टापन है। इस दुपट्टेको अपना मान लिया जभी तो चोर हो गया, नहीं तो समझते पराया है। पर मोह मदिरामें ऐसा ही होता है। तुमने उसकी-सी बात कही और उसने उसको-सी इस तरह उस शुद्ध स्वरूपकी ओर ध्यान ही नहीं देते। देखिये यह घड़ी हमने ले ली। इससे हम अपना काम भी निकाल रहे हैं। पर अन्तरङ्गसे यही समझते हैं कि अरे, यह तो पराई है। उसी तरह रागादिकोंसे यदि जरूरत पड़े तो काम भी निकाल लो पर अन्तरङ्गसे यही जानो कि अरे, यह तो पर हैं और

जव तक भइया परको पर और अपनेको अपना नहीं समझा तबतक कल्याण भी कैसे होगा ? यदि रागादिकोंको अपनाये रहोगे तो कैसे वन्धनसे छूटना होगा बतलाइये। अतः रागादिकोंको हटानेकी आवश्यकता है। कैसी आपत्ति आजाय समझो यह भी कर्मोंका कर्जा है। समभावसे उसे सहन कर लो। हाँ उसमें हर्ष विषाद मत करो। यह तुम्हारे हाथ की वात है। और भैया रागादिक नहीं हटे तो मनुष्य जन्म पानेका फल ही क्या हुआ ? संसार और कोई नहीं, रागादिक परिणति ही संसार है और उसका अभाव ही समयसार है।

अभिप्रायको निर्मल रखो—

मनुष्यको अभिप्राय निर्मल रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये। उसीकी सारी महिमा है। श्रेणिक राजाको ही देखिये मुनिराजके गलेमें मरा हुआ सर्प डाल आये। रानीसे जाकर सर्व हाल कह दिया। रानीने कहा अरे तुमने यह क्या किया ? राजा बोला वह तो गलेसे उतारकर फेंक देगा। रानीने कह दिया नहीं यदि वह सच्चे हमारे मुनि होंगे तो नहीं फेंक सकते नहीं फेंक सकते। यदि फेंक दिया होगा तो वह नग्न होते हुए भी हमारे मुनि नहीं। वहाँ दोनों जाकर पहुँचे तो देखा कि उनके गलेमें सर्पके कारण तमाम चीटियाँ चिपक गई हैं। दूरसे देखते ही राजाके हृदयमें वह साम्यभावकी मुद्रा अङ्कित हो गई। उसने सोचा कि मुनि हैं तो सचमुच यही हैं। रानीने उसी समय मुनिके समीप पहुँचकर खाँड़ द्वारा उन चीटियोंको दूर किया। तो मतलव यही कि महिमा तो उसकी तभी हुई जव उसके हृदयमें साम्यभाव जाग्रत हुआ। और शास्त्रोंमें भी क्या लिखा है ? मनुष्यके अभिप्रायोंको निर्मल वनानेकी चेष्टा ही तो है।

देव शास्त्र गुरुसे शिक्षा लो—

मनुष्य यदि चाहे तो संसारकी सन्ततिको निर्मल कर सकता है। कोई बड़ी बात नहीं। भगवान्‌की मूर्तिसे भी यही शिक्षा मिलती है कि अपनेको उसीके अनुसार बनाए। उन्होंने रागद्वेष हटाया, मध्यस्थ रहे, तुम भी वैसा ही करो। मध्यस्थ बननेका यत्न करो? एकने कहा रामायण तो सब गपोड़बाजी है। उसमें सब कपोलकल्पित कल्पनाएँ भर रही हैं। दूसरा बोला यदि उसमें कल्पनाएँ हैं, तो यह तो मानोगे कि रावणने खोटा काम किया तो लोक निन्दाका पात्र हुआ और रामने लोकप्रिय कार्य किया तो सुयशका अर्जन किया। वह बोला हाँ इसमें कोई आपत्ति नहीं। तो बाँचनेका फल ही यह हुआ कि अपनेको सुधारनेकी चेष्टा करे। गुरु और क्यों पूजे जाते हैं? उन्होंने वही समताभाव धारण किया। अरि, मित्र, महल, मसान, कञ्चन, काँच, निन्दा, स्तुति, अपमान और पूजा सबको समान समझा। मनुष्यको परिणामोंमें समता धारण करना चाहिये। तुम्हारे दिलमें यदि प्रसन्नता हुई तो कह दिया कि भगवान् आज तो प्रसन्न मुद्रामें हैं। वैसे देखा जाय तो भगवान् न तो प्रसन्न हैं और न रुष्ट। अपने हृदयकी प्रसन्नताको तुमने भगवान्‌पर आरोप कर दिया कि आज तो हमें मूर्ति प्रसन्न-मना दिखाई देती है, पर देखो तो वह जैसीकी तैसी ही है। अतः मनुष्य यदि अपने परिणामोंपर दृष्टिपात करे तो संसार बन्धनसे छूटना कोई बड़ी बात नहीं है।

अपनेको ही शान्तिबाधक समझो—

हम ही लोग अपने शान्तिके बाधक हैं। संसारमें जितने पदार्थ हैं उनमेंसे एक भी पदार्थ शान्ति स्वभावका बाधक नहीं। बर्तनमें रखी हुई मदिरा अथवा डिब्बेमें रखा हुआ पान पुरुषमें

विकृतिका कारण नहीं। पदार्थ हमें विकारी होनेको वाध्य नहीं करता, हम स्वयं विकल्पोंसे उसमें इष्टानिष्ट कल्पना कर सुखी और दुखी होते हैं। कोई भी पदार्थ न सुख देता है और न दुख देता है, इसलिये जहाँ तक वने आभ्यन्तर परिणामोंकी विशुद्धता पर सदैव ध्यान रखना चाहिये।

ब्रह्मचर्यका पालन करो—

ब्रह्मचर्य व्रत ही सब व्रतोंमें उत्तम है। इसके समान और कोई दूसरा व्रत नहीं है। जिसने इस व्रतको पाल लिया उसके अन्य व्रत अनायास ही सध जाते हैं। पर इस व्रतका पालन करना कोई सामान्य वात नहीं है। स्त्री विषयक रागका जीतना वड़ा कठिन है। पहिले पार्सी थिएटर चलाते थे। एक थिएटरमें पार्सी था, उसकी स्त्री बड़ी खूबसूरत थी। वे दोनों रंगमंच पर अपना अभिनय प्रदर्शन करते थे। एक दिन वह स्त्री रंगमंच पर अभिनय कर रही थी। एक मनुष्यने एक कागज पर कुछ लिखकर रंगमंच पर फेंक दिया। उस स्त्रीने उस कागजको उठाकर पढ़ा। पढ़कर उस कागजको दियसलाईसे जलाकर अपने पैरोंसे कुचल दिया। इधर तो उसने कागजको कुचला और उधर उस मनुष्यने कटारसे अपना गला काट लिया। इससे स्पष्ट है कि स्त्री सम्वन्धी राग बड़ा दुखदायी होता है। एक पुस्तकमें लिखा है—संसारमें शूरवीर कौन है? उत्तरमें वतलाया—जो तरुण स्त्रियोंके कटाक्ष बाणोंसे वीधा जानेपर भी विकार भावको प्राप्त नहीं हुआ वास्तवमें शूरवीर तो वही है। कितनी देरका सुख है। अन्तमें तो इससे वैराग्य होता ही है।

इस रागसे विरक्त होना अत्यन्त कष्ट साध्य है। और जिसको विरक्तता हो जाती है उसके लिये भोगोंका छोड़ना कोई वड़ी बात भी नहीं होती। पंडित ठाकुरप्रसादजी थे। वे दो विषयोंके आचार्य

थे। उनकी दूसरी स्त्री बड़ी सुन्दर थी। उदारता और सदाचारकी तों वह मूर्ति थी। विशेषता यह कि पं० जी उसपर पूर्ण आसक्त थे। परन्तु वह विरागकी ओर बढ़ी जा रही थी। उसने एक दिन पं० जी को बुलाकर कहा—'देखो आज तक हमने आपके साथ इतने दिनों तक भोग भोगे पर हमें विषयोंमें कुछ भी मजा नहीं आया। ये आपके बाल-बच्चे हैं, सँभालिये। आजसे तुम हमारे भाई और हम तुम्हारी बहिन हुए।' 'पण्डितजी ऐसे वचनोंको सुनकर अवाक् रह गये। तुमने मुझे आज चेतावनी देकर सँभाल लिया नहीं तो मैं भोगोंमें आसक्त होकर न जाने कौन-सी दुर्गतिका पात्र होता। भोगोंसे विरक्त रहने हीमें मनुष्यकी शोभा है। स्त्री सम्बन्धी रागका घटना ही सर्वस्व है। जब इस सम्बन्धी राग घट गया तब अन्य परिग्रहसे तो सुतरां अनुराग घट जाता है।

('सुखकी झलक'से)



सल्लेखना मरण

सल्लेखना—

काय और कषायके कृश करनेको ही सल्लेखना (समाधि) कहते हैं। उसमें भी कायकी कृशताकी कोई आवश्यकता नहीं, यह पर वस्तु है। इसको न कृश ही करना और न पुष्ट ही करना, अपने आधीन नहीं। हाँ, यह स्वाधीन वस्तु है, जो अपनी कषायको कृश करना, क्योंकि इसका उदय आत्मामें होता है। और उसीके कारण हम कृश हो जाते हैं। अर्थात् हमारे ज्ञान दर्शन घाते जाते हैं। और उसके घातसे ज्ञान दर्शनका जो देखना जानना होता है यही तो दुःखका मूल है। अतः आप त्यागकी मुख्यताकर शरीरकी कृशतामें उद्यम न कीजिये। रही कषाय कृशकी कथा, सो उसके अर्थ निरन्तर चिद्रूपमें तन्मयता ही उसका प्रयोजन है। औदयिक भावोंका रुकना तो हाथकी बात नहीं किन्तु औदयिक भावोंको अनात्मीय जान उनमें हर्ष-विषाद न करना ही पुरुषार्थ है। जहाँ अनुकूल साधन हों उन्हें त्यागकर अनुकूल साधन बनानेमें उपयोगका दुरुपयोग है। कल्याणका पथ आत्मा है, न कि बाह्य क्षेत्र। यह बाह्य क्षेत्र तो अनात्मज्ञोंकी दृष्टिमें महत्त्व रखते हैं। चिरकालसे हमारे जैसे जीवोंकी प्रवृत्ति बाह्य साधनोंकी ओर ही मुख्य रही, फल उसका यह हुआ जो अद्यावधि स्वात्म सुखसे वञ्चित रहे।

मरण—

आयुके निषेक पूर्ण होनेपर मनुष्य पर्यायका वियोग मरण है। तथा आयुके सद्भावमें पर्यायका सम्वन्ध सो ही जीवन है। जैसे जिस मन्दिरमें हम निवास करते हैं उसके सद्भाव असद्भावमें हमको

किसी प्रकारका हानि लाभ नहीं। तव क्यों हर्ष-विषादकर अपने पवित्र भावोंको कलुषित किया जावे। जैसे कि कहा है—

'प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं सत्स्वयमेव शश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
अस्यातो मरणं न किञ्चिद् भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥'

अर्थ—प्राणोंके नाशको मरण कहते हैं। और प्राण इस आत्माका ज्ञान है। वह ज्ञान सत् रूप स्वयं ही नित्य होनेके कारण कभी नहीं नष्ट होता है। अतः इस आत्माका कुछ भी मरण नहीं है तो फिर ज्ञानीको मरणका भय कहाँसे हो सकता है। वह ज्ञानी स्वयं निःशङ्क होकर निरन्तर स्वाभाविक ज्ञानको सदा प्राप्त करता है।

इस प्रकार आप सानन्द ऐसे मरणका प्रयास करना जो परम्परा मातास्तन्य पानसे वच जाओ। इतना सुन्दर अवसर हस्तगत हुआ है, अवश्य इससे लाभ लेना।

आत्मा कल्याणका मन्दिर है—

आत्मा ही कल्याणका मन्दिर है अतः पदार्थोंकी किञ्चित् मात्र भी आप अपेक्षा न करें। अव पुस्तक द्वारा ज्ञानाभ्यास करनेकी आवश्यकता नहीं। अव तो पर्यायमें घोर परिश्रमकर स्वरूपके अर्थ मोक्ष-मार्गका अभ्यास करना उचित है। अव उसी ज्ञान शस्त्रको रागद्वेष शत्रुओंके ऊपर निपात करनेकी आवश्यकता है, यह कार्य न तो उपदेष्टाका है और न समाधिमरणमें सहायक पण्डितोंका है। अव तो अन्य कथाओंके श्रवण करनेमें समयको न देकर उस शत्रु सेनाके पराजय करनेमें सावधान होकर यत्नपर हो जावो।

यद्यपि निमित्तको प्रधान माननेवाले तर्कद्वारा बहुतसी आपत्ति इस विषयमें ला सकते हैं फिर भी कार्य करना अन्तमें तो आपही-का कर्तव्य होगा। अतः जबतक आपकी चेतना सावधान है, निर-न्तर स्वात्मस्वरूप चिन्तवनमें लगा दो।

श्री परमेष्ठीका भी स्मरण करो किन्तु ज्ञायककी ओर ही लक्ष्य रखना, क्योंकि मैं "ज्ञाता द्रष्टा" हूँ, ज्ञेय भिन्न हैं, इसमें इष्टानिष्ट विकल्प न हो यही पुरुषार्थ करना और अन्तरङ्गमें मूर्छा न करना। तथा रागादिक भावोंको तथा उसके वक्ताओंको दूरहीसे त्यागना। मुझे आनन्द इस बातका है कि आप निःशल्य हैं। यही आपके कल्याणकी परमौषधि है।

शरीर नश्वर है—

जहाँतक हो सके इस समय शारीरिक अवस्थाकी ओर दृष्टि न देकर निजात्माकी ओर लक्ष्य देकर उसीके स्वास्थ्य लाभकी औषधिका प्रयत्न करना। शरीर परद्रव्य है, उसकी कोई भी अवस्था हो उसका ज्ञाता द्रष्टा ही रहना। सो ही समयसारमें कहा है—

'को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इदं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणन्तो ॥'

भावार्थ—यह परद्रव्य मेरा है ऐसा ज्ञानी पण्डित नहीं कह सकता, क्योंकि ज्ञानी जीव तो आत्माको ही स्वकीय परिग्रह मानता या समझता है।

यद्यपि विजातीय दो द्रव्योंसे मनुष्य पर्यायकी उत्पत्ति हुई है किन्तु विजातीय दो द्रव्य मिलकर सुधाहरिद्रावत् एकरूप नहीं परिणमे हैं। वहाँ तो वर्ण गुण दोनोंका एकरूप परिणमना कोई आपत्तिजनक नहीं है किन्तु यहाँपर एक चेतन और अन्य अचेतन

द्रव्य हैं। इनका एकरूप परिणमना न्याय प्रतिकूल है। पुद्गलके निमित्तको प्राप्त होकर आत्मा रागादिकरूप परिणम जाता है। फिर भी रागादिक भाव औदयिक हैं। अत: वन्धजनक हैं, आत्माको दुःखजनक हैं, अतः हेय हैं। परन्तु शरीरका परिणमन आत्मासे भिन्न है, अत: न वह हेय है और न वह उपादेय है। इसहीको समयसारमें श्री महर्षि कुन्दकुन्दाचार्यने निर्जराधिकारमें लिखा है—

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अह व जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ॥

अर्थ—यह शरीर छिद जावो अथवा भिद जावो अथवा ले जावो अथवा नाश हो जावो, जैसे तैसे हो जावो तो भी यह मेरा परिग्रह नहीं है।

इसीसे सम्यग्दृष्टिके परद्रव्यके नाना प्रकारके परिणमन होते हुए भी हर्ष-विषाद नहीं होता। अत: आपको भी इस समय शरीरको क्षीण अवस्था होते हुए कोई भी विकल्प न कर तटस्थ ही रहना हितकर है।

चरणानुयोगमें जो परद्रव्योंको शुभाशुभमें निमित्तत्वकी अपेक्षा हेयोपादेयकी व्यवस्था की है, वह अल्पप्रज्ञके अर्थ है। आप तो विज्ञ हैं। अध्यवसानको ही वन्धका जनक समझ उसीके त्यागकी भावना करना और निरन्तर ऐसा विचार करना कि ज्ञानदर्शनात्मक जो आत्मा है वही उपादेय है। शेष जो वाह्य पदार्थ हैं वे मेरे नहीं हैं।

आपके शरीरको अवस्था प्रतिदिन क्षीण हो रही है, इसका ह्रास होना स्वाभाविक है। इसके ह्रास और वृद्धिसे हमारा कोई घात नहीं, ज्ञानाभ्यासी स्वयं जानते हैं। अथवा मान लीजिये कि शरीरके शैथिल्यसे तद् अवयवभूत इन्द्रियादिक भी शिथिल हो जाती हैं तथा द्रव्येन्द्रियके विकृत भावसे भावेन्द्रिय स्वकीय कार्य

करनेमें समर्थ नहीं होती हैं किन्तु मोहनीय उपशमजन्य सम्यक्त्वकी इसमें क्या विराधना हुई। मनुष्य शयन करता है उस काल जाग्रत अवस्थाके सदृश ज्ञान नहीं रहता किन्तु जो सम्यग्दर्शन गुण संसारका अन्तक है उसका आंशिक भी घात नहीं होता। अतएव अपर्याप्त अवस्थामें भी सम्यग्दर्शन माना है जहाँ केवल तैजस कार्माण शरीर हैं। उत्तरकालीन शरीरकी पूर्णता भी नहीं। तथा आहारादि वर्गणाके अभावमें भी सम्यग्दर्शनका सद्भाव रहता है। अतः आप इस बातकी रञ्चमात्र आकुलता न करे कि हमारा शरीर क्षीण हो रहा है, क्योंकि शरीर परद्रव्य है; उसके सम्बन्धसे जो कोई कार्य होनेवाला है वह हो अथवा न हो परन्तु जो वस्तु आत्माहीसे समन्वित है उसकी क्षति करनेवाला कोई नहीं, उसकी रक्षा है तो संसार तट समीप ही है। विशेष बात यह है कि चरणानुयोगकी पद्धतिसे समाधिके अर्थ बाह्य संयोग अच्छे होना विधेय है किन्तु परमार्थ दृष्टिसे निज प्रबलतम श्रद्धान ही कार्यकर है। आप जानते हैं कि कितने ही प्रबल ज्ञानियोंका समागम रहे किन्तु समाधिकर्ताको उनके उपदेश श्रवणकर विचार तो स्वयं ही करना पड़ेगा। जो मैं एक हूँ, रागादिक शून्य हूँ, यह जो सामग्री देख रहा हूँ परजन्य है, हेय है, उपादेय निज ही है। परमात्माके गुणगानसे परमात्मा द्वारा परमात्मपदकी प्राप्ति नहीं किन्तु परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलनेसे ही उस पदका लाभ निश्चित है अतः सर्व प्रकारके झंझटोंको छोड़कर अब तो केवल वीतराग निर्दिष्ट पथ पर ही आभ्यन्तर परिणामसे आरूढ़ हो जाओ। बाह्य त्यागकी वहीं तक मर्यादा है जहाँतक निज भावमें बाधा न पहुँचे। अपने परिणामोंके परिणमनको देखकर ही त्याग करना क्योंकि जैन सिद्धान्तमें सत्य पथ मूर्छा त्यागवालेके ही होता है अतः जो जन्मभर मोक्षमार्गका अध्ययन किया उसके फलका समय है इसे सावधानतया उपयोगमें लाना। यदि कोई महानुभाव

अन्तमें दिगम्बर पदकी सम्मति देवे तब अपनी आभ्यन्तर विचार-धारासे कार्य लेना। वास्तवमें अन्तरङ्ग बुद्धिपूर्वक मूर्छा न हो तभी उस पदके पात्र बनना। इसका भी खेद न करना कि हम शक्तिहीन हो गये अन्यथा अच्छी तरहसे यह कार्य सम्पन्न करते। हीन शक्ति शरीरको दुर्वलता है। आभ्यन्तर श्रद्धामें दुर्बलता न हो। अतः निरन्तर यही भावना रखना।

'एगो मे सासदो आदा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥'

अर्थ—एक मेरा शाश्वत आत्मा ज्ञान-दर्शनलक्षणमयी है शेष जो बाहिरी भाव हैं वे मेरे नहीं हैं, सर्व संयोगी भाव हैं॥

अतः जहाँ तक बने स्वयं आप समाधान पूर्वक अन्यको समाधिका उपदेश करना कि समाधिस्थ आत्मा अनन्त शक्तिशाली है तब यह कौनसा विशिष्ट कार्य है। वह तो उन शत्रुओंको चूर्ण कर देता है जो अनन्त संसारके कारण हैं।

जिनागमकी नौका पर चढ़ चलिये—

इस संसार समुद्रमें गोते खानेवाले जीवोंको केवल जिनागम ही नौका है। उसका जिस भव्य प्राणियोंने आश्रय लिया है वे अवश्य एक दिन पार होंगे। परन्तु क्या करें निरन्तर इसी चिन्तामें रहते हैं कि कब ऐसा शुभ समय आवे जो वास्तवमें हम इसके पात्र हों अभी हम इसके पात्र नहीं हुए, अन्यथा तुच्छ-से तुच्छ बातोंमें नाना कल्पनायें करते हुए दुःखी न होते।

रागादिकको दूर कीजिये—

हमारा और आपका मुख्य कर्तव्य रागादिकको दूर करनेका ही निरन्तर रहना चाहिये, क्योंकि आगमज्ञान और श्रद्धासे बिना

संयतत्व भावके मोक्षमार्गकी सिद्धि नहीं, अतः सब प्रयत्नका यही सार होना चाहिये जो रागादिक भावोंका अस्तित्व आत्मामें न रहे। ज्ञान वस्तुका परिचय करा देता है अर्थात् अज्ञान निवृत्ति ज्ञानका फल है किन्तु ज्ञानका फल उपेक्षा नहीं, उपेक्षा फल चारित्र का है। ज्ञानमें आरोपसे वह फल कहा जाता है। जन्मभर मोक्ष-मार्ग विषयक ज्ञान सम्पादन किया अब एक बार उपयोगमें लाकर उसका आस्वाद लो। आजकल चरणानुयोगका अभिप्राय लोगोंने परवस्तुके त्याग और ग्रहणमें ही समझ रखा है सो नहीं। चर-णानुयोगका मुख्य प्रयोजन तो स्वकीय रागादिकके मेंटनेका है परन्तु वह परवस्तुके सम्बन्धसे होते हैं अर्थात् परवस्तु उसका नोकर्म होती है, अतः उसको त्याग करते हैं। सबसे ममत्व हटाने-की चेष्टा करो; यही पार होनेकी नौका है। जब परमें ममत्व भाव घटेगा तब स्वयमेव निराश्रय अहंबुद्धि घट जावेगी, क्योंकि ममत्व और अहङ्कारका अविनाभावी सम्बन्ध है; एकके बिना अन्य नहीं रहता। सर्व त्याग कर दिया परन्तु कुछ भी शान्तिका अंश न पाया। उपवासादिक करके शान्ति न मिली, परको निन्दा और आत्मप्रशंसासे भी आनन्दका अंकुर न उगा, भोजनादिको प्रक्रियासे भी लेश शान्तिको न पाया। अतः यही निश्चय किया कि रागादिक गये बिना शान्तिकी उद्भूति नही अतः सर्व व्यापार उसीके निवारणमें लगा देना ही शान्तिका उपाय है। वाग्जालके लिखनेसे कुछ भी सार नहीं।

वास्तवमें आत्माके शत्रु तो राग, द्वेष और मोह हैं। जो इसे निरन्तर इस दुःखमय संसारमें भ्रमण करा रहे हैं। अतः आव-श्यकता इसकी है कि जो राग-द्वेषके आधीन न होकर स्वात्मोत्थ परमानन्दकी ओर ही हमारा प्रयत्न सतत रहना ही श्रेयस्कर है।

औदयिक रागादि होवें इसका कुछ भी रंज नहीं करना चाहिये। रागादिकोंका होना रुचिकर नहीं होना चाहिये। बड़े-बड़े

ज्ञानी जनोंके राग होता है। परन्तु उस रागमें रंजकताके अभावसे आगे उसकी परिपाटी रोधका आत्माको अनायास अवसर मिल जाता है। इस प्रकार औदयिक रागादिकोंकी सन्तानका अपचय होते-होते एक दिन समूलतलसे उसका अभाव हो जाता है और तव आत्मा स्वच्छ स्वरूप होकर इन संसारकी वासनाओंका पात्र नहीं होता। मैं आपको क्या लिखूँ ? यही मेरी सम्मति है—जो अव विशेष विकल्पोंको त्यागकर जिस उपायसे राग द्वेषका आशयमें अभाव हो वही आपका व मेरा कर्तव्य है, क्योंकि पर्यायका अवसान है। यद्यपि पर्यायका अवसान तो होगा ही किन्तु फिर भी सम्बोधनके लिये कहा जाता है तथा मूढ़ोंको वास्तविक पदार्थका परिचय न होनेसे बड़ा आश्चर्य मालूम पड़ता है।

विचारसे देखिये तव आश्चर्यको स्थान नहीं। भौतिक पदार्थोंकी परिणति देखकर वहुतसे जन क्षुब्ध हो जाते हैं। भला जब पदार्थ मात्र अनन्त शक्तियोंके पुञ्ज हैं तव क्या पुद्गलमें वह वात न हो, यह कहाँका न्याय है। आजकल विज्ञानके प्रभावको देख लोगोंकी श्रद्धा पुद्गल द्रव्यमें ही जाग्रत हो गई है। भला यह तो विचारिये, उसका उपयोग किसने किया ? जिसने किया उसको न मानना यही तो जड़भाव है।

विना रागादिकके कार्मण वर्गणा क्या कर्मादि रूप परिणमनको समर्थ हो सकती है ? तव यों कहिये। अपनी अनन्त शक्तिके विकासका वाधक आपही मोहकर्म द्वारा हो रहे हैं। फिर भी हम ऐसे अन्धे हैं जो मोहकी ही महिमा आलाप रहे हैं। मोहमें बलवत्ता देनेवाली शक्तिमान वस्तुकी ओर दृष्टि प्रसार कर देखो तो धन्य उस अचिन्त्य प्रभाववाले पदार्थको कि जिसकी वक्र दृष्टिसे यह जगत् अनादिसे वन रहा है। और जहाँ उसने वक्र दृष्टिको संकोचकर एक समय मात्र सुदृष्टिका अवलम्वन किया कि इस संसारका अस्तित्व ही नहीं रहता। सो ही समयसारमें कहा है—

कषायकलिरेकतः शान्तिरस्त्येकतो ।
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः ॥
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः ।
स्वभावमहिमाऽऽत्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः ॥

अर्थ—एक तरफसे कषाय कालिमा स्पर्श करती है और एक तरफसे शान्ति स्पर्श करती है। एक तरफ संसारका आघात है और एक तरफ मुक्ति है। एक तरफ तीनों लोक प्रकाशमान हैं और एक तरफ चेतन आत्मा प्रकाश कर रहा है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि आत्माकी स्वभाव महिमा अद्भुतसे अद्भुत विजयको प्राप्त होती है। इत्यादि अनेक पद्यमय भावोंसे यही अन्तिम करन प्रतिभाका विषय होता है जो आत्मा द्रव्य हीकी विचित्र महिमा है। चाहे नाना दुःखाकीर्ण जगत्में नाना वेष धारणकर नटरूप बहुरूपिया बने और चाहे स्वनिर्मित सम्पूर्ण लीला-को संवरण करके गगनवत् पारमार्थिक निर्मल स्वभावको धारण कर निश्चल तिष्ठे। यही कारण है। "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप है। इसमें कोई सन्देह नहीं, यदि वेदान्ती एकान्त दुराग्रहको छोड़ देवें तब जो कुछ कथन है अक्षरशः सत्य भासमान होने लगे। एकान्तदृष्टि ही अन्धदृष्टि है। आप भी अल्प परिश्रमसे कुछ इस ओर आइये। भला यह जो पंच स्थावर और त्रसका समुदाय जगत् दृश्य हो रहा है, क्या है? क्या ब्रह्मका विकार नहीं? अथवा स्वमतकी ओर कुछ दृष्टिका प्रसार कीजिये। तब निमित्त कथनकी मुख्यतासे ये जो रागादिक परिणाम हो रहे हैं, क्या उन्हें पौद्गलिक नहीं कहा है? अथवा इन्हें छोड़िये। जहाँ अवधिज्ञानका विषय निरूपण किया है, वहाँ क्षयोपशम भावको भी अवधिज्ञानका विषय कहा है। अर्थात्—

पुद्गल द्रव्यके सम्बन्धसे जायमान होनेसे क्षायोपशिक भाव भी कथञ्चित् रूपी है। केवलज्ञान भाव अवधिज्ञानका विषय नहीं, क्योंकि उसमें रूपी द्रव्यका सम्बन्ध नहीं। अतएव यह सिद्ध हुआ औदयिक भाववत् क्षायोपशमिक भाव भी कथञ्चित् पुद्गलके सम्बन्धसे जायमान होनेसे मूर्तिमान है न कि रूप-रसादिमत्ता इनमें है। तद्वत् अशुद्धताके सम्बन्धसे जायमान होनेसे यह भौतिक जगत् भी कथञ्चित् ब्रह्मका विकार है। कथञ्चित्का यह अर्थ है कि जीवके रागादिक भावोंके ही निमित्तको पाकर पुद्गल द्रव्य एकेन्द्रियादि रूप परिणमनको प्राप्त है। अत: यह जो मनुष्यादि पर्याय हैं वे दो असमान जातीय द्रव्यके सम्बन्धसे निष्पन्न हैं। न केवल जीवकी हैं और न केवल पुद्गलकी हैं। किन्तु जीव और पुद्गल के सम्बन्धसे जायमान हैं। तथा यह जो रागादि परिणाम हैं सो न तो केवल जीवके ही हैं और न केवल पुद्गलके हैं किन्तु उपादानकी अपेक्षा तो जीवके हैं और निमित्त कारणकी अपेक्षा पुद्गलके हैं। और द्रव्य दृष्टिकर देखें तो न पुद्गलके हैं और न जीवके हैं, शुद्ध द्रव्यके कथनमें पर्यायकी मुख्यता नहीं रहती। अत: यह गौण हो जाते हैं। जैसे पुत्र पर्याय स्त्री पुरुष दोनोंके द्वारा सम्पन्न होती है। अस्तु इससे यह निष्कर्ष निकला यह जो पर्याय है, वह केवल जीवकी नहीं किन्तु पौद्गलिक मोहके उदयसे आत्माके चारित्र गुणमें विकार होता है, अत: हमें यह न समझना चाहिये कि हमारी इसमें क्या क्षति है। क्षति तो यह हुई जो आत्माकी वास्तविक परिणति थी वह विकृत भावको प्राप्त हो गई। यही तो क्षति है। परमार्थसे क्षतिका यह आशय है कि आत्मामें रागादिक दोष हो जाते हैं वह न होवें। तब जो उन दोषोंके निमित्तसे यह जीव किसी पदार्थमें अनुकूलता और किसीमें प्रतिकूलताकी कल्पना करता था और उनके परिणमन द्वारा हर्ष विषादकर वास्तविक निराकुलता (सुख) के

अभावमें आकुलित रहता था। शान्तिके आस्वादकी कणिकाको भी नहीं पाता था। अब उन रागादिक दोषोंके असद्भावमें आत्मगुण चारित्रकी स्थिति अकम्प और निर्मल हो जाती है। उसके निर्मल निमित्तको अवलम्बनकर आत्माका चेतना नामक गुण है वह स्वयमेव दृश्य और ज्ञेय पदार्थोंको तद्रूप हो द्रष्टा और ज्ञाता शक्तिशाली होकर आगामी अनन्त काल स्वाभाविक परिणमनशाली आकाशादिवत् अकम्प रहता है। इसीका नाम भावमुक्ति है। अब आत्मामें मोह निमित्तक जो कलुपता थी वह सर्वथा निमूंल हो गई किन्तु अभी जो योगनिमित्तक परिस्पन्दन है वह प्रदेश प्रकम्पनको करता ही रहता है। तथा तन्निमित्तक ईर्यापथास्रव भी साता वेदनीयका हुआ करता है। यद्यपि इसमें आत्माके स्वाभाविक भावकी क्षति नहीं। फिर भी निरपवर्त्य आयुके सद्भावमें यावत् आयुके निषेक हैं तावत् भव स्थितिको मेंटनेको कोई भी क्षम नहीं। तब अन्तर्मुहूर्त आयुका अवसान रहता है। तथा शेष जो नामादिक कर्मकी स्थिति अधिक रहती है, उस कालमें तृतीय शुक्लध्यानके प्रसादसे दण्डकपाटादि द्वारा शेष कर्मोंकी स्थितिको आयु समकर चतुर्दश गुणस्थानका आरोहणकर अयोग नामको प्राप्त करता हुआ लघुपञ्चाक्षरके उच्चारणके काल समगुणस्थानका काल पूर्णकर चतुर्थ ध्यानके प्रसादसे शेष प्रकृतियोंका नाशकर परम यथाख्यात चारित्रका लाभ करता हुआ एक समयमें द्रव्य मुक्ति व्यपदेशताको लाभकर, मुक्ति साम्राज्य लक्ष्मीका भोक्ता होता हुआ लोक शिखरमें विराजमान होकर तीर्थङ्कर प्रभुके ज्ञानका विषय होकर हमारे कल्याणमें सहायक होता है।

परपदार्थसे मूर्च्छा छोड़िये—

श्रेयोमार्गकी सन्निकटता जहाँ-जहाँ होती है वह वस्तु पूज्य है, अतः हम और आपको बाह्य वस्तुजातमें मूर्छाकी कृशता कर आत्म-

तत्त्वका उत्कर्ष करना चाहिये। ग्रन्थाभ्यासका प्रयोजन केवल ज्ञानार्जन तक ही नहीं है, साथहीमें परपदार्थोंसे उपेक्षा होनी चाहिये। आगमज्ञानकी प्राप्ति और है किन्तु उसकी उपयोगिताका फल और है। मिश्रीकी प्राप्ति और स्वादमें महान् अन्तर है। यदि स्वादका अनुभव न हुआ तव मिश्री पदार्थका मिलना केवल अन्धेकी लालटेनके सदृश है, अतः अव यावान् पुरुपार्थ है वह इसीमें कटिवद्ध होकर लगा देना ही श्रेयस्कर है। जो आगम ज्ञानके साथ-साथ उपेक्षा रूप स्वादका लाभ हो जावे।

विषाद इस वातका है जो वास्तविक आत्मतत्त्वका घातक है उसकी उपक्षीणता नहीं होती। उसके अर्थ निरन्तर प्रयास है। वाह्य पदार्थका छोड़ना कोई कठिन नहीं। किन्तु यह नियम नहीं कि अध्यवसानके कारण छूटकर भी अध्यवसानकी उत्पत्ति अन्तस्तलमें नहीं होगी। उस वासनाके विरुद्ध शस्त्र चलाकर उसका निपात करना यद्यपि उपाय निर्दिष्ट किया है, परन्तु फिर भी वह क्या है ? केवल शव्दोंकी सुन्दरताको छोड़कर गम्य नहीं। दृष्टान्त तो स्पष्ट है, अग्नि-जन्य उष्णता जो जलमें हैं उसकी भिन्नता तो दृष्टि विषय है। यहाँ तो क्रोधसे जो क्षमाकी अप्रादुर्भूति है वह यावत् क्रोध न जावे तव तक कैसे व्यक्त हो। ऊपरसे क्रोध न करना क्षमाका साधक नहीं। आशयसे वह न रहे यही तो कठिन वात है। रहा उपाय तत्त्वज्ञान, सो तो हम आप सर्व जानते ही हैं किन्तु फिर भी कुछ गूढ़ रहस्य है जो महानुभावोंके समागमकी अपेक्षा रखता है, यदि वह न मिले तव आत्मा ही आत्मा है, उसकी सेवा करना ही उत्तम है। उसकी सेवा क्या है 'ज्ञाता द्रष्टा' और जो कुछ अतिरिक्त है वह विकृत जानना।

परतन्त्रताके वन्धन तोड़िये—

वचन चतुरतासे किसीको मोहित कर लेना पाण्डित्यका परिचायक नहीं। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने कहा है—

'किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्तउववासो।
अज्झयणमौणपहुदी समदारहियस्स समणस्स ।।'

अर्थ—समताके बिना वननिवास और कायक्लेश तथा नाना उपवास तथा अध्ययन मौन आदि कोई उपयोगी नहीं। अतः इन बाह्य साधनोंका मोह व्यर्थ ही है। दीनता और स्वकार्यमें अतत्परता ही मोक्षमार्गका घातक है। जहाँ तक हो इस पराधीनताके भावोंका उच्छेद करना ही हमारा ध्येय होना चाहिये। हाँ आत्मन्! तूने यह मानव पर्यायको पाकर भी निजतत्त्वकी ओर लक्ष्य नहीं दिया। केवल इन बाह्य पञ्चेन्द्रिय विषयोंकी प्रवृत्तिमें ही सन्तोष मानकर अपने स्वरूपका अपहरण करके भी लज्जित न हुआ।

तद्विषयक अभिलाषाकी अनुत्पत्ति ही चारित्र है। मोक्षमार्गमें संवर तत्त्व ही मुख्य है। निर्जरा तत्त्वकी महिमा इसके बिना स्याद्वाद-शून्य आगम अथवा जीवनशून्य शरीर अथवा नेत्रहीन मुखकी तरह है। अतः जिन जीवोंको मोक्ष रुचता है उनका यही मुख्य ध्येय होना चाहिये कि जो अभिलाषाओंके उत्पादक चरणानुयोगोंकी पद्धति प्रतिपादित साधनोंकी ओर लक्ष्य स्थिर कर निरन्तर स्वात्मोत्थ सुखामृतके अभिलाषी होकर रागादि शत्रुओंकी प्रबल सेनाका विध्वंस करनेमें भगीरथ प्रयत्न कर जन्म सार्थक किया जावे किन्तु व्यर्थ न जावे इसमें यत्नपर होना चाहिये। कहाँ तक प्रयत्न करना उचित है? जहाँ तक पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति न हो।

'भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
यावत्तावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितम् ।।'

अर्थ—यह भेद विज्ञान अखण्डधारासे भावो जब तक कि पर द्रव्यसे रहित होकर ज्ञान ज्ञानमें (अपने स्वरूपमें) न ठहर जाय।

क्योंकि सिद्धिका मूलमन्त्र भेद विज्ञान ही है। वही श्री आत्मतत्त्व-रसास्वादी अमृतचन्द्र सूरिने कहा है—

'भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो वद्धा वद्धा ये किल केचन ॥'

अर्थ—जो कोई भी सिद्ध हुए हैं वे भेद विज्ञानसे ही सिद्ध हुए हैं और जो कोई वँधे हैं वे भेद विज्ञानके न होनेसे ही वन्धको प्राप्त हुए हैं।

रामवाण ओषधिका सेवन कीजिये—

अतः अव इन परनिमित्तक श्रेयोमार्गकी प्राप्तिके प्रयत्नमें समयका उपयोग न करके स्वावलम्वनकी ओर दृष्टि ही इस जर्जरावस्थामें महती उपयोगिनी रामवाण तुल्य अचूक ओषधि है। तदुक्तम्—

'इतो न किञ्चित् परतो न किञ्चित्,
यतो यतो यामि ततो न किञ्चित्।
विचार्य पश्यामि जगन्न किञ्चित्,
स्वात्मावबोधादधिकं न किञ्चित् ॥'

अर्थ—इस तरफ कुछ नहीं है और दूसरी तरफ भी कुछ नहीं है तथा जहाँ-जहाँ मैं जाता हूँ वहाँ-वहाँ भी कुछ नहीं है। विचार करके देखता हूँ तो यह संसार भी कुछ नहीं है। स्वकीय आत्मज्ञानसे वढ़कर कोई नहीं है।

इसका भाव विचार स्वावलम्वनका शरण ही संसार वन्धनके मोचनका मुख्य उपाय है। मेरी तो यह श्रद्धा है जो संवर ही सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका मूल है।

मिथ्यात्वकी अनुत्पत्तिका नाम ही तो सम्यग्दर्शन है। और अज्ञानकी अनुत्पत्तिका नाम सम्यग्ज्ञान तथा रागादिककी अनुत्पत्ति

यथाख्यात चारित्र और योगानुत्पत्ति ही परम यथाख्यात चारित्र है। अतः संवर ही दर्शनज्ञानचारित्राराधनाके व्यपदेशको प्राप्त करता है तथा इसीका नाम तप है, क्योंकि इच्छानिरोधका नाम ही तप है।

मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि इच्छाका न होना ही तप है। अतः तप आराधना भी यही है। इस प्रकार संवर ही चार आराधना है, अतः जहाँ परसे श्रेयोमार्गकी आकांक्षाका त्याग है वहाँ श्रेयोमार्ग है।

प्रभु बननेका पुरुषार्थ कीजिये—

हमें आवश्यकता इस बातकी है कि प्रभुके उपदेशके अनुकूल प्रभुकी पूर्वावस्थावत् आचरण द्वारा प्रभु इव प्रभुताके पात्र हो जावें। यद्यपि अध्यवसानभाव परनिमित्तक हैं। यथा—

'न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः
तस्मिन् निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्॥'

अर्थ—आत्मा, आत्मा सम्बन्धी रागादिककी उत्पत्तिमें स्वयं कदाचित् निमित्तताको प्राप्त नहीं होता है। अर्थात् आत्मा स्वकीय रागादिकके उत्पन्न होनेमें अपने आप निमित्त कारण नहीं है किन्तु उनके होनेमें परवस्तु ही निमित्त है। जैसे अर्ककान्त मणि स्वयं अग्निरूप नहीं परणमता है किन्तु सूर्य किरण उस परिणमनमें कारण है। तथापि परमार्थ तत्त्वकी गवेषणामें वे निमित्त क्या बलात्कार अध्यवसान भावके उत्पादक हो जाते हैं? नहीं, किन्तु हम स्वयं अध्यवसान द्वारा उन्हें विषय करते हैं। जब ऐसी वस्तु मर्यादा है तब पुरुषार्थ कर उस संसार जनक भावोंके नाशका उद्यम करना ही हम लोगोंको इष्ट होना चाहिये। चरणानुयोगकी पद्धतिमें निमित्तकी मुख्यतासे व्याख्यान होता है। और अध्यात्म शास्त्रमें

पुरुषार्थकी मुख्यता और उपादानकी मुख्यतासे व्याख्यान पद्धति है। और प्रायः हमें इसी परिपाटीका अनुसरण करना ही विशेष फलप्रद होगा। शरीरकी क्षीणता यद्यपि तत्त्वज्ञानमें बाह्य दृष्टिसे कुछ बाधक है तथापि सम्यग्ज्ञानियोंकी प्रवृत्तिमें उतना बाधक नहीं हो सकती। यदि वेदनाकी अनुभूतिमें विपरीतताकी कणिका न हो तब मेरी समझमें हमारी ज्ञान चेतनाकी कोई क्षति नहीं है।

कहने और लिखने और वाक्चातुर्य्यमें मोक्षमार्ग नहीं। मोक्षमार्गका अंकुर तो अन्तःकरणसे निज पदार्थमें ही उदय होता है। उसे यह परजन्य मन, वचन, काय क्या जानें। यह तो पुद्गल द्रव्यके विलास हैं। जहाँ पर उन पुद्गलकी पर्यायोंने ही नाना प्रकारके नाटक दिखाकर उस ज्ञाता द्रष्टाको इस संसार चक्रका पात्र बना रक्खा है। अतः अब दीपसे तमोराशिको भेदकर और चन्द्रसे परपदार्थ जन्य आतपको शमन कर सुधा समुद्रमें अवगाहन कर वास्तविक सच्चिदानन्द होनेकी योग्यताके पात्र बनिये। वह पात्रता आपमें है। केवल साहस करनेका विलम्ब है। अब इस अनादि संसार जननी कायरताको दग्ध करनेसे ही कार्य सिद्धि होगी। निरन्तर चिन्ता करनेसे क्या लाभ? लाभ तो आभ्यन्तर विशुद्धिसे है। विशुद्धिका प्रयोजन भेदज्ञान है।

शास्त्र-स्वाध्याय कीजिये—

भेदज्ञानका कारण निरन्तर अध्यात्म ग्रन्थोंकी चिन्तना है। अतः इस दशामें ग्रन्थाध्ययन उपयोगी होगा। उपयोग सरल रीतिसे इसमें संलग्न हो जाता है। उपक्षीण कायमें विशेष परिश्रम करना स्वास्थ्यका बाधक होता है, अतः आप सानन्द निराकुलता पूर्वक धर्मध्यानमें अपना समय यापन कीजिये। शरीरकी दशा तो अब क्षीण सन्मुख हो रही है। जो दशा आपकी है वही प्रायः सबकी है। परन्तु कोई भीतरसे दुःखी है तो कोई बाह्यसे दुःखी है। आपको

शारीरिक व्याधि है जो वास्तवमें अघाति कर्म असाताकर्मजन्य है वह आत्मगुण घातक नहीं। आभ्यन्तर व्याधि मोहजन्य होती है। जो कि आत्मगुण घातक है।

स्वाध्याय करिये। और विशेष त्यागके विकल्पमें न पड़िये। केवल क्षमादिक परिणामोंके द्वारा ही वास्तविक आत्माका हित होता है। काय कोई वस्तु नहीं। वह आप ही स्वयं कृश हो रही है। उसका क्या विकल्प। भोजन स्वयमेव न्यून हो गया है। जो कारण बाधक है उसे आप बुद्धि पूर्वक स्वयं त्याग रहे हैं। मेरी तो यही भावना है—"प्रभु पार्श्वनाथ स्वरूप परमात्माके ध्यानसे आपकी आत्माको इस बन्धनके तोड़नेमें अपूर्व सामर्थ्य मिले।"

कल्याणके मूल मन्त्रको मत भूलिये—

स्वतन्त्र भाव ही आत्मकल्याणका मूल मन्त्र है। क्योंकि आत्मा वास्तविक दृष्टिसे तो सदा शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाववाला है। कर्म कलङ्कसे ही मलीन हो रहा है। सो इसके पृथक् करनेकी जो विधि है उसपर आप आरूढ़ हैं। बाह्य क्रियाकी त्रुटि आतम-परिणामकी बाधक नहीं और न मानना ही चाहिये। सम्यग्दृष्टि जो निन्दा तथा गर्हा करता है, वह अशुद्धोपयोगकी है न कि मन, वचन, कायके व्यापारकी।

देहकी दशा जैसी शास्त्रोंमें प्रतिपादित है तदनुरूप ही है, परन्तु इसमें हमारा क्या घात हुआ? यह हमारी बुद्धिगोचर नहीं हुआ। घटके घातसे दीपकका घात नहीं होता। पदार्थका परिचायक ज्ञान है। अतः ज्ञानमें ऐसी अवस्था शरीरकी प्रतिभासित होती है एतावत् क्या ज्ञान तद्रूप हो गया।

'पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयम्
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादपि।

तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयी भवन्ति सहजां मुंचंत्युदासीनताम् ।'

अर्थ—पूर्ण अद्वितीय नहीं च्युत है शुद्ध बोधकी महिमा जिसकी ऐसा जो बोद्धा है वह कभी भी बोध्य पदार्थके निमित्तसे प्रकाश्य (घटादि) पदार्थसे प्रदीपकी तरह किसी भी प्रकारकी विक्रियाको नहीं प्राप्त होता है। इस मर्यादा विषयक बोधसे जिसकी बुद्धि वन्ध्या है वे अज्ञानी हैं। वे ही रागद्वेषादिकके पात्र होते हैं और स्वाभाविक जो उदासीनता है उसे त्याग देते हैं। आप विज्ञ हैं, कभी भी इस असत्य भावको आलम्बन न दें।

मृत्युसे मत डरिये—

अनेकानेक मर चुके तथा मरते हैं और मरेंगे। इससे क्या आया। एक दिन हमारी भी पर्याय चली जावेगी। इसमें कौन-सी आश्चर्यकी घटना है। इसको तो आपसे विज्ञ पुरुषोंको विचार कोटिसे पृथक् रखना ही श्रेयस्कर है।

वेदनासे भयभीत मत होइये—

जो वेदना असाताके उदय आदि कारण कूट होनेपर उत्पन्न हुई और हमारे ज्ञानमें आयी वह क्या वस्तु है? परमार्थसे विचारा जाय तो यह एक तरहसे सुख गुणमें विकृति हुई वह हमारे ध्यानमें आयी। उसे हम नहीं चाहते। इसमें कौन-सी विपरीतता हुई? विपरीतता तो तब होती है जब हम उसे निज मान लेते। विकारज परिणतिको पृथक् करना अप्रशस्त नहीं, अप्रशस्तता तो यदि हम उसीका निरन्तर चिन्तवन करते रहें और निजत्वको विस्मरण हो जावें तब है।

अतः जितनी भी अनिष्ट सामग्री मिले, मिलने दो। उसके प्रति आदर भावसे व्यवहार कर ऋणमोचन पुरुषकी तरह आनन्दसे

साधुकी तरह प्रवृत्ति करना चाहिये। निदानको छोड़कर आर्तत्रय षष्ठ गुणस्थान तक होते हैं। थोड़े समय तक अर्जित कर्म आया, फल देकर चला गया। अच्छा हुआ, आकर हलका कर गया। रोगका निकलना ही अच्छा है। मेरी सम्मतिमें निकलना रहनेकी अपेक्षा प्रशस्त है। इसी प्रकार आपकी असाता यदि शरीरकी जीर्ण शीर्ण अवस्था द्वारा निकल रही है तब आपको बहुत ही आनन्द मानना चाहिये। अन्यथा यदि वह अभी न निकलती तब क्या स्वर्गमें निकलती ? मेरी दृष्टिमें केवल असाता ही नहीं निकल रही, साथ ही मोहकी अरति आदि प्रकृतियाँ भी निकल रही हैं। क्योंकि आप इस असाताको सुख पूर्वक भोग रहे हैं। शान्ति पूर्व कर्मोंके रसको भोगना आगामी दुःखकर नहीं।

जितने लिखनेवाले और कथन करनेवाले तथा कथन कर बाह्य चरणानुयोगके अनुकूल प्रवृत्ति करनेवाले तथा आर्ष वाक्यों पर श्रद्धालु व्यक्ति हुए हैं, अथवा हैं तथा होंगे, क्या सर्व ही मोक्षमार्गी हैं ? मेरी तो श्रद्धा नहीं। अन्यथा श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है। हे प्रभो ! **'हमारे शत्रुको भी द्रव्यलिंग न हो'** इस वाक्यकी चरितार्थता न होती तो काहेको लिखते। अतः परकी प्रवृत्ति देख रञ्चमात्र भी विकल्पको आश्रय न देना ही हमारे लिये हितकर है। आपके ऊपर कुछ भी आपत्ति नहीं, जो आत्महित करनेवाले हैं वह शिर पर आग लगानेपर तथा सर्वाङ्ग अग्निमय आभूषण धारण करानेपर तथा यन्त्रादि द्वारा उपद्रित होनेपर मोक्षलक्ष्मीके पात्र होते हैं। मुझे तो आपकी असाता और श्रद्धा दोनोंको साथ देखकर इतनी प्रसन्नता होती है कि हे प्रभो ! यह अवसर सबको दे। आपकी केवल श्रद्धा ही नहीं किन्तु आचरण भी अन्यथा नहीं। क्या मुनिको जब तीव्र व्याधिका उदय होता है, तब बाह्य चरणानुयोग आचरण-के असद्भावमें क्या उनके छठवां गुणस्थान चला जाता है ? यदि

ऐसा है तब उसे समाधिमरणके समय हे मुने ! इत्यादि सम्बोधन करके जो उपदेश दिया है वह किस प्रकार संगत होगा। पीड़ा आदिमें चित्त चंचल रहता है इसका क्या यह आशय है कि पीड़ाका बारम्बार स्मरण हो जाता है। हो जाओ, स्मरण ज्ञान है और जिसकी धारणा होती है उसका वाह्य निमित्त मिलनेपर स्मरण होना अनिवार्य है। किन्तु साथमें यह भाव तो रहता है कि यह चंचलता सम्यक् नहीं। परन्तु मेरी समझमें इसपर भी गम्भीर दृष्टि दीजिये। चंचलता तो कुछ वाधक नहीं। साथमें उसके अरतिका उदय और असाताकी उदीरणासे दुःखानुभव हो जाता है। उसे पृथक् करनेकी भावना रहती है। इसीसे इसकी महर्षियोंने आर्त्त-ध्यानकी कोटिमें गणना की है। क्या इस भावके होनेसे पंचम गुण-स्थान मिट जाता है ? यदि इस ध्यानके होनेपर देशव्रतके विरुद्ध भावका उदय श्रद्धामें न हो तव मुझे तो दृढ़तम विश्वास है कि गुणस्थानकी कोई भी क्षति नहीं। तरतमता ही होती है वह भी उसी गुणस्थानमें। ये विचारे जिन्होंने कुछ नहीं जाना कहाँ जावेंगे, क्या करें इत्यादि विकल्पोंके पात्र होते हैं—कहीं जाओ हमें इसकी मीमांसासे क्या लाभ ? हम विचारे इस भावसे कहाँ जावेंगे इसपर ही विचार करना चाहिये।

आपका सच्चिदानन्द जैसा आपकी निर्मल दृष्टिने निर्णीत किया है द्रव्यदृष्टिसे वैसा ही है। परन्तु द्रव्य तो भोग्य नहीं, भोग्य तो पर्याय है, अतः उसके तात्त्विक स्वरूपके जो बाधक हैं उन्हें पृथक् करनेकी चेष्टा करना ही हमारा पुरुषार्थ है।

चोरकी सजा देखकर साधुको भय होना मेरे ज्ञानमें नहीं आता। अतः मिथ्यात्वादि क्रिया संयुक्त प्राणियोंका पतन देख हमें भय होनेकी कोई भी वात नहीं। हमारे तो जब सम्यक् रत्नत्रयकी तलवार हाथमें आगई है और वह यद्यपि वर्तमानमें भौथरी धार-

वाली है परन्तु है तो असि। कर्मेन्धनको धीरे-धीरे छेदेगी, परन्तु छेदेगी ही। बड़े आनन्दसे जीवनोत्सर्ग करना। अंशमात्र भी आकुलता श्रद्धामें न लाना। प्रभुने अच्छा ही देखा है अन्यथा उसके मार्ग पर हम लोग न आते। समाधिमरण योग द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव क्या परनिमित्त ही हैं? नहीं।

जहाँ अपने परिणामोंमें शान्ति आई वहीं सभी सामग्री है। उपद्रवहारिणी कल्याण पथानुसारिणी जो आपकी दृढ़ श्रद्धा है वही कर्मशत्रुवाहिनीको जयनशीला तीक्ष्ण असिधारा है। उसे संभालिये समाधिमरण की महिमा अपने ही द्वारा होती है।

सत्य दान दोजिय—

मरण समय लोग दान करते हैं। वह दान तो ठीक ही है परन्तु सत्य दान तो लोभका त्याग है और उसको मैं चारित्रका अंश मानता हूँ। मूर्छाकी निवृत्ति ही चारित्र है। हमको द्रव्य त्यागमें पुण्यबन्धकी ओर दृष्टि न देनी चाहिये किन्तु इस द्रव्यसे ममत्वनिवृत्ति द्वारा शुद्धोपयोगका वर्धकदान समझना चाहिये। वास्तविक तत्त्व ही निवृत्तिरूप है। जहाँ उभय पदार्थका बंध है वहीं संसार है। और जहाँ दोनों वस्तु स्वकीय स्वकीय गुणपर्यायोंमें परिणमन करते हैं वही निवृत्ति है यही सिद्धान्त है। कहा भी है—

'सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमज्योतिस्सदैवास्म्यहम् ॥
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥'

अर्थ—यह सिद्धान्त उदारचित्त और उदार चरित्रवाले मोक्षार्थियोंको सेवन करना चाहिये कि मैं एक ही शुद्ध (कर्मरहित)

चैतन्य स्वरूप परम ज्योतिवाला सदैव हूँ। तथा ये जो भिन्न लक्षण-वाले नाना प्रकारके भाव प्रकट होते हैं, वे मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सम्पूर्ण परद्रव्य हैं।

इस श्लोकका भाव इतना सुन्दर और रुचिकर है जो हृदयमें आते ही संसारका आतप कहाँ जाता है पता नहीं लगता।

सल्लेखनाके ऊपर ही दृष्टि दीजिये—

आपके स्वास्थ्यमें आभ्यन्तर तो क्षति है नहीं, जो है सो वाह्य है। उसे आप प्रायः वेदन नहीं करते यही सराहनीय है। धन्य है आपको—जो इस रुग्णावस्थामें भी सावधान हैं। होना ही श्रेयस्कर है। शरीरकी अवस्था अपस्मार वेगवत् वर्धमान हीयमान होनेसे अध्रुव और शीतदाह ज्वरावेश द्वारा अनित्य है। ज्ञानी जनको ऐसा जानना ही मोक्षमार्गका साधक है। कव ऐसा समय आवेगा जो इसमें वेदनाका अवसर हो न आवे। आशा है एक दिन आवेगा। जव आप निश्चल वृत्तिके पात्र होवेंगे। अव अन्य कार्योंसे गौण भाव धारणकर सल्लेखनाके ऊपर ही दृष्टि दीजिये।

अव यह जो शरीर पर है शायद इससे अल्प ही कालमें आपकी पवित्र भावनापूर्ण आत्माका सम्वन्ध छूटकर वैक्रियक शरीरसे संवंध हो जावे। मुझे यह दृढ़ श्रद्धान है कि आपकी असावधानी शरीरमें होगी न कि आत्मचिंतवनमें। असातोदयमें यद्यपि मोहके सद्भावसे विकलताकी सम्भावना है तथापि आंशिक भी प्रवल मोहके अभावमें वह आत्मचिंतनका वाधक नहीं हो सकती। मेरी तो दृढ़ श्रद्धा है कि आप अवश्य इसी पथ पर होंगे। और अन्ततक दृढ़तम परिणामों द्वारा इन क्षुद्र वाधाओंकी ओर ध्यान भी न देंगे। यही अवसर संसार लतिकाके घातका है।

देखिये जिस असातादि कर्मोंकी उदीरणाके अर्थ महर्षि लोग उग्रोग्रतप धारण करते-करते शरीरको इतना कृश वना देते हैं, जो

पूर्व लावण्यका अनुमान भी नहीं होता। परन्तु आत्म दिव्य शक्तिसे भूषित ही रहते हैं। आपका धन्य भाग्य है जो विना ही निर्ग्रंथपद धारण किये कर्मोंका ऐसा लाघव हो रहा है जो स्वयमेव उदयमें आकर पृथक् हो रहे हैं।

आपके ऊपरसे भार पृथक् हो रहा है फिर आपके सुखकी अनुभूति तो आप ही जानें। शान्तिका मूल कारण न साता है और न असाता, किन्तु साम्यभाव है। जो कि इस समय आपके हो रहे हैं। अब केवल स्वात्मानुभव ही रसायन परमौषधि है। कोई कोई तो क्रम क्रमसे अन्नादिका त्याग कर समाधिमरणका यत्न करते हैं। आपके पुण्योदयसे स्वयमेव वह छूट गया। वही न छूटा साथ साथ असातोदय द्वारा दुःखजनक सामग्रीका भी अभाव हो रहा है।

अतः हे भाई ! आप रंचमात्र क्लेश न करना, वस्तु पूर्व अर्जित है। यदि वह रस देकर स्वयमेव आत्माको लघु बना देती है तो इससे विशेष और आनन्दका क्या अवसर होगा ?

(पूज्य बावा भागीरथजी वर्णी, दीपचन्द्रजी वर्णी और ब्र० मौजीलालजी सागरको लिखे गये पत्रों से।)

वर्णी प्रवचन

एक

ज्ञानार्णव—

ज्ञानार्णवके रचयिता शुभचन्द्राचार्यने प्रारम्भमें परमात्माको नमस्कार किया है। कहते हैं कि ज्ञानकी जो लक्ष्मी है उसके साथ आत्माका तादात्म्य सम्बन्ध है और आत्मा निश्शक ज्ञानमें प्रवृत्ति करता है। अनन्त सुखके धारी परमात्माको नमस्कार है।

यह जब विषय सेवन आदिमें आनन्दकी प्रतिच्छाया देखता है इसलिए उन्हें प्राप्त करनेका प्रयास करता है। ज्ञानकी प्राप्ति अज्ञानसे उत्पन्न दुःखकी निर्वृतिके लिए है। महाव्रतका आचरण भी आनन्दके लिये है। यदि आनन्द प्राप्त करना चाहते हो तो दुःखको दूर करनेका उपाय उसके मुख्य कारण राग और द्वेषको दूर करना है और इनका मूल कारण मोह है। उसे मिटानेसे आपही आप सुख प्राप्त हो जाता है।

मोहरूपी अग्निको नाश करनेकी यदि इच्छा है तो साम्यभावका अवलम्बन करो। यदि संयम धारण करना चाहते हो तो मोहका त्याग कर दो, आप ही आप संयम हो जायेगा। यदि संसारके दुखोंसे छूटने या मुक्ति पानेकी प्रबल इच्छा है तो पाँच इन्द्रियोंके विषयोंको जो विषके समान हैं उन्हें छोड़ो। राग रूपी वृक्षोंका जो बगीचा है उसे यदि छेदना चाहते हो तो साम्यभावका अवलम्बन करो। साम्यभावमें न राग होता है न द्वेष। सब पदार्थोंको समान मानो। धनी गरीब आदमीकी अपेक्षा मत करो, जैसे भिक्षाको निकले हुए मुनि गरीब व धनीके घरकी अपेक्षा नहीं करते इसी प्रकार

साम्यभाववाला प्राणी न राग करता है और न द्वेष ही। रागद्वेषका अभाव ही साम्यभाव है।

भाव दो प्रकारके होते हैं (१) चैतन्य (जीव) (२) अचैतन्य (जड़)। वैसे तो पदार्थ एक ही रूप हैं पर हमने उसके दो टुकड़े कर दिये हैं। जो हमारे विचारोंके रुचिके अनुकूल पदार्थ हुए उन्हें हम इष्ट पदार्थ कहने लगते हैं और इसके प्रतिकूल पदार्थोंको अनिष्टके नामसे पुकारते हैं। वैसे तो पदार्थ न तो इष्ट है और अनिष्ट।

एक कथानक है कि एक गाँवमें दो भाई रहते थे। उनमें बड़ा घनिष्ठ प्रेम था। वे एक दूसरेको अत्यन्त प्रेम करते थे। उनके एक एक लड़का था। एक दिन एक भाई बाजारसे दो संतरे लाया। एक बड़ा था और एक कुछ छोटा। जब वह घर आ रहा था तो रास्तेमें दोनों लड़के मिले। दाहिनी तरफ उसका लड़का और बायीं तरफ भाईका लड़का था परन्तु अपने लड़केकी तरफ वाले हाथमें छोटा संतरा था इसलिये उसने पलट करके बड़ा संतरा अपने लड़केको और छोटा संतरा भाईके लड़केको दिया। यह दृश्य उसका भाई देख रहा था। उसने आकर कहा—कि अब हमारा तुम्हारा नहीं चल सकता, तुम अलग रहने लगो।

इसके कहनेका यह मतलब है कि यदि उसके साम्यभाव होता तो यह नौबत न आती।

मुक्तिका स्वयंवर हो रहा है। यदि तुम उसे वरण करना चाहते हो तो भवका दुख देनेवाले जो रागद्वेष हैं उन्हें साम्यभावसे छोड़कर स्वयंवरमें चले आवो।

अगर परमात्माके स्वरूपको देखना चाहते हो तो समवशरण, तीर्थक्षेत्र, मंदिर, चैत्यालय आदि कहीं भी जानेकी जरूरत नहीं परन्तु उसके स्वरूपको अपने ही आत्मामें देख सकते हो। साम्यरूपी

सूर्यकी किरणोंसे रागद्वेष रूपी अन्धकारको दूर कर दो तो घर बैठे ही अपनेमें ही परमात्माको देख सकते हो।

क्षमा देखना चाहते हो तो घंटों पूजन, व्याख्यान, शास्त्र, व्रत आदिमें जो समय लगाते हो वह समय क्रोधको जीतनेमें लगावो। यदि क्रोधको दूर नहीं कर सकते तो क्षमा नहीं मिल सकती। मैदा देखनेके लिये गेहूँके ऊपरका ही छिलका निकालकर देखना पड़ेगा वह न तो जलमें है और न चक्कीमें। किसीकी संपत्ति उसीके पास रहती है दूसरेके पास नहीं होती। न तो दिगम्बर भाई मन्दिरमें भगवान् देख सकते हैं और न तारण भाई शास्त्रोंमें। परमात्मा तो आत्मामें ही है। जरा इस ओर दृष्टि करनेकी जरूरत है।

मिली हुई चीजको दूर करनेका रास्ता जरूर होता है, आत्मा व कर्म मिले हुए हैं। इनको पृथक् पृथक् करनेका उपाय है। जहाँ तक साम्यभाव रहे वहाँ तक तो आत्माकी सीमा है, उसके आगे जहाँ साम्यभाव नहीं रहा और रागद्वेष आदि हुए वहीं समझो कि तुम्हारी आत्मा नहीं। जो चतुर ग्वालन होती हैं वे दहीको मथकर घी निकाल लेती हैं। जब छाछ शेष रहती है और जिसमें फिर मक्खन निकलनेकी शक्ति नहीं रहती तब उसे छोड़ देती हैं। हर एक पदार्थमें बड़ी शक्ति विद्यमान है। चतुर रसोइया पकनेको रखी हुई वस्तुके रूप, रंग, स्वाद व स्पर्शको देखकर ही उसके पूर्ण पकनेकी स्थितिको स्पष्ट बता सकते हैं। ज्ञानमें अचिन्त्य शक्ति मौजूद है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि हृदयकी निर्मलता और साम्य-भावमें भी बहुत शक्ति है। इसी साम्यभावसे जीव कर्मको अलग कर सकता है।

अन्य पदार्थ दूसरेका न तो कुछ बिगाड़ कर सकता है और न ...न सकता है। दीपक प्रकाशमान होकर घटकी स्थितिको बता ...ा है। घट दीपकके कार्यमें बाधक नहीं हो सकता है। जैसे

चुम्बकसे दूरकी वस्तु खिंची हुई चली आती है उसी प्रकार दीपक किसीके पास नहीं जाता पर प्रकाशसे वस्तुस्थितिका ज्ञान करा देता है। घटकी उपस्थिति व अनुपस्थितिमें दीपकका कार्य होता है। दीपक घटमें कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकता; क्योंकि वस्तुका स्वभाव परसे उत्पन्न नहीं होता और न परको उत्पन्न ही करता है। इसी प्रकार आत्मामें ज्ञान स्वभाव है वह हमें दुःख-सुखका ज्ञान करा देता है। ज्ञानसे हम जान जाते हैं कि यह दुःख है और यह लाभ है। सुधार और बिगाड़ तो पदार्थमें कुछ हुआ नहीं। हम हैं जो ज्ञानसे जाने हुए सुख और दुःखकी ओर दृष्टिपात करते हैं पर जिससे 'हम' यह बोध हुआ वह जो ज्ञान है उसकी तरफ हम दृष्टिपात नहीं करते। साम्यभावकी उत्पत्ति सब दुःखोंको नष्ट कर देती है। सुख देखना चाहते हो तो दुःख के मूल कारणको अभी मिटा दो, अभी इसी समय तुम्हें सुखका अनुभव होगा। शुभोपयोग और अशुभोपयोगसे जो कर्मका बंध होता है वह तो पराधीन है जब उदयमें आवेगा तब फल देगा। दे या न दे, कभी-कभी कर्मों की उदीरणा हो जाती है और वे फल नहीं दे पाते। पुण्यका लाभ स्वतंत्र नहीं। पर साम्यभावका फल तो अभी इसी समय मिल जाता है। किसान बीज बोता है तो समय पर उसे फल मिलता है। यदि उपयुक्त साधन पूर्ण न हो पाये तो कहो फल भी न मिले। पर साम्यभावमें यह बात नहीं होती उसका फल नहीं मिट सकता।

साम्यरूपी वायुसे जिसने अपना आत्मा पवित्र कर लिया है तथा जिसने मोह मिटा दिया है तथा जिसके राग व द्वेष जीर्ण हो गये हैं ऐसे प्राणीकी संसार वन्दना करता है। संसार उसको पूज्य मानता है। विश्व उसका पूजन करता है।

राग द्वेषरूपी वृक्षोंसे परिपूर्ण जो जंगल हैं उसकी रक्षा मोह करता है। महावीर मुनिने चरित्र साम्यरूपी अग्निसे इस जंगलको जला दिया है।

जिसके साम्यभाव हो जाते हैं उसकी आशाएँ नष्ट हो जाती हैं। अविद्या और चित्तरूपी सूर्य मर जाता है।

भैया ! तारणस्वामीका मार्ग भी बहुत ही सर्वोत्कृष्ट है लेकिन हम उस मार्ग पर चले नहीं, नहीं तो हमारा कल्याण हो जाता। सागरमें दो विद्वान् रहें जो शास्त्र सुनावें और हमें धर्म मार्ग वतलावें। हमें जिस समय यहाँसे प्रस्थान करना पड़ेगा उस समय न तो हम मंदिर ले जा सकेंगे और न चैत्यालय। हमें यहाँ ही घर छोड़ना पड़ेगा। यदि हम पहले ही से नंगे हो जावें तो हमारा कल्याण हो जावे। हमें इस मार्गको प्रदर्शित करनेवाले शास्त्रकी शरण लेनी पड़ेगी। यहाँ एक पंडित रहे चाहे कोई सुने या न सुने, वह शास्त्रवाचना करता रहे। अब तो सारा रुपया ज्ञानमें लगानेकी आवश्यकता है। मंदिरोंमें लगानेकी जरूरत नहीं। जब वृद्धावस्था हो जाती है तो हमें ऐसी वस्तु खाना चाहिये जो सरलतासे पच सके। अरे, भगवान्का नाम लो इसे न तो खाना पड़ेगा और न पीना ही पड़ेगा। डरो मत इससे कुपच भी नहीं होगा। तुम्हारा कल्याण इसीमें ही है।

हम स्त्रियोंसे ही तो पैदा हुए और उन्हींसे कहते हैं कि वे कमजोर हैं। वे कुछ करती नहीं। यदि जेवर कपड़ेके खर्चेमें से एक पैसा रुपया और टैक्सके रुपयोंमेंसे एक पैसा रुपया ज्ञान दानमें खर्च करें तो हाईस्कूल कालेज वन सकता है और विद्यालय महाविद्यालय हो सकता है कौनसी कठिन बात है बताइये आप ? यहाँके लड़कोंको न तो बनारस जाना पड़े और न कहीं अन्यत्र भटकना पड़े। दृष्टिपात इस तरफ हो जावे तो हाईस्कूल बन जावे—इसमें क्या देर लगती है। जबतक हम यहाँ हैं यहाँकी बात करेंगे। जिस समय यहाँसे चले जावेंगे तब यहाँकी बात करना छोड़ देवेंगे। यहाँसे दूर जानेपर बुन्देलखण्डकी हम इज्जत रखते हैं। यहाँके लिये दूसरे

से कभी भी पैसा नहीं माँगते। यह रीति है कि पहले अपने आपका स्वार्थ पूर्ण करो।

भइया! यहाँ एक कथानक याद आ गया है। अकबर थे न? उन्होंने अपने दरबारमें एक एक करके सबसे पूछा कि यदि हमारी दाढ़ी और तुम्हारी दाढ़ीमें एक साथ ही आग लग जावे तो पहले किसकी दाढ़ी बुझाओगे। उत्तरमें सबने यही कहा कि हम तो पहले आपकी दाढ़ीकी आग बुझावेंगे। परन्तु बीरबलने कहा कि पहले तो हम अपनी दाढ़ीकी आगी बुझावेंगे। कहनेका तात्पर्य यह है कि जो अपना हित नहीं कर सकता वह दूसरेका हित क्या करेगा। इसलिए सागरवालोंको अपने कार्य अपने आप कर लेने चाहिये।

समयसार—

मोह, राग, द्वेष इस प्रकार भाव तीन प्रकारके होते हैं। आत्मा तो शुद्ध है, एक प्रकारका है। देवदत्तका सिर्फ एक ही लड़का था तो वही लड़का बड़ा हुआ और वही छोटा हुआ। चैतन्य मात्र आत्मा एक प्रकारका है। इसमें कर्म रूपी अंजन लगा हुआ है। आत्मा बड़ा सरल एवं सीधा है। इसमें जैसी जंग लगी वैसे ही परिणाम हो जाते हैं। यह आत्मा कभी रागी कभी द्वेषी और कभी मोही हो जाता है तथा अज्ञानी हो करके संसारके चक्करमें फँसा हुआ है।

भइया! जब हम पढ़ते थे तो ठाकुरदासजीको हम बहुत श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे। उनके सामने अधिक बातचीत नहीं किया करते थे। एक दिन हमारे साथी हजारीने हमसे कहा कि भाँग पियो। हमने पूछा कि भाँगमें क्या रखा है। कहने लगा कि भाँग पीनेसे साक्षात् महादेवके दर्शन होते हैं। तो मैंने पूछा कि क्या हमारे भगवान् आदिनाथ भी हमें दिख सकते हैं? उसने कहा—

हाँ। तो हमने थोड़ी सी भाँग पी ली। सोचा पहिली वार थोड़ीसी पीकर भगवान् आदिनाथके थोड़ेसे ही दर्शन करनेको मिल जावेंगे। भइया! उसका नशा चढ़ आया और पंडितजीके पास पढ़नेको गये। तो पुस्तकके अक्षर वहुत वड़े-वड़े दिखाई देने लगे। तो मैंने पंडितजीसे कहा कि आज पढ़नेको जी नहीं चाहता! मेरी इच्छा है कि मैं आज सोऊँ। पंडितजीने कुछ कहा नहीं तो मैंने कहा कि सुनते नहीं जी! मैंने कहा कि आज सोनेको जी चाहता है। पंडितजी समझ गये कि किसीने इसे भाँग पिला दी है। उन्होंने मुझे लिटा दिया और अपनी धर्मपत्नीसे कहा कि इसे दही और खटाई खिला दो ताकि इसका नशा उतर जावे। मैंने कहा कि रात को मैं नहीं खाता, मेरा नियम है। तो पंडितजीने कहा कि जव भाँग खाई थी तव नियम कहाँ चला गया था? मैंने उत्तर दिया कि एक नियम टूट गया दूसरा क्यों तोड़ूँ? तो भइया! संस्कार भी वड़े प्रवल होते हैं। हमें अपने जैनधर्मके संस्कार नहीं मिटाना चाहिये। यदि संस्कार रहे आवें तो हमारा कल्याण हो जावे।

आत्मा तो मिथ्यादर्शन आदि भावोंसे दूसरे मार्ग पर आ जाता है। आत्मामें जैसा दाग लग जावेगा वैसा ही वह हो जावेगा। देखिये मन्त्रको साधनेवाला व्यक्ति दूरसे मन्त्रके द्वारा ही अपनी शक्तिको प्रदर्शित कर देता है। विच्छू, वर्रे आदिके जहर शान्त हो जाते हैं। पानी पीनेसे तृषा शान्त हो जाती है। व्याख्यानदाता हजारों आदमियोंको अपनी वाणी द्वारा मोहित कर लेता है। पदार्थोंमें अचिंतन शक्ति है। मिथ्यादर्शन आत्माकी शक्तिको विकृतिमें परिणत कर देता है। पुद्गल द्रव्यकी शक्ति आत्माकी शक्तिको चौपट कर रही है। पदार्थकी शक्ति विलक्षण है। साम्यभावमें वह शक्ति है कि वह संसारको काट देवे। हमें संसार सागरसे पार लगा देवे। ...में शक्ति अधिक है। चारित्रमोहसे मुनि भी अन्यकी प्रशस्तियोंको ...मट क... अपनी प्रशस्ति लिखने लगता है।

हम पढ़ते हैं कि जिस समय लव कुशके समक्ष नारद मुनि आये और उन्होंने लव और कुशको राम लक्ष्मण सरीखे होनेका आशीर्वाद दिया तथा उनकी सारी कथा सुनायी तब दोनोंने ही उनसे अपनी माताका बदला लेनेके लिये युद्धकी ठान ली। तो मोह ही सब कराता है। माताके मोहने लव-कुशको युद्धके लिये बाध्य कर दिया। मोहकी शल्यने यह उपद्रव करा दिया। मोहकी महिमा विचित्र है।

भइया ! जिस समय राम व रावणका युद्ध हुआ तो रावणका चक्र लक्ष्मणके हाथमें आ गया तो रामने कहा—मुझे तुम्हारा चक्र नहीं चाहिये तुम तो मेरी सीता लौटा दो पर अभिमानी रावणने कुछ ध्यान नहीं दिया।

और जिस समय सीताको रावण उठा ले गया तो रामने मोहमें पागल हो करके वृक्षोंसे सीताका पता पूँछा। बताइये तो इतने बड़े महापुरुष और मोहने उनकी कैसी विचित्र दशा की ?

और फिर जब रामचन्द्रजीने मुनि अवस्थाको धारण किया तो सीताके जीवने नाना प्रकारके रूप धारण करके कई प्रकारके उपद्रव किये। परन्तु जब राम मोहविजयी हो गये थे तो उन्हें कौन डिगा सकता था।

तो संसारमें जितने दुख हैं वे सब मोहसे ही होते हैं इसलिये इसे ही जीतनेका प्रयत्न हमें करना चाहिये।

(सागर २०।३।५२)

दो

ज्ञानार्णव—

साम्यभाववाले योगीने एक क्षणमें जितने कर्मोंको काट लिया है उतने कर्मोंको मिथ्यादृष्टि जीव कोटि वर्षोंमें नहीं काट सकता है।

आत्माको छोड़कर शेष परपदार्थोंकी पर्यायोंसे विलक्षण आत्माका निश्चय करना ही साम्यभाव है। अपनेसे पर तो पर हैं ही पर अपनेमें जो पर्याय उत्पन्न हो उस पर जरा विचार करो। जो यह शरीरकी सुन्दरता है वह भी पर है। अच्छा इसको भी छोड़ो ज्ञानावरणीय आदि जो कर्म हैं उनको तो हम देख नहीं सकते पर कर्मोंके उदयसे होनेवाले फलको जानकर उसको सत्ताका निश्चय करते हैं सो वह भी परपदार्थ है।

कर्म दो प्रकारके होते हैं पहला घातिया कर्म, दूसरा अघातिया कर्म। ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी स्वाधीन नहीं है। देखिये हम आँखसे ही तो देखते हैं, कानसे ही तो सुनते हैं पर जब आंख चली जाती है या कान चले जाते हैं तो हमारा देखना और सुनना बन्द हो जाता है। तो बताइये यदि वे हमारे ही होते तो क्यों चले जाते? इससे मालूम पड़ता है कि परपदार्थोंका सम्बन्ध हमसे जरूर है पर वह आत्मासे सर्वथा भिन्न है। कर्मोदयसे हुआ जो ज्ञान वह अपना नहीं है। देखिये तो मोहनीय कर्मकी कैसी विलक्षणता है। ज्ञानावरणीय कर्म तो आत्माके ज्ञानको ढंक ही लेता है सो कोई नुकसानकी बात नहीं जब दूर होगा सो हो जावेगा पर यह मोहनीय कर्म तो विपरीत श्रद्धा करा देता है। आठों कर्मोंमें सबसे अधिक लुच्चा-कर्म मोहनीय कर्म ही है। इसके उदयसे होनेवाली पर्यायें अपनी नहीं हैं। क्षायिक पर्याय व पारिणामिक भाव ही अपने हैं। बाकी सब परपदार्थ हैं। जब जीव साम्यभावी हो जाता है तो उसके सम्बन्धको पाकर दुष्टसे दुष्ट जीव भी शान्त

हो जाते हैं। जिस प्रकार जंगल जल रहा है और पानीकी वृष्टि हो जावे तो जंगलकी भयंकर अग्नि भी शान्त हो जाती है। क्रूर परिणामी जीव भी साम्यभावी जीवके संसर्गसे अति प्रसन्न हो जाता है। जैसे वर्षान्तमें वर्षा होनेके सबबसे सारे जगहसे कीचड़ मच जाती है। वह जल कीचड़ कर देता हैं परन्तु जब अगस्त्य नक्षत्रका उदय हो जाता है तो पानी सूख जाता है तथा कीचड़ मिट जाती है। भइया! वर्त्तमानमें तो ऐसे परिणामवाले जीव हैं नहीं। नहीं तो उनकी शक्ति हम प्रत्यक्ष देख लेते। भइया! एक समयकी बात है कि एक क्षुल्लक बहुत ही विद्वान् थे। एवं वड़े ही स्वाभिमानी थे। एक दिन वह मन्दिरमें प्रतिष्ठित थे, इतनेमें सगुनचन्दजी नामके व्यक्ति वहाँ आये। उनको देखकर क्षुल्लकजी खड़े हो गये। और कहने लगे कि सगुनचन्दजी तू बड़ा निर्मल एवं प्रतापी है। न व्यवहारसे और न शास्त्राज्ञासे उन्हें उठना चाहिये पर निर्मल आत्माकी शक्ति अपरम्पार है। उसे कौन रोक सकता है!

एक समयकी बात है कि मन्दिरमें स्त्रियाँ ऐसे जेवरोंको धारण करके आती थीं कि जिनसे छम छम छम जैसी आवाज होती थी और सबका ध्यान उस ओर बँट जाता था। सब मनुष्योंने बैठकर निर्णय किया कि जिसको स्त्री मन्दिरमें ऐसे जेवरको धारण करके आवे जिससे छम छम आवाज हो उसके २५) जुर्माना किये जावें। सगुनचन्दजीने ही यह प्रस्ताव रक्खा था। दैवयोगसे जब यह निर्णय हुआ था उस समय सगुनचन्दजीकी स्त्री मन्दिरजीसे चली आई थीं। दूसरे दिन वह ही छम छम करती हुई मन्दिरमें आईं। सगुनचन्दजीने तुरन्त ही २५) मंगाकर जुर्मानाके दिये। लोगोंने बहुत समझाया कि अज्ञातमें ऐसा अपराध हुआ है पर उन्होंने एक भी न सुनी। कहनेका तात्पर्य यह है कि नियम पालनेवाला ही नियम चला सकता है।

शास्त्रोंको रचनेवाले तो बड़े-बड़े योगी पुरुष हुए हैं। उनके वचनोंको शिरोधार्य करके हम सब साम्यभावी हो सकते हैं। कोई कठिन वात नहीं है। योगीके संसर्गसे क्या नहीं हो सकता। योगीसे तो इन्द्र भी संतुष्ट हो जाते हैं। शेर और गाय अपने वैरको भूल जाते हैं। मनुष्योंकी वात तो जाने दीजिये पशु भी प्रभावित हो जाते हैं। जहाँ योगी पहुँच जाते हैं वहाँ वैर, भय, क्रोध सव ही नष्ट हो जाते हैं। चन्द्रमाकी शीतल किरणें आतपको दूर कर देती हैं। सूर्य अन्धकारको नष्ट कर देता है।

जिस मुनिका मोह क्षीण हो गया है उसके प्रसादसे हिरणी सिंहनीके वच्चेको दूध पिलाने लगती है। गाय व्याघ्रके वच्चेके साथ खेलने लगती है। विल्ली हंसके वच्चोंके साथ क्रीडा करने लगती है। मयूर सर्पके वच्चोंको खिलाने लगती है। आजन्मसे जो वैरी होते हैं वे भी अपना वैर भूल जाते हैं।

जयपुरके राजाके यहाँ दीवान अमरचन्दजी थे। एक समय राजा इन्हें शिकार खेलनेके लिये जंगल लिवा ले गये। जंगलमें हिरनोंका समूह जो राजाने देखा तो उन्होंने वन्दूकका निशाना उनकी ओर किया। तो अमरचन्द्रजीने उनकी वन्दूक पकड़ ली। और कहा कि तुम तो इस राज्यके रक्षक हो इनको कैसे मार सकते हो? तो उत्तरमें राजाने कहा—हमारा काम तो वन्दूक चलाना है। तो फिर अमरचन्दजीने पुकार कर हिरनोंसे कहा—कि अय हिरनो, खड़े रहो! तुम्हारा राजा ही तुम्हें मारने पर तुला हुआ है। जव रक्षक भक्षक हो गया तो तुम कैसे भाग सकते हो? तुम सव खड़े हो जावो मार लेने दो देखें, कितनोंको मारते हैं। भइया, ऐसा असर हुआ उसका कि सारे हिरन खड़े हो गये। फिर राजाका साहस नहीं हुआ कि किसीको मार सके। सो निर्मल परिणामी जीव यदि हिरनोंको रोक सके तो इसमें आश्चर्यकी क्या वात है!

एक समय इन्हीं अमरचन्दजीको अजायव घरका प्रबंधक बना दिया गया। और जब इनके पास सिंहको मांस खिलानेकी स्वीकृति मांगी गई तो इन्होंने १०–५ सेर बरफी खिलानेकी स्वीकृति दी। परन्तु ८ दिन तक तो सिंहने खाया नहीं। इस पर इसकी रिपोर्ट की गई, तो अमरचन्द्रजी स्वयं ही सिंहके पिंजड़ेमें बरफी खिलानेको गये। उन्होंने सिंहसे कहा कि—बरफी खा लो, यदि मांस खाना है तो मुझे खा डालो। इस पर न मालूम क्या हुआ भइया! शेरने बरफी खा ली। सब आदमी वड़े ही आश्चर्यमें आये। सो इससे मालूम पड़ता है कि जिनके परिणाम निर्मल हो जाते हैं उनकी शक्ति अपरम्पार हो जाती है।

एक मनुष्य मुनिकी पुष्पोंसे पूजा करता है और एक मनुष्य उनके कण्ठमें सर्प डालता है तो भी मुनिकी दृष्टिमें दोनों एक ही हैं, न वे किसीसे राग करते हैं और न किसीसे द्वेष, ऐसा साधु साम्यके वगीचामें प्रवेश कर सकता है। तुम चाहो तो स्वयं करके देख सकते हो-- कौन वड़ी बात है।

भइया! वाईजीके यहाँ एक चूहा रोज ही कुछ न कुछ खराब कर देता था। कभी दूध खराब कर दे कभी दही खराब कर दे। तो बाईजीने एक दिन चूहेसे कहा—कि तुम रोज कोई न कोई वस्तु खराब कर देते हो, जिससे कभी मुझे और कभी मेरे लड़केको उस वस्तुसे वंचित रहना पड़ता है। इतने बड़े सागरमें क्या तुम्हें हमारा ही घर मिला जो हमें ही नुकसान पहुँचाते हो? इस पर वह दूसरे दिनसे नहीं आया। क्या हो गया सो कर्मकांडके विद्वान् जानें, हम तो कुछ बता नहीं सकते।

तो करे क्या, परिणामोंकी शक्ति तो अपरम्पार है। थोड़ा-सा चित्त ही इस तरफ देना है। साम्यभावी क्या मोक्ष नहीं जा सकता? क्या भगवान्ने ही मोक्ष जानेका ठेका ले लिया है? यह तो मोक्ष-

मार्ग है। भगवान् तो मोक्ष गये तथा हम सबको भी वहाँ जानेका रास्ता बता गये। साम्यभाववाला जो जीव होता है वह न तो किसीसे राग करता है और न किसीसे द्वेष करता है। वन हो या नगर हो शत्रु हो या मित्र हो। वह इन सबको जान करके भी किसीसे राग द्वेष नहीं करता। ज्ञानसे पदार्थोंको जान लेना थोड़ा ही अपराध है। ज्ञान तो अपना काम करेगा ही। ज्ञान तो वस्तु स्थितिको प्रदर्शित कर देता है। यह हमारी गलती है कि हम उसमें मोहके द्वारा राग द्वेष करने लगते हैं—यही हमारा अपराध है।

व्यवहारसे विचार करो तो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय पृथक् पृथक् हैं और निश्चयसे सब एक ही हैं। मोहकी कल्पना मिट जावे तो संसार मिट जावे।

अभिप्राय एक न होनेसे ही झगड़े होते हैं। यदि एक ही अभिप्राय हो पावे तो काम बनते कुछ देर न लगे। देखो, यदि तुम लोग चाहो तो आश्रम और विद्यालय एक हो जावे। अभी दृष्टि उस तरफ गई नहीं है। जहाँ २०० विद्यार्थी पढ़ते हैं वहाँ ५०० पढ़ने लगें पर उस तरफ अभी हमने ध्यान नहीं दिया, नहीं तो काम बननेमें देर न लगेगी।

मुनि तो तुम्हारी दो रोटी खा करके तुम्हारे लिये शास्त्र लिख गये। साम्यभावी मुनिको न तो श्मशानमें विरोध होता है और न महलमें राग। अगर पर्वत चलायमान हो तो हो पर मुनिका मन चलायमान नहीं होता।

हम सब पढ़ते हैं। सुकुमालका चरित्र तुमने पढ़ा ही है। जिस समय सुकुमालके साथ वहाँके राजाने भोजन किये तो सुकुमालने कभी वैसे चावल खाये नहीं थे। वह तो कमलके पत्रोंमें रातभर रखे हुए चावलोंको बनवाकर खानेका अभ्यासी था। चूँकि चावल कम थे इसलिये सेठानीजीने कुछ दूसरे चावल पकानेको डाल दिये। राजाने तो सब चावल खा लिये परन्तु सुकुमालने चुन-चुनकर कमल

पत्रवाले ही चावल खाये। उन्होंने सूर्यका प्रकाश देखा नहीं था इसलिये राजाके सामने दीपकके प्रकाशमें उनकी आँखोंमें आँसू आ गये। इसपर राजाने कहा कि तुम्हारा लड़का वैसे तो ठीक है पर खानेमें कमजोर है। तथा आँखें भी कमजोर हैं। पर सेठानीजीने कहा कि यह सब इसकी कोमलता है। कहाँ इतना सुकुमाल आदमी और कहाँ रातको अपने मामा मुनिके पाठको सुनकर उन्हें वैराग्य हो गया। सात खण्ड ऊपरसे रातको ही रस्सीसे नीचे उतर आये। वह इतने कोमल थे कि उनके हाथों और पाँवोंसे खूनकी धाराएँ निकलने लगीं। पर रातको ही जंगलमें चले गये और तपस्या करके तथा शुक्लध्यान मांड कर सर्वार्थसिद्धिमें गये। तपस्यामें उनके पूर्व जन्मकी वैरी श्यालिनी और उसके बच्चोंने उनके मांसको खाया परन्तु सुकुमाल अपने ध्यानमें अडिग रहे और साम्यभावी बने रहे। फल हुआ कि सर्वार्थसिद्धि गये और एक भवमें मोक्ष भी चले जावेंगे।

जो योगी होता है वह जगत्को उन्मत्तके रूपमें देखता है। पागल तो उसे कहते हैं जो अन्यथा बोले। हम सब पराई चीजोंको अपनी मान रहे हैं। अब बताइये हम पागल हुए या नहीं।

यदि इन्द्रका गुरु वाचस्पति भी आ जावे और साम्यभावके गुणोंका वर्णन करे तो हजारों सागरोंकी आयु बीत जाये तो भी उसके गुण समाप्त नहीं हों। दुष्प्रज्ञाके बलसे वस्तु तत्त्वका विलोप कर दिया है। यह प्रज्ञा हर एक घरमें वर्त्तमान है। मोक्षमार्गमें लगनेवाले जीव बहुत कम हैं।

राग द्वेषको जीतकर व समताभाव धारण कर जो सुख दुखमें सम आचरण करे वही सच्चा योगी है।

राग द्वेषको मिटानेकी कोशिश करो। एक तरफ चित्त लग जावे यदि सब तरफसे चित्त हट जावे तो।

समयसार

जीवकी पर्याय जीवमें हुआ करती है और पुद्गलकी पर्याय पुद्गलमें हुआ करती है। जीवका आश्रय पाकर पुद्गल द्रव्यमें व्याप्य-व्यापकभावसे परिणमन होता रहता है। पुद्गल और जीव दोनों ही परिणमनशील हैं। यदि हम एकको भी परिणमनशील न मानें तो संसारका अभाव हो जावे।

जीव पुद्गलको कर्मरूपसे परिणमा देता है। यदि पुद्गलमें कर्मरूप होनेकी ताकत नहीं होती तो उसे कौन कर्मरूप परिणमा सकता था। निमित्त पाकर जीव और पुद्गल दोनोंमें परिणमन होता रहता है। यह परिणमन जुदा-जुदा रहता है। जीवमें रागादिक होनेका कारण पुद्गल विपाक है। शंका है कि रागादिक दोनोंके होता है, एक जीवका होता है और पुद्गलका अलग होता है। परन्तु इसका समाधान यह है कि जैसे दर्जीने अछार वनाया तो अछारकी क्रिया अछारमें ही हुई, दर्जीके हाथकी क्रिया हाथमें हुई। वह अछारमें नहीं गई। इस प्रकार रागादिक दोनोंमें नहीं होते वरन् सिर्फ जीवमें ही राग-द्वेष हुआ करते हैं। परन्तु ये औपाधिक हैं यह वात जव जीव जान लेता है, छोड़ देता है। रागादिकका निमित्त पाकर पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं। व्यवहारसे देखो तो जीव और कर्ममें वन्ध पर्याय हो रही है, विभिन्नता नहीं हो सकती। परन्तु यदि निश्चयनयकी दृष्टिसे देखो तो जीव और पुद्गल पृथक्-पृथक् हैं।

द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे विचार करो तो जीव अवद्ध है। और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा देखो तो जीव वद्ध है। जो ऐसा जान लेता है वही मोक्षगामी होता है। भगवान्ने दो नय कहे हैं। व्यवहार नयकी अपेक्षा आत्मा रागी-द्वेषी है, मोही है और निश्चय-नयकी दृष्टिसे देखो तो आत्मा अखंड है, अचल है, अभेद्य है,

स्वसंवेद्य है। विश्वको जाननेवाला केवलज्ञानी है। वह तीनों लोकोंके पदार्थोंको ज्ञानमें देख रहा है पर हम मतिज्ञान श्रुतज्ञानसे थोड़ा बहुत इन्द्रियजन्य ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, पर उसमें मोह न लाना ही बुद्धिमानी है। ज्ञान तो सतत होता ही रहेगा वह हटनेवाली वस्तु नहीं है। समयसारमें अखिल नयोंका पक्ष मिट जाता है। नय कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

विकल्प शान्त होनेका नाम ही समयसार है। इसकी प्राप्ति प्रथम तो श्रुतज्ञानसे व शास्त्रसे आत्माका ज्ञान करनेसे होती है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इन्द्रिय या अनिन्द्रियसे मतिज्ञानके द्वारा पदार्थोंका निश्चय करना पड़ता है। वह बुद्धि हम परपदार्थोंकी ओर लगाये हुए हैं। वहाँसे दृष्टि हटावें और आत्माकी ओर लगावें तो हमारा कल्याण हो जावे।

भइया! एक लड़का था। वह सातवीं कक्षामें पढ़ता था। उसकी परीक्षा लेनेके लिये इन्स्पेक्टर आया। वह लड़का बहुत चतुर था परन्तु उसने इन्स्पेक्टरके प्रश्नोंके उत्तरमें कहा कि मैंने पढ़ा ही नहीं है, मैं क्या उत्तर दूँ। अध्यापकको रोष आगया और उसे एक थप्पड़ मार दिया तथा इन्स्पेक्टर भी क्रोधित हुआ। अन्तमें लड़केने कहा कि हम तो कुछ पढ़े नहीं हैं छोटेमें इतना जरूर पढ़े थे कि क्रोध नहीं करना चाहिये, पर आप सब यह भी नहीं पढ़े।

यदि हमने शास्त्रोंका अध्ययन किया और क्रोध नहीं छोड़ा तो शास्त्र पढ़नेमें हमने निरर्थक समय बरबाद किया। अपनी आत्मासे जो बात करोगे वह सच होगी। झूठ बातके लिये आत्मा कभी गवाही दे ही नहीं सकता। दुनियामें जो बुद्धि लगा रहे हो वहाँसे हटाकर उसे अपनी ओर लगा दो। यदि हम श्रुतज्ञानको अपनी आत्माकी ओर लगावें तो कोई विकल्प पैदा हो ही नहीं सकता,

क्योंकि आत्मा तो एक है। जहाँ दो होते हैं वहाँ ही विकल्प हो सकता है। प्रथम तो सम्यग्दर्शन उत्पन्न करो फिर दूसरोंका कल्याण करो। यदि दूसरोंकी भलाई पहले करना चाहोगे तो न उनका ही कल्याण होगा और न तुम्हारा ही। केवलज्ञानी विश्वको बाहर मानता है और हम उसे अपने भीतर मानते हैं। केवलज्ञानीसे हममें यही अन्तर है। यदि हम यह अन्तर दूर कर दें और आत्मामें जो एक है, अखंड है विचरण करने लगें तो हमारा संसार शीघ्र कट जावे।

आत्माका ध्यान करो उसीमें सार है। केवलज्ञान तो पढ़नेसे आता है नहीं, वह तो मोहनीयके अभावसे आता है। हमने संसारके पदार्थोंको अपनेमें चिपका लिया है। उनको छोड़ो तो कल्याण हो जावे। भइया! हमारा काम तो कहनेका है, करो न करो तुम्हारी मर्जी—

(सागर २१।३।५२)



तीन

ज्ञानार्णव

यदि तत्त्वका निश्चय नहीं हुआ और मन्दिर तीर्थ वगैरह भी किया तो सब व्यर्थ है। अन्न छोड़ दिया सो क्या किया, अन्न तो परपदार्थ ही था। उसमें जो मोह है उसे छोड़ो, उसमें सार है; क्या बतावें? काम और अर्थकी लालसाके वशीभूत हो हमने सब चौंपट कर दिया।

मोहरूपी तिमिर हटनेसे ज्ञान सम्यग्ज्ञान हुआ तथा राग-द्वेष दूर होनेसे ही सम्यक्चारित्र होता है। उपचारसे महाव्रत और

देशव्रत करता है। इनका फल राग-द्वेषकी निर्वृति ही है। जैसे गुर्वेल तो कड़वी होती ही है पर यदि वह नीमके वृक्ष पर चढ़ जावे तो उसके कड़वेपनका क्या कहना! इसी प्रकार संसारमें कष्ट हो रहे हैं और आप सब अशुभ कर्मोंका बंध करके उनकी और भी वृद्धि कर रहे हैं। हम पाखंडको ओर अग्रसर हो रहे हैं। थोड़ेसे थोड़े सांसारिक कार्यके लिये हम कुदेव और कुगुरुको पूजने लगते हैं। अब बताइये हमारा कल्याण कैसे हो सकता है।

हमने ही कर्मोंका उपार्जन किया और उसका फल भी हमें ही भुगतना पड़ेगा। भगवान् तो कहते हैं कि यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो ईश्वरकी भक्ति करना भी छोड दो। कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि स्वर्ग लोक तो पंचेन्द्रियके विषयोंका घर है। चक्रवर्तीको इतनी सम्पत्ति और ऐश्वर्य मिला पर इसमें आत्मज्ञानकी कौन-सी वृद्धि हो गई सो बताइये? साता वेदनीय कर्मोंने इस जीवको सुख ही तो दिया और इससे तीव्र कषाय ही आ गई और बताइये क्या हो गया! तो तत्त्वदृष्टिसे विचार करो तो ज्ञात होगा कि शुभ और अशुभ दोनों ही कर्म त्याज्य हैं।

हम राग करते हैं और दूसरोंसे कराते हैं। शास्त्र सुननेका फल तो एक ही है कि हम राग-द्वेष करना छोड़ें। हमको छोड़ दो कोई भी यहाँ बैठेगा या बड़े भगवान्के पास भी चले जावो तो वह भी राग-द्वेष छोड़नेका उपदेश देंगे। तुम्हें विवेकरूपी माणिक्य मिला है लेकिन तब भी माणिक्यको छोड़कर तुम बिना विचार किये ही रमणीय विषयोंमें तल्लीन हो रहे हो।

स्वर्गकी प्राप्ति परिणामोंसे होती है न कि द्रव्यसे। एक गरीब आदमी है और वह मोटे चावल चढ़ाता है और उसके परिणाम एक चित्त होकर भगवान्के स्वरूपमें लवलीन हो रहे हैं। तथा एक धनिक आदमी हीरा माणिक्य ले भगवान्का पूजन कर रहा है पर

उसके परिणाम घरकी ओर लगे हुए हैं तो इसकी अपेक्षा उस गरीब आदमीको फल अच्छा मिलेगा। इससे मालूम पड़ता है कि भावकी कीमत होती है। मेंढक तो सिर्फ कमलका फूल मुँहमें दबाकर पूजनकी महती वांछा लेकर जा रहा था और उसका रास्तेमें ही देहान्त हो गया तव भी शुभ परिणाम होनेसे उसे स्वर्गकी प्राप्ति हो गई—तो इसमें कौन-सी आश्चर्यकी बात हो गई? संसारमें ऐसे-ऐसे काम प्रारम्भ हो गये हैं जिससे सब चौपट हो गया है। सुखकी प्राप्ति सम्यक्चारित्रसे होती है। सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञानसे होता है तथा सम्यग्ज्ञान आगमसे होता है। आगम श्रुतिसे होता है। गणधर देव आगम बनाते हैं। श्रुति आप्त भगवान्‌से होती है। आप्त भगवान् राग द्वेष रहित होते हैं। ऐसे त्याज्य रागादिकको समझकर उन्हें छोड़ो। जिसको तुम पूजते हो सो क्या तुम उसके शरीरका पूजन करते हो या उसके गुणोंमें अनुराग रखते हो। वताइये तो आप भगवान्‌से वच्चा माँगते हो धन माँगते हो। क्या उनके पास तुम्हें देनेको रखा है?

वीतराग विज्ञान ही सच्ची वात कह सकता है। क्योंकि यह तो निर्विवाद है कि झूठ वोला जावेगा तो या तो अज्ञानताके कारण या राग-द्वेषके कारण, परन्तु आप्त भगवान्‌में दोनों चीजें वर्तमान नहीं हैं।

राग-द्वेष न होनेसे ज्ञान कर्मोंकी निर्जरा करा देता है। नेत्रने वस्तुओंका ज्ञान करा दिया; राग-द्वेष नहीं होना चाहिये—चलो छुट्टी पाई। कषाय करना बुरा है। आचार्योंने वर्णन किया है कि ये पुत्र मित्र घर धन सम्पत्ति हैं वे सव नरकको ले जानेवाले हैं और उन्होंने वहीं नरकके दुखोंका वर्णन कर दिया। तो इनसे तो अनिष्ट वुद्धि करवा दी तथा स्वर्गोंके सुखोंका निरूपण किया सो उसमें लाभ वुद्धि उत्पन्न करा दी। भगवान्‌ने भी जीवको लोभ उत्पन्न

 दिया, व्यवहार है करें क्या।

वड़े-वड़े आचार्य उपदेश देते हैं कि किसीसे बोलना नहीं चाहिये; क्योंकि जिससे हम बोलते हैं वह आत्मा नहीं और जो आत्मा है वह बोलता नहीं। परन्तु वे स्वयं ही बोलते हैं। सो क्या करें मोहका उदय आया उसे तो भुगतना ही पड़ेगा।

बोधरूपी जो रतन मिला है अगर उसे छोड़ दोगे तो जिस प्रकार समुद्रमें रत्न फेंक देनेसे वह फिरसे प्राप्त नहीं हो सकता उसी प्रकार बोध भी फिरसे प्राप्त नहीं किया जा सकता।

अन्तमें निचोड़ करके दिखलाते हैं कि संसारमें सब वस्तुएँ प्राप्त होना सुगम हैं। राज्य मिल जावे, धन सम्पत्ति मिल जावे, मनके अनुकूल स्त्री पुत्र मिल जावे। एक बोधि ही दुर्लभ है जो बार-बार नहीं मिलता।

यदि ज्ञान न हो तो पंडितोंसे सुन लो और अपना कल्याण कर लो, अरे! यदि लड्डू बनाके नहीं जानते तो उसे खाके तो जानते हो? भेदज्ञान पैदा कर लो—चलो छुट्टी पाई।

भिखमंगोंमें भी मांगनेकी कला होती है। वे इस तरीकेसे मांगते हैं कि हमारे मनमें गुदगुदी पैदा हो जाती है और हम उसे भिक्षा दिये बगैर चैन प्राप्त नहीं करते।

एक समयकी बात है कि हमारे घरके पाससे एक भिखारी आया करता था। वह भइया! इस तरीकेसे मांगे कि हमें कुछ न कुछ देना ही पड़ता था। एक दिन वह मांगनेको आया। मैंने कुछ उसे दिया। तथा उसे रोककर पूछा—'क्यों भाई, तुम्हारा पेट तो भूखा दिखता नहीं और तुम इस तरहसे क्यों गिड़गिड़ा रहे थे।' वह कहने लगा कि 'यदि इस तरहसे न गिड़गिड़ायें तो हमें कौन देगा?' फिर मैंने उससे पूछा—'क्यों भाई? तुम्हारे पास कितना पैसा है।' उसने कहा '५०) हैं। 'ठीक बताओ'। 'वह कहने लगा' '२००) हैं, दो स्त्रियाँ हैं। आरामसे मोराजीमें रहते हैं। आठ दिनको

खाना रखा हुआ है। आनंद करते हैं। लेकिन एक वात है कि तुम लोगोंमें विवेक विल्कुल नहीं।' मैंने पूछा—'क्यों भाई! क्या वात है। हमने तो तुम्हें खानेको दिया और हमसे ही ऐसा कहते हो?' उसने उत्तरमें कहा कि 'यदि तुम न देते तो हमें दूसरी जगह मिल जाता। लेकिन कभी-कभी जो लंगड़ा इस तरफ मांगता है और उसे तुम कुछ न कुछ या वाईजी भी दे दिया करती हैं। परन्तु तुम्हें क्या मालूम उसके पास २०००) रुपया नगद है। तुम्हें तो पात्र अपात्र कुछ विवेक नहीं है।'

भइया, सच्ची बात पूँछो तो हममें विवेक विल्कुल नहीं है। अरे हमने कमाया और हम ही उसका उपयोग न कर सके—यह हमारी नादानी है। हम तो माँगते हैं मोराजी पाठशालाके लिये, आश्रमके लिये। हमें तो कोई कुछ देता नहीं, तुम्हारा हम तो १) रुपया भी नहीं लेते। अव देना हो तो दो—नहीं देना हो तो तुम्हारी इच्छा।

समयसार

अव यहाँ पुण्य-पापके अधिकारका वर्णन है। सच्ची वात पूछो तो भइया! पाप और पुण्य दोनों ही स्वांग हैं। आत्मा तो अखंड-पिंड है। कुंदकुंदस्वामी कहते हैं कि पुण्य और पाप दोनों ही वुरे स्वांग हैं। न शुभ अच्छा है और न अशुभ बुरा है। ये तो दोनों ही वेड़ियाँ हैं। चाहे सोनेकी हो या लोहे की। परतंत्रता तो दोनोंमें है। स्वाधीनता किसीमें भी नहीं।

तव क्या करना चाहिये सो वताते हैं कि कुशीलका खोटा स्वभाव है उससे न तो राग करना चाहिये और न द्वेष ही करना चाहिये। यदि हमने उसमें राग वा द्वेष किया तो हमारी स्वाधीनता नष्ट हो जावेगी। लौकिक दृष्टान्त यह है कि यदि कोई स्त्री खोटी है तो उससे न तो राग ही करना चाहिये और न द्वेष ही करना। (?) । कर्म प्रकृति जब तक है तव तक तो अपने उदयसे चारों

गतियोंमें भ्रमण करावेगा ही। कर्म तो उपद्रव ही करते हैं। उनमें न तो हमें राग करना चाहिये और न द्वेष करना चाहिये। जहाँ हमने ऐसा किया वहींसे निर्जरा और संवर जो मोक्षके कारण हैं शुरू हो जाते हैं।

भइया, मोह है बुरी चीज। रामचन्द्रजी ६ माह तक अपने भाईको गोदमें लेकर मोहमें यहाँ-वहाँ पागलसे होकर फिरते रहे और जब उनका मोह गल गया तो सीताजीके जीवने कितने उपद्रव किये, पर फिर क्या था? अन्तमें केवलज्ञान हुआ और मोक्ष गये।

यहाँ इतने आदमी वृद्ध हैं फिर भी वे संसार की चिन्ता करते हैं मोह करते हैं। यह लड़का मेरा है यह पोता मेरा है—इसीमें अपना अमूल्य समय वरवाद करते रहते हैं। वे ही वतावें, इतने दिन तो रहे घरके जंजालमें। मिला क्या उनको सुख सो बतावें। आकुलतामें सुख तो मिल ही नहीं सकता। जरा वे इस ओर दृष्टि करें, थोड़ा यह भी करके देख लेवें। इसमें सुख मिलता कि नहीं। यदि न करें तो बताइये हम क्या करें? हमारा काम तो कहनेका है सो कह दिया। मानो या न मानो आपकी मर्जी। लेकिन इतनी बात जरूर है कि मनुष्य जन्म की सार्थकता धर्म को धारण करनेमें है।

(सागर १।४।५२)



चार

समयसार

यहाँ संवर का वर्णन किया गया है। संवर याने कर्मोंके आने का रुक जाना है। कर्मोंका न आना ही संवर है।

"सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं"

इसमें यह भावना की जाती है कि संसारमें किसीको दुःख ही न हो। इसी प्रकार कर्मोंका आना होवे ही नहीं। मोक्षका मार्ग संवर ही है। निर्जरा तो हमेशा होती ही रहती है। पर संवर होना कठिन है। यदि संवर पूर्वक निर्जरा हो तो समझना चाहिये कि संसारका अंत निकट ही है। सम्यग्ज्ञानरूपी ज्योति का जब उदय होता है तब ही संवर होता है। आत्माका ज्ञान परद्रव्यसे भिन्न है ऐसा विश्वास कर सम्यग्ज्ञान करनेकी आवश्यकता है। इससे हमें सच्ची शांति और सच्चा सुख मिलेगा।

बनारसमें, पुराने समयकी बात है, एक बड़ा भारी मल्ल आया, उसने बनारसके सारे मल्लोंको हरा दिया तो राजाको बड़ी निराशा हुई और वह लिखने लगा कि अमुक व्यक्तिने बनारसके सारे मल्लोंको पराजित कर दिया। वहाँ एक ६ वर्षीय बालक बैठा था। उसने कहा—'महाराज एक विनती है कहो तो अर्जी करूँ'। राजाने कहनेके लिये कहा। उसने जवाब दिया कि 'आप ऐसा मत लिखिये कि उसने सारे मल्लोंको पराजित कर दिया। उसको यह लिख देना चाहिये कि उसने अमुक अमुक मल्लको पराजित कर दिया।' राजाने कहा—'ऐसा कौन है जो उसे हरा सके ?'

उत्तरमें उसने कहा—'महाराजजी ! क्या इन्हीं मल्लोंने सारे मल्लोंका ठेका ले लिया है ? मैं चाहूँ तो उसे हरा दूँ।' पहले तो राजाने उसे नादान समझा लेकिन जब उसकी हठ देखी तो राजा ने स्वीकृति दे दी। ७ दिनके बाद कुश्ती हुई। १ घंटे तक वह लड़का यहाँ वहाँ कूदता रहा सो उतने समयमें उस मल्लको उसने खूब थका दिया। अन्तमें मल्लने उस लड़केको पकड़ लिया और कहा कि बताओ 'कहाँ पटकूँ ?' वह इस विचारमें ही था कि लड़के ने उसे पटक दिया और उसपर विजय प्राप्त की ! कहनेका तात्पर्य

यह है कि संवर करनेका ठेका थोड़े ही किसीने लिखा लिया है। जिस चाहेको हो जावे। चाहे वह गरीब हो, चाहे धनवान् हो। चाहे कमजोर हो, चाहे बलवान् हो। चाहे किसी भी गतिका हो। जैनियों ने थोड़े ही जैन धर्मका ठेका ले लिया है? वह तो जीव-मात्रका धर्म है।

सम्यग्दर्शन संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवके हो सकता है। मिथ्यात्व संसारका कारण है। जब सम्यग्दर्शन हो गया संसार रुक गया, चलो छुट्टी पायी।

क्रोधादि जो चार कषायें हैं उन्हें हम अपना मानते हैं। लोभमें राग करते हैं, द्वेष करते हैं। कुंदकुंदस्वामीने आत्माका लक्षण उपयोग बतलाया है। चैतन्य आत्माका लक्षण है और वह हर अवस्थामें मौजूद रहता है। आत्माका लक्षण क्रोध नहीं हो सकता, क्योंकि यदि क्रोध आत्माका लक्षण होता तो उसे हर अवस्थामें मौजूद रहना चाहिये, पर वह रहता नहीं है। इससे मालूम पड़ता है कि क्रोध आत्माका लक्षण नहीं है। क्रोध पृथक् है, उपयोग पृथक् है। क्रोधमें क्रोध ही होता है उपयोग नहीं होता और जो उपयोग होता है उसमें क्रोध नहीं होता। दोनों एक दूसरेके प्रतिकूल हैं परन्तु उपयोग आत्माकी वस्तु है और क्रोध कर्मका औदयिक भाव है, जबतक कर्मोदय है उसकी सत्ता है। जब उसका उपशम, क्षयोपशम या क्षय हो जावे तब क्रोध दूर हो जाता है। लेकिन उपयोग न तो कर्मके उदयसे होता है और न क्षय क्षयोपशमसे। वह तो आत्माका अभिन्न लक्षण है।

जब कर्म और कषाय तुम्हारी नहीं है तो फिर उन्हें अपना मानकर क्यों उपद्रव कर रहे हो? यदि हमारी वस्तु हो तो मानना चाहिये अन्यथा काहेको पागल बने हुए हो। देखिये दर्पणके सामने कोई वस्तु आती है तो वह उसमें ज्योंकी त्यों प्रतिबिम्बित हो जाती-

है। यदि उस प्रतिविम्बको दर्पणका प्रतिविम्ब माने तो वस्तुके हटाये जाने पर उस प्रतिबिम्बको उस दर्पणमें रहना चाहिये, पर वह उसमें नहीं रहती इसलिये मालूम पड़ता है कि वह प्रतिविम्ब दर्पणका नहीं है। इसी प्रकार क्रोधादि जो कषाय हैं वे भी कर्मके उदयसे होते हैं वे आत्माका लक्षण नहीं हैं। एक चीज दूसरे की नहीं हो सकती। एकको सत्ता दूसरेकी सत्तामें नहीं हो सकती। ज्ञानमें क्रोधपना नहीं है। क्रोधमें ज्ञानपना नहीं है। इस वास्ते वे भिन्न हैं। भेदज्ञान हो जानेसे जब शुद्धात्माका अनुभव जीव करने लगता है तब रागद्वेषका संवर हो जाता है। हम परपदार्थोंको अपनी चीज समझकर संसारमें रुल रहे हैं। आत्मामें अनन्त गुण हैं वे भी पृथक् पृथक् माने जाते हैं तब फिर दूसरी चीजें हमारी कैसे हो सकती हैं। सम्यग्दृष्टिको कैसी ही विपत्ति आ जावे तो भी वे आकुलताको प्राप्त नहीं करते। जब भेदज्ञान हो गया और मनमें यह निश्चय हो गया कि मैं ज्ञानदर्शनका पिण्ड हूँ। स्वर्णको कितनी ही तेज अग्निमें जला दो परन्तु वह अग्निमें भी सोना रहेगा उसी प्रकार प्रचण्ड विपाक कर्मका उदय होनेपर वह ज्ञानमें विकृति नहीं ला सकता। हजार कारण कलाप जुट जावें परन्तु स्वभाव कभी नहीं मिट सकता। यदि वस्तुका स्वभाव मिट जावे तो वस्तु ही मिट जावे। हजार विरुद्ध कारण जुटे तो भी हमें घबड़ाना नहीं चाहिये। समझना चाहिये कर्मका विपाक आया सो ऐसा देखना पड़ा और सहना पड़ा। देखिये जब मोहनीय कर्मका उदय उतने बड़े महापुरुषको आया जो इसी भवसे मोक्ष जाननेवाला था, अपने भाईके प्रेममें पागल हो गया और ६ माहतक उसकी मृतकायाको लिये यहाँ वहाँ भटकता रहा!

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें हम पढ़ते थे और बाईजी वहीं थीं। एक दिन एक बंगाली विद्वान् आया। उसने कहा कि बाईजी क्या कर रही हो? बाईजीने कहा—कि 'भइया! रोटी बना रही

हूँ। मेरा बच्चा पढ़नेको गया है उसे खिलाऊँगी और मैं खाऊँगी।' वह इतना सुनकर चला गया। पासकी कोठरीमें वह अकेला ही ठहरा था, फिर भी वह कहने लगा कि 'तूँ भी रोटी बना अपने बच्चोंको खिला—देख ये भूखे हैं। बना जल्दी रोटी बना।' बाईजीने सोचा कि इसके साथ तो कोई औरत है नहीं यह किससे रोटी वनानेके लिये कह रहा है। उन्होंने पूँछा कि 'क्यों जी ? किससे रोटी बनानेको कह रहे हो ?' उत्तरमें उसने कहा कि 'मैं अपनी स्त्रीकी फोटोसे कह रहा हूँ।' बाईजीने कहा कि 'मूर्ख तू इतना भी नहीं जानता कि कभी अजीव भी रोटी बनाता है।' 'सो तो मैं भी जानता हूँ'—उसने कहा।

तो कहनेका तात्पर्य यह है कि हम समझते हैं कि ऐसा करना बुरा है तो भी हम उसे धकाये चले जाते हैं। यह कल्याणकारी बात नहीं।

सम्यग्दृष्टि यह समझते हैं कि जितने ये पुत्र पौत्रिक हैं वे सब अन्य हैं। आत्मज्ञान नहीं होनेसे हम सब पागल हो रहे हैं। प्रचण्ड कर्मका उदय हो तो हमें भुगतना पड़ेगा। सम्यग्दृष्टि जीव प्रचण्ड कर्मके उदय होनेपर न द्वेष करता है और न राग करता है।

शुद्धात्माकी प्राप्ति होनेके कारण भेदज्ञान है। पन्नालालजी बहुत लोभी द्रोही आदमी थे पर वे ज्ञानवान थे सो उन्होंने अन्तमें मुनि अवस्था प्राप्त कर ली थी। ज्ञान कभी न कभी काममें आ ही जाता है।

काम तो सब करना ही पड़ता है पर अभिप्राय नहीं रहता है। निर्मल भाववालेके ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय भाव होता है। राग-द्वेषकी सत्ताका निरोध हो जाता है और शुद्ध आत्माकी उपलब्धि हो जाती है।

योग दो प्रकारके होते हैं (१) शुभयोग (२) अशुभयोग। यदि दोनों ही मिट जावें तो मोक्ष हो जावे। योग जबतक है तबतक

शुभ और अशुभ योगके मूल कारण रागद्वेष है। उसमें वर्तमान जो आत्मा है उसको दृढ़तर भेदविज्ञान है अतः उससे आत्माको आत्माके द्वारा आत्मासे रोके।

भइया! घोड़ेकी लगामको पकड़कर दूसरी दिशा बदलनेके लिये पहले लगाम खींचनी पड़ती है। उसे फिर दूसरी ओर मोड़ना पड़ता है। इसी प्रकार परपदार्थोंकी तरफसे मनको रोककर फिर शुद्धज्ञान दर्शनकी ओर मुड़ना चाहिये। जो मनुष्य समस्त कषायोंसे विमुक्त होकर आत्मामें तल्लीन होते हैं उनके कर्मका बन्धन नहीं होता है।

कषाय रुक जावे तो योग अपने आप रुक जावे। कषाय नष्ट हो जाती है परन्तु योग वर्त्तमान रहता है तो भी उसमें कर्मभावकी शक्ति नहीं रहती। योग तो मिथ्यादृष्टिके रहता है और सम्यग्दृष्टिके भी रहता है। परन्तु कषाय सहित योग होनेसे मिथ्यादृष्टि कषाय रहित होकर केवलज्ञान भी प्राप्त कर लेते हैं। पर उसके रहनेसे जगके कल्याणार्थ उपदेश देते फिरते हैं।

आदिनाथ भगवान्के दो स्त्रियाँ थीं और १०० लड़के थे। परन्तु जब तपस्याके हेतु घरसे बाहर निकल पड़े और केवलज्ञान हो गया तो इनके उपरान्त दुनिया भरका परिग्रह रचा गया। समवसरणकी रचना की गई पर मोह न होनेसे उतनी वस्तुएँ कुछ न बिगाड़ सकीं।

कर्मके अभावसे युक्त वह आत्मा एक आत्मामें ही विचरण करता है। आत्मा परपदार्थसे भिन्न है। चैतन्य चमत्कार युक्त आत्मा जब परपदार्थोंको त्याग देता है तो वह शीघ्र ही कर्म नष्ट करके मोक्ष प्राप्त करता है।

यदि मिथ्यात्व होगा तो कर्म होगा और इसके विपरीत यदि सम्यग्दर्शन होगा तो न कर्म होगा न राग होगा और न संसार ही होगा।

भेदविज्ञानकी तबतक साधना करो जबतक कि ज्ञान ज्ञानरूप न हो जावे। जो सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञानके द्वारा ही और जो असिद्ध हैं वे भेदविज्ञानके अभावके कारण। शुद्ध आत्माकी उपलब्धि करके संवर होता है तथा भेदविज्ञानसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है।

भेदविज्ञानसे राग-समुद्र शान्त हो जाता है यदि हे भव्यजीवो! तुम अपना कल्याण करना चाहते हो तो भेदविज्ञानको प्राप्त करनेका प्रयत्न करो।

भाइयो! कल्याणका जो मार्ग आचार्योंने बताया है, उस मार्गका आप अवलम्बन करते नहीं हो। विभूतिकी विडम्बनाको प्राप्त कर रहे हो। आप स्वयं तो समझते नहीं दूसरेको समझाते फिरते हो।

अगर आध्यात्मिक विद्या न पढ़ी जावे तो आत्माको सच्ची शान्ति व सुख प्राप्त नहीं हो सकता। विद्यासे चमत्कार देख लो। साइन्सने ऐसे चमत्कार कर दिये जिन्हें हम मानते हैं, समझते हैं, पर क्या जनता सुखके मार्गपर है? मुझे तो मालूम है कि जैसे परिग्रहकी वृद्धि होती है वैसे ही आकुलता बढ़ जाती है। और जहाँ आकुलता रहती है वहाँ सुख हो ही नहीं सकता। आत्माका कल्याण आध्यात्मिक विद्यासे ही हो सकता है। यदि हम आज अपनेको देखने लगें तो हमें संसार दिखने लगे। अपना हित करो संसारका हित हो जावेगा। पर हम ऐसा करते नहीं हैं। हमारी तो ऐसी प्रकृति हो गयी है कि हमें बिना दूसरेकी आलोचना किये चैन नहीं पड़ता। समस्त प्राणियोंमें समता भाव-धारण करो। समताभाव सम्पूर्ण आचरणोंमें उत्कृष्ट आचरण है।

राज्य तो वह कहलाता है जिसमें धर्म अर्थ काम ये तीनों पुरुषार्थ अविरोध रूपसे चल रहे हों।

धर्म उसे कहते हैं जिससे स्वर्ग व मोक्षकी प्राप्ति हो। इसके विरुद्ध जो फल देवे वह अधर्म कहलाता है।

अरे हाय रे हाय! जैनोंकी बड़ी दुर्दशा है। क्या करें सब जातिवाले बड़ी बुरी निगाहसे देखते हैं—ऐसा हम कहते हैं परन्तु हम तो दावेके साथ कहते हैं कि यदि आज अपने धर्मकी आज्ञाका पालन करो। बुरी दृष्टिसे देखना तो दूर रहा सारा संसार तुम्हारे पैरोंपर गिरेगा तुम्हारा पूजा करेगा।

भाई! उसीका प्रभाव पड़ता है जो नियम कर लेता है। हमारा मोह तो क्षीण नहीं हुआ। हमारा आप पर कैसे प्रभाव पड़े? और आप कैसे मोह छोड़ें।

यदि हम किसी भी नियमपर अमल करने लगें तो हम दूसरेको अमल करनेके लिये कह सकते हैं अन्यथा नहीं।

इसके बाद १२ भावनाओंका वर्णन इसमें है। कहते हैं कि हे भव्य! भावशुद्धिके लिये भावनाओंका चिन्तन करो। हम और आप रातदिन मोह कर रहे हैं। हम अपने बच्चोंको पढ़ाते हैं—

राजा राणा छत्रपति हाथिन के असवार
मरना सबको एकदिन अपनी अपनी बार॥

६-६ वर्षके बच्चोंको तो पढ़ाते हैं पर जो हमको पढ़ना चाहिये सो हम पढ़ते नहीं। हम ख्याल नहीं करते और अपनेसे बच्चोंको चिपटाये रहते हैं। द्वादशानुप्रेक्षा मुक्ति मन्दिरकी सीढ़ी है।

सबसे पहिले अनित्य भावनाका वर्णन किया गया है। हम इन्द्रियोंके सुखोंमें लीन हैं। विचार किया जावे तो संसारमें जितने सम्बन्ध हैं वे सब विपत्तियाँ ही हैं और सबकी सब नीरस हैं उनमें कोई रस नहीं।

एक समय एक साधुके पास एक बच्चा पढ़ता था वह बहुत ही भक्ति किया करता था और रोज आया करता था। कुछ कालके

उपरान्त उसकी सगाई हुई और वह २-४ रोज पढ़ने न जा पाया तथा जिस दिन वह वहाँ गया तो साधुने पूछा क्यों भाई कहाँ गये थे ?' उत्तर दिया—'महाराज आपकी सगाई थी।' साधुने कहा—'बेटा, हमारेसे गया।'

थोड़े दिनों बाद उसकी शादी हुई। सो १०-१५ दिन फिर साधुके यहाँ नहीं गया। जिसदिन वह साधुके पास पहुँचा सो साधुने पुनः पूँछा !—'क्यों बच्चे कहाँ गये थे।'

उसने कहा—'महाराज आपकी शादी थी।'

महाराजने कहा—अपने माता-पितासे गया।

कुछ दिनों बाद उसके बच्चा हुआ तो साधुने कहा—'अब तू अपनेसे ही गया।'

फिर अपने शरीरको छोड़कर अपने बच्चोंकी चिन्ता होने लगती है। अपना कल्याण करो ! कहाँके लड़के कहाँके बच्चे ?

शरीर रोगोंका मन्दिर है। जरा यौवनका घर है। जीवनका मरण होता ही है। जिसने जन्म लिया है वह अवश्य ही मौतको प्राप्त होगा। जो पदार्थ पुण्योदयसे आते हैं वे पाप होनेसे विलयमान हो जाते हैं। एक घन्टेमें २५०००) का लाभ हो जावे या घाटा पड़ जावे। तत्त्वदृष्टिसे विचार करो ये न पहले तुम्हारे थे और न अब भी तुम्हारे हैं। यदि ऐसा निश्चय हो जावे तो न दुख हो और न सुख।

जिस समय रावण मरने लगा तो रामचन्द्रजीने लक्ष्मणसे कहा—कि 'रावण सबसे बड़ा नीतिज्ञ है जावो कुछ शिक्षा ले आवो।' लक्ष्मण गये और रावणके सिरहाने बैठकर पूछने लगे परन्तु रावणने कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

लक्ष्मण लौट आये। रामचन्द्रजीने फिरसे कहा कि जाकर उसके पैरोंके पास बैठकर पूँछना। लक्ष्मण गया और उसने पूछा तो रावणने उत्तरमें कहा—

'करले सो काम, भजले सो राम।'

स्पष्ट करते हुए उसने कहा कि मरनेके पूर्व मैंने विचार किया था कि मैं नरकसे लेकर स्वर्गतक सीढ़ी बना दूँगा तथा समुद्रके पानीको मीठा कर दूँगा। पर जो काम हो जावे सो ही काम है।

(सागर २।४।५२)



पांच

ज्ञानार्णव

ऋण चुकानेके दो रास्ते हैं। एक तो ऋण लेवे नहीं और प्राचीन कर्ज चुका देवे। इसी प्रकार संवर कर्मोंके आनेको रोक देता है। प्राचीन कर्म रहे सो खिर जावेंगे।

शीतकाल था। मैं और मेरे कुछ अन्य सहपाठी रुई भरानेके लिये बाजारमें गये। बनारसकी वार्ता है यह। सो सबके लिये तो भरनेके लिये नौजवान मिल गये परन्तु मेरे हिस्सेमें एक बूढ़ा आदमी पड़ा। मैंने कहा—'अरे तुम नहीं भर सकते बूढ़े आदमी हो। हमारे सब साथी चले जावेंगे। हम तो तुमसे नहीं भरवाते।'

उसने उत्तर दिया—'अरे घबड़ाते क्यों हो? उन सबसे अच्छा और जल्दी तुम्हें दे देंगे तुम चिन्ता न करो।' सबने तो एक बारमें सब रुई धुनक डाली, पर बूढ़ेने तो एक-एक छटाक करके धुनकी। अन्तमें सबसे पहले उस वृद्धने वह रुई धुनकी और वह रुई सबसे अच्छी धुनकी गई। उसने मुझसे कहा—'कुछ समझे कि नहीं या पूरे मूर्ख ही हो।' मैंने कहा—'मैं सब समझ गया 'तुम अपनी एक-एक छटाक धुनक करके काम करनेकी चिन्ता कम करते गये और उन्होंने पूरी ही धुनकी और फिरसे पूरी ही धुनकी। इससे उनको पूरेकी ही चिन्ता रही।'

इसी प्रकार जब हम कर्मोंका संवर कर लेते हैं तो एक चिन्तासे निर्वृत हो जाते हैं फिर हमें सिर्फ निर्जरा ही करनी पड़ती है सो वह भी हम कर लेंगे।

रागादिकको रोककर जिसने ज्ञानकी धुरी धारण करके संवर कर दिया वह अब प्राचीन कर्मका नाश करनेके लिये निर्जरा करनेके लिए उद्यत होता है।

संवर कहांसे होता है इसको बताते हैं। वीतरागी चेतन व अचेतन दोनोंका उपभोग नहीं करता है। उपभोगका अर्थ है—रुच जाना। जैसे तुमने किसी पदार्थको खाया तो तुम्हें जिह्वासे उस पदार्थका स्वाद आया। तुमको रुच गया सो तुम उसमें राग करने लगे। मुनिने भी उस पदार्थको खाया और जिह्वा इन्द्रियसे उसके रसास्वादनका ज्ञानोपार्जन किया परन्तु उन्होंने उसमें राग बुद्धि नहीं की। वह समझते हैं कि सिर्फ शरीरकी स्थितिके लिये उन्हें ऐसा करना पड़ा। क्योंकि कहा है—

"शरीर माद्यं खलु धर्मसाधनम्।"

मन्दिरमें हम भी जाते हैं, माली भी जाता है और मन्दिरमें सबसे अधिक समय लगाता है लेकिन भक्त हम ही कहलाते हैं, माली नहीं। परिणामोंकी अपेक्षासे यह व्यवहार होता है। यदि हमें धर्म रुच गया तो समझना चाहिये कि हमारा कल्याण हो गया।

बन्धका कारण राग-द्वेषकी परिणति है। पदार्थके उपभोगमें दो बातें होती हैं। जब सातावेदनीयका उदय होता है तो पदार्थ रुचिकर प्रतीत होनेसे सुखानुभव होने लगता है। कभी-कभी वे ही पदार्थ असातावेदनीयके उदयसे अरुचिकर प्रतीत होनेसे दुखानुभव होने लगता है।

ज्ञानमें तो सुख दुःख दोनों ही आवेंगे। परन्तु चूंकि उपयोग बन्धका कारण नहीं, बन्धका कारण मोह है। जहाँ उपयोगके समय

मोहका सहयोग मिला वहीं पर नवीन कर्मका बन्ध हो जाता है।

असातावेदनीयके उदयसे यदि किसीको दुख हुआ। यदि अव वह अपने संक्लेश परिणाम करेगा तो उसे नवीन कर्मबन्ध होगा और यदि समता धारण की तो उसे संवर होगा।

दीपचन्दजी सुनाया करते थे कि मारवाड़में एक वुढ़िया थी। उसके ७ लड़के थे। वे वहुत ही सुन्दर और आज्ञाकारी थे। आयु पूर्ण होनेसे वड़े लड़केका स्वर्गवास हो गया। उस वुढ़ियाने बहुत ही विलाप किया। दिन रात रोती रहती थी। लड़कोंने वहुत समझाया कि हम तुम्हारी सेवा करेंगे, और यदि तुमने विलाप करना नहीं छोड़ा तो अवश्य हम सब भी मर जावेंगे। दैवात् सब मर गये।

आचार्योंने तो यह निरूपण किया है कि कर्मके उदयसे होनेवाले पर पदार्थोंका उपभोग कर लो, पर उनमें न तो विषाद ही लावो और न उनमें सुख ही मनाओ। वन्धका कारण कषाय है। वन्धके जो अनुभाग और स्थितिभेद किये गये हैं कषाय पर निर्भर है। तीव्र कषायमें तीव्र अनुभाग एवं स्थिति कर्म बन्ध होगा।

अभी किसीको यदि कोई विषैला जीव जन्तु काट खावे तो मन्त्रमें ऐसी ताकत है कि वह उसे दूर कर देता है। उसी प्रकार ज्ञान भी एक ऐसा मन्त्र है जिससे मोह राग और द्वेषरूपी कर्म क्षणमें ही नष्ट कर दिया जाता है। कई वस्तुऐं ऐसी देखनेको हमें मिलती हैं या हमें भुगतनी पड़ती हैं जिन्हें हम नहीं जानते लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि उपयोग करते समय आत्माका सन्तुलन ही खो दिया जावे।

धर्मका फल तो मीठा रहता है पर धर्मकी रक्षा करना वड़ा कठोर है। देखिये तो आज सुबह खाया फिर अपना पेट खाली हो जाता है। क्या विचित्र लीला है? रोज रोज यहाँ आनेकी

कोई आवश्यकता नहीं। अरे! एक दिन समझ लो और अपने कल्याणमें लग जाओ।

जो तुम इतरको दृष्टा मानते हो उसको छोड़ अपनेको ही दृष्टा समझो। तू न तो शरीर है और न किसी जातिवाला है। तू ही ज्ञाता है, तू ही दृष्टा है। भूल छोड़ दो आज कल्याण हो जावे।

ज्ञान और वैराग्यकी ताकत ये दो चीजें ही तुम्हारा कल्याण कर देंगी। कोई मनुष्य मद्यपान कर लेता है और वह पागल हो जाता है। ऐसे समय यदि दवाई खा ली जावे तो नशा दूर हो जावे, चलो छुट्टी पाई।

सम्यग्दृष्टिके तीव्र विरागी भाव होनेसे ज्ञानीको नवीन कर्म बन्ध नहीं होता। प्रमादी भी नहीं होना चाहिये। भीतर हृदयका अभिप्राय ठीक रखो। भइया, अध्यापक लड़केको मारता है तो लड़का कहता है—'अच्छा मारा'। उसका संरक्षक कहता है—'अच्छा मारा' क्योंकि उस अध्यापकका अभिप्राय उस लड़केको पढ़ानेका है।

सम्यग्दृष्टिको भी सब भुगतना पड़ता है। मोहसे मुनि अपने पास पिछी रखते हैं। कहीं जीवोंका घात न हो जावे—यह मोह रहता है।

जब मोह नष्ट हो जाता है तो कोई बुराई पैदा नहीं होती। देखो तो हम नित्य प्रति पुद्गलकी पर्यायोंको बुरी अवस्थामें ला रहे हैं। सुन्दर-सुन्दर पदार्थ मल-मूत्र और अन्य पर्यायोंमें बदल रहे हैं। यह सब तुम्हारे ही दोषोंका परिणाम है। जब परिहारविशुद्धि हो जाती है तो शरीर ऐसा हो जाता है कि भोजन भी करते हैं तो भी मलमूत्रका परिणमन नहीं होता है। इससे ज्ञात होता है कि शरीरमें मोह न होनेसे ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही विषय सेवन कर रहे हैं पर एकको फल प्राप्त नहीं होता और एकको होता है। ज्ञान वैभव

एवं विरागताका बल है। सेवन करते हुए भी असेवक है; क्योंकि वे उदासीन हैं तथा पदार्थके स्वरूपको जानते हैं।

अन्तरंग आसक्ति न होनेसे सम्यग्दृष्टिके बन्ध नहीं होता और मिथ्यादृष्टि न सेवन करते हुए भी बन्ध करता है। सम्यग्दृष्टिके नियमसे ज्ञान व चारित्र होता ही है। वह अपनी आत्मामें स्थित होता हुआ रागसे विरक्त होता है। सामान्य व विशेष प्रकारसे कर्मका उदय होता है और हमें सुख व दुख देनेवाली विविध प्रकारकी सामग्री प्राप्त होती है। पर सम्यग्दृष्टि यह समझता है कि मैं यह नहीं हूँ मैं तो ज्ञाता और दृष्टा हूँ। किसी वस्तुके विछोहमें या भगवानकी मूर्तिके खण्डन होने पर हम दुखी होते हैं। तत्त्व-दृष्टिसे विचार करो तो हमें वस्तुसे कोई भी दुख प्राप्त नहीं होता वरन हम अपने मोहसे दुःखी होते हैं। मोहका बड़ा वाहिजात ठाट है। यदि मोह मिट जावे तो संसार मिट जावे, आत्माका असली आनन्द प्राप्त होने लगे। हमारा ज्ञान है उसमें तो सब पदार्थ झलकेंगे, इसमें मोह क्यों करते हो। मोहसे उस पदार्थको अपना मान लेते हो—यही तो गलती है। यदि यह गलती सुधर जावे तो कल्याण होनेमें कोई विलम्ब नहीं।

वर्त्तमान कालमें जल गर्म है पर उसका स्वभाव गर्म नहीं है वह तो स्वभावतः शीतल है। पर अग्निके संयोगसे गर्म हो गया है। गर्मीको मिटानेका प्रयत्न किया जावे और वह दूर हो जावे तो जलका जो स्वभाव शीतलता है वह प्रगट हो जावेगा।

आत्मामें जो औदयिक परिणाम हैं उनको सहते हुए राग-द्वेष-को मिटानेकी कोशिश करो।

ये रागद्वेष तो ठीक हैं क्षायोपशमिक ज्ञान भी तुम्हारा रहनेवाला नहीं है।

भइया! यह बात तो जरूर है कि हम मोह वगैरहको दूर करनेका प्रयत्न करते हैं, क्योंकि ये बुरे हैं। इनसे आकुलता प्राप्त

होती है। पर हम ज्ञानको मिटानेका प्रयत्न नहीं करते, क्योंकि इससे हमें दुख नहीं होता। दुख देनेवाली असली चीज तो मोह है। ज्ञानमें जो चीज आवे सो आवे, उससे हमारा कोई बिगाड़ होनेवाला नहीं है पर उसमें रागद्वेष नहीं करना चाहिये।

सम्यग्दृष्टि राग-द्वेषका त्याग करता है। वह समझता है कि राग-द्वेष हमारा नहीं है वह तो कर्मोदयसे हुआ है। हम तो इससे बिल्कुल पृथक् हैं। यह तो मिटनेवाली चीज है इसे मिटाना ही चाहिये। सम्यग्दृष्टिके नियमसे सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र होता ही है। वह अपनी आत्माको जानता हुआ औदयिकभावको छोड़ता है। मन्दिरमें बैठकर भी हमने यदि अपना राग नहीं छोड़ा तो सब व्यर्थ है। हम अरिहंतका नाम लेते हैं पर जरा उसके अर्थ पर तो विचार कीजिये।

'अ' का अर्थ होता है अरि याने मोहनीय कर्म। 'र' का अर्थ होता है रज याने अज्ञान, अदर्शन व अंतराय। 'हंत' का अर्थ मारनेवाला। जिसने मोहनीय ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय इन ४ घातिया कर्मोंको नष्ट कर दिया है वे ही अरिहंत कहलाते हैं। व्यावहारिक दृष्टिकोणसे हम उनका पूजन करते हैं लेकिन उनके गुणोंको प्राप्त करनेका हम प्रयत्न नहीं करते—यही हमारी कमजोरी एवं मूर्खता है।

मनुष्य जब राग, द्वेष, मोह छोड़ देता है तब वह सम्यग्दृष्टि होता है। उन्हें छोड़नेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती, जब उनको वह पर पदार्थ समझने लगता है तब उनसे हेय बुद्धि तो हो ही जाती है।

राग, द्वेष, मोह और कषाय ये छोड़ने योग्य हैं। सामान्य व विशेष भावोंसे पृथक् होकर केवलज्ञान व वैराग्यको ही अपना स्वभाव मानना सम्यग्दृष्टिका कर्त्तव्य है।

सम्यग्दृष्टिको मकान तो मिल गया। अव तो उसके कूड़े कचड़ेको झाड़कर साफ करनेकी आवश्यकता है।

जो मोहादि हैं वही तो कूड़ा कचड़ा है।

सम्यग्दृष्टिने, जो कर्म व कषाय उसे डुबो रहे थे, उन सबको चूर कर दिया है। जिस तेज अग्निसे वज्रको भस्म कर दिया वह तो शेष कूड़ा करकटको शीघ्र ही नष्ट कर देगा। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि शीघ्र ही अज्ञान, राग, द्वेष और मोहको नष्टकर सकता है।

जो लेशमात्र भी राग-द्वेषको माने वह अपनी आत्माको नहीं जान सकता है। जो आत्माको नहीं जानता वह जीव अजीवको नहीं जान सकता और जो जीव अजीवको नहीं जानता वह सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त कर सकता है?

जवसे यह संसार है हम हरएक पदार्थमें पागल हो जाते हैं और उसे अपना मान वैठे हैं। एक पर्यायमें आये तो दूसरी पर्यायको भूल जाते हैं। यथार्थमें ये अवस्थाएँ अस्थिर हैं अपनी नहीं हैं। ये तो पुद्गल परिणमन है। समयको कोई रोक नहीं सकता। हम तुम तो ठीक ही हैं तीर्थंकर पद तक तो रुका नहीं। यदि तुम्हारा ही पद है तो रख लो उसे अपने पास तव जानें। लेकिन रहता नहीं। इससे मालूम पड़ता है कि ये शरीर धन ऐश्वर्य आदि हमारे नहीं हैं। हमारा तो जो स्थायी भाव ज्ञान है वही है।

भइया, एक वुढ़िया थी उसके ३ लड़के थे सो एक दिन एक पड़ोसीने विचार किया कि किसीका निमंत्रण किया जावे। उसने वुढ़ियासे आकर कहा—कि छोटे लड़केका नेवता किये जाता हूँ। वुढ़ियाने उत्तर दिया कि भाई किसीका भी नेवता कर जाओ हमें कोई उज्र नहीं पर इतना अवश्य है कि तीनों ही ३-३ सेरका खानेवाले हैं। इसी प्रकार चाहे किसी भी भावनाका चिन्तन करो वात एक ही है।

भाव बहुतसे पैदा होते हैं। शान्त परिणाम कभी होते हैं और कभी क्रोध रूप परिणाम हो जाते हैं। परन्तु ये स्थिर परिणाम नहीं हैं। इससे यह आत्माका स्वभाव नहीं हो सकता। मोह, कषाय, राग, द्वेष, आत्मामें होवें परन्तु ये हैं अस्थायी हो। ये हमेशा टिकनेवाले नहीं हैं। ज्ञानभाव ऐसा है जो आत्मामें नित्य है—अव्यभिचारी है।

ज्ञानमें कोई विपत्ति नहीं है, मोह नहीं हो तो कोई उपद्रव नहीं हो सकता। जहाँ दो वस्तुएँ होती हैं वहीं तो झंझट पैदा हो जाती है। यदि शुद्ध दाल ही बनाई जावे तो उसमें कोई उपद्रव नहीं और यदि उसमें नमक मसाला डाला जावे तो कभी रौना और कभी खारा ऐसी विशेषताएँ हो जाती हैं।

चिन्ताका विकल्प सब बिगाड़ करते हैं। व्यवहारमें भी देखा जाता है कि जिस मनुष्यके जितनी कम चिन्ता होगी वह उतना ही सुखी होगा।

बुढ़ियाका एक लड़का था। वह उसे खूब खिलाया करती थी। उस लड़केको कोई चिन्ता नहीं थी। वह आरामसे रहता था और खेला करता था। वह शरीरका काफी मजबूत था। उसके घरके सामनेसे राजाका हाथी निकला करता था। जब कभी वह लड़का हाथीकी सांकल पर लात रख देता था, हाथीकी यह मजाल न था कि वह आगे बढ़ सके। हाथीको चिन्ता हुई कि हमसे बलवान आदमी यहाँ मौजूद है और वह कमजोर होने लगा। यह देखकर राजाने उसके कमजोर होनेका कारण ज्ञात किया और उस लड़केको राजदरबारमें बुलाया।

उससे कहा—'हमारे यहाँ नौकरी करोगे?'

उसने उत्तर दिया—'हमें क्या करना है नौकरीका, हम तो आरामसे रहते हैं। हमें तुम्हारी नौकरीकी आवश्यकता नहीं।'

राजाने कहा—'अच्छा इतना काम करना कि तुम्हारे घरके पास जो मन्दिर है उसमें एक दीपक रख देना। हम तुम्हें ५००) माहवार देंगे। ये लेते जाओ रुपये।'

लड़केने सोचा कि इतने रुपये मिल रहे हैं और थोड़ा-सा ही तो काम है। उसने रुपये ले लिये और बड़ो खुशीके साथ घर आया।

जब वह लड़कोंके साथ खेल रहा था तो उसके मनमें यह चिन्ता पैदा हो गई कि दीपक जलाना है। दूसरे दिन जब उसने हाथीकी जंजीर पर अपना पैर रखा तो हाथी उसे खींच ले गया।

कहनेका तात्पर्य यह है कि जब चिन्ता हो जाती है तो शरीरका बल अपने आप कम हो जाता है। यदि अपना कल्याण चाहते हो तो चिन्ताको छोड़कर आत्मामें लीन रहो। अपनी समालोचना करो तो कल्याण हो जावे। उसकी तरफ अभी अपनी दृष्टि नहीं गई। दुनियाका यदि भला चाहते हो तो पहले अपना भला करो।

मोक्षका साक्षात् उपाय ज्ञान है। जिस प्रकार बादलोंमें सूर्य छिपा रहता है तब प्रकाश नहीं रहता पर जैसे-जैसे वह घनपटलसे दूर होता है वैसे ही ज्ञानके उदयसे आत्माका अज्ञानांधकार नष्ट हो जाता है। कर्म पटलसे यह आत्मा आच्छादित है। जैसे-जैसे कर्मपटल दूर होंगे वैसे-वैसे आत्माका विकास होगा। कर्मपटल दूर करनेके लिये हमें ज्ञानको हासिल करना चाहिये।

अनन्त पर्यायोंको यदि नहीं जानते हो तो कोई नुकसान नहीं। भेदज्ञान हो जावे तो सन्तोष करो—इससे अधिक समवशरणमें क्या मिलेगा? हम अपने शरीरको कष्ट दें—तप करें, महातप करें और यदि ज्ञान नहीं हो तो हमारा कल्याण नहीं होगा। सतत ज्ञानका अभ्यास करो—इतना ही इसका तात्पर्य है।

समयसार—

संसार स्थिर नहीं है। न भाग्य किसीका साथी होता है। जिसको सुबह राज्याभिषेक होना था, क्या मालूम था कि उसे सुबह जंगलको जाना पड़ेगा।

एककी लड़कीकी शादी हुई। सो भाँवरके समय लड़की सो गई। उसकी माताने आकर उसे जगाया। जागकर उसने अपनी मातासे कहा कि मैंने स्वप्नमें देखा है कि मैं विधवा हो गई हूँ। माताने उत्तर दिया कि इस अवसर पर ऐसे अशुभ विचार नहीं करना चाहिये। भाँवरको जब लड़का आया तब उस समय उसका सिर दर्द करने लगा, परन्तु समय चूक रहा था इसलिये लोगोंने उसकी भाँवर पड़वा दी। सुबह उसका देहान्त हो गया। क्या होना था, क्या हो गया। जिस प्रकार समुद्रमें लहरें उठती हैं उसी प्रकार कर्मके उदयसे हमारी पर्यायें बदलती रहती हैं। इन पर्यायोंको हमें अपना नहीं समझना चाहिये।

आयुको कोई रोकनेवाला नहीं, जब किसीकी मौत आ जाती है फिर उसे बचानेमें कोई समर्थ नहीं। परन्तु हम इतना तो कर सकते हैं कि आयु ही न मिले।

यौवन और धन स्वप्नके सदृश है। जब नींद खुले तब ही सारा मजा किरकिरा हो जाता है। इसी प्रकार जबतक शुभ कर्मका उदय है तबतक यह सुख है। नहीं तो एक क्षणमें विलय जाता है।

द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सब पदार्थ स्थिर हैं। और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा सब पदार्थ अस्थिर हैं। इसलिये पर्यायमें जो चीज प्राप्त हुई है उसका अभिमान करना व्यर्थ है।

(सागर ३ । ४ । ५२)

●

छह

समयसार

यदि मोक्षकी इच्छा है तो ज्ञान गुण प्राप्त करो। यदि जीव ज्ञानसे रहित है और वह बहुत-सी क्रियाएँ भी करे तो भी उसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। मोक्षमें जीव विषयसे विरक्त हो जाता है। यदि पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें आनन्दका अनुभव हो तो समझना चाहिये कि संसार है और यदि आनन्द नहीं आवे तो मोक्ष है। बस इतना ही विज्ञान है। यदि मोक्ष-प्राप्तिकी आकांक्षा है तो विज्ञान प्राप्त करो। ऐसा कौन मूढ़ है जो यह नहीं समझता कि ये पाँचों इन्द्रियोंके विषय हैं, इससे विरक्त होना ही मोक्षका कारण है। हम इन विषयोंमें ऐसे फँसे हुए हैं कि न तो माता-पिताको समझते हैं और न धर्मका आचरण करते हैं। ये तो सब ठीक ही है, हम स्वयंको भी नहीं गिनते।

बनारसमें जब हम पढ़ते थे, उस समय फारसके नाटक सर्व प्रिय थे। वहाँ 'हर्जीरे हिसर' नाटक आया। हमारे शास्त्रीजीने कहा—'नाटक देखने चलो, अच्छा नाटक आया है।'

हमने कहा—'शास्त्रीजी, आपने तो पुस्तकोंके सिवाय कुछ देखा नहीं, आपको क्योंकर इच्छा हुई? और फिर वहाँ हम दो आने चार आनेके टिकट पर जा नहीं सकते। वहाँ तो बीड़ी फीड़ी पीते हैं। हमें वह धुआँ बहुत बुरा लगता है। हम तो ३) रुपयाके टिकट पर चलेंगे पर हमारे पास तो पैसा है नहीं।'

शास्त्रीजीने उत्तर दिया—'चलो, तुम्हें हम ऊँचे टिकट पर ले चलेंगे और टिकटके पैसे हम दे देंगे।'

हम देखनेको गये। वहीं हमारे पास एक आदमी बैठा हुआ था। उसने एक कागज पर कुछ लिखा और सामने जहाँ रानी

अपना पार्ट कर रही थी उसके पास फैंक दिया । रानी का पार्ट एक स्त्री ही कर रही थी । उसने उस कागजको उठाया और उसे पढ़ा । फिर उस कागजके कई टुकड़े कर पैरोंसे मसल दिया ।

जब मनुष्यने यह देखा तो उसने छुरा निकाला और अपनी आत्महत्या करली। उसने कुछ विषय सम्बन्धा ही बात लिखी होगी। और उसकी अवहेलना देखकर अपने प्राणान्त कर लिये। संसारके दुखके कारण इन्ही विषयोंकी आकांक्षा है।

विषयमें जो रस है, वही संसार है। विरस ही मोक्ष है। यही देख लो, दूर जाने की आवश्यकता नही । अभी, इसी समय मोक्ष देखनेको मिल जावे।

मनुष्य सब क्रियाओंको कर डाले, महातप भी सहन कर ले, लेकिन ज्ञान यदि न होवे तो तीन कालमें भी मोक्ष नहीं हो सकता है। सारे अन्धे मिल जावें और कितना ही प्रयत्न करें तो भी वे निर्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकते हैं। सहज बोधकी कलासे मोक्ष सुलभ है। ज्ञानमें रत हो जावो, सन्तोष करो, आत्मा ज्ञानके बराबर है। ज्ञान ही आत्मा है। देखिये अग्निमें उष्णता रहती है, जिस समय उष्णता नहीं उस समय अग्नि ही नहीं रहती। इसी प्रकार आत्माका स्वभाव ज्ञान है। आत्मामें सन्तोष करो। सागरमें कई प्रकार की लहरें आती रहती हैं। सारा विश्व ही ज्ञानमें आता है। तू दीनकी तरह उनके पीछे दौड़ता फिरता है। जिस दिन तू उसे छोड़ देगा तेरे पीछे वे दौड़ते फिरेंगे। इसलिये हमेशा आत्मामें रत रहो। इतना ही कल्याण मार्ग है, इसलिये ज्ञान मात्रमें सन्तोष करो। ऐसी कौन-सी चीज है जो ज्ञानमें न आती हो ? दुःख भी ज्ञानमें आता है। सुख भी ज्ञानमें आता है। ज्ञान तो पीछा छोड़ता नहीं और तुम ज्ञानको जानते नहीं।

पानी गर्म हो गया। ज्ञानसे हम जान लेते हैं कि यह अग्निके संयोगसे इस पर्याय को प्राप्त हो गया है। यथार्थमें इसका स्वभाव शीतलपना है। यह क्रोध है—यह भी ज्ञान वताता है इसलिये ज्ञानमें संतोष करो और इसीका अनुभवन करो। उसीमें तृप्त रहो, उससे आगे कोई चीज नहीं। यदि तुम आत्मामें रत हो जाओ, उसीमें सन्तोष करो तथा उसीमें तल्लीन हो जावो तो तुम्हें सुख मिलेगा। और वह सुख न तो किसीसे पूँछना पड़ेगा और न कोई बता सकेगा। वह तो आत्मा की वस्तु है और आत्मामें ही अनुभवन की जाती है।

जब आँखमें मोतियाविन्दु पड़ जाता है तो आँखसे दिखना वन्द हो जाता है। परन्तु जब इसे निकाल कर फेंक दिया जाता है तो आँखसे अपने आप दिखाई देने लगता है। किसीसे पूछना नहीं पड़ता कि हमें दिखाई देता है—या नहीं।

एक नवीन बहूके गर्भ रहा तो उसने अपनी सासुसे कहा—कि 'जब बच्चा पैदा होने लगे तब हमें जगा देना।'

सासुने कहा—'तुम्हें जगानेकी जरूरत नहीं पड़ेगी तुम स्वयं जग जाओगी।'

इसी प्रकार यदि तुम कषायको छोड़ दो तो तुम्हें सुख या आनन्द होगा वह तुम्हें किसीसे पूछना न पड़ेगा।

ज्ञानी जीव परपदार्थको ग्रहण नहीं करता। क्या करें, समय ही ऐसा आगया है। लोग इसको ढौंग समझते हैं। प्राचीन कालमें हजारों मनुष्य घरसे विरक्त हो जाते थे, वनमें निवास करते थे, वहीं पर लड़कोंको पढ़ाया करते थे। परन्तु हम सब ही विषय भोग चाहते हैं, यदि दुखी न हों तो क्या हों ? वीसों कथाएँ हमें विना मूल्य शिक्षाकी मिलती हैं, पर आजकल तो संस्कृत भाषा भी विना रुपये खर्च किये नहीं मिलती ! सच्ची शिक्षा तो वह है जो दुखको

दूर करे और सुखको उपजावे। यदि किसीको १०००) माहवार मिलते हैं तो उसे १००) खर्च करने चाहिये और ९००) शिक्षादानमें देना चाहिये। वर्तमान समयमें तो शिक्षासे रोटी कमानेकी इच्छा की जाती है, कल्याण कैसे हो?

धनका तो दान हो सकता है पर कषायका तो त्याग ही करना पड़ेगा। ज्ञानी विचार करता है जो जिसका 'स्व' है वही उसका धन है और उसका वह स्वामी है। आत्माका परिग्रह आत्मा और ज्ञानका परिग्रह ज्ञान है। ज्ञान क्रोध नहीं हो सकता और क्रोध ज्ञान नहीं हो सकता। पर पदार्थ हमारे नहीं है—ऐसा समझकर वह पर पदार्थोंको ग्रहण नहीं करता है। जैसा मैं हूँ वैसे हो भगवान् हैं। भगवान्ने पर पदार्थ छोड़ दिये हैं और हमने पर पदार्थ ग्रहण किये हैं, इसलिये हम सेवन करनेवाले कहलाते हैं और हम सेवक भी बने हुए हैं। मालिक बनना हो तो अभी बन जावो, जो भगवान्के चरणोंमें सिर रगड़ना पड़ता है वह छूट जावे; सिर्फ पर पदार्थोंका त्याग कर दो। हम क्यों हमेशा हलके बने रहें?

यदि-पर पदार्थको हम ग्रहण करें तो वह हमारा 'स्व' होगया, और हम इसके स्वामी हो गये तो हम अजीव हो जावेंगे। तो क्यों अपने आप अजीव बनते फिरते हो? तुम तो एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव आत्मा हो, ज्ञान ही तुम्हारा है। तुम ज्ञानके स्वामी हो। अतएव तुम्हें पर द्रव्यको ग्रहण नहीं करना चाहिये।

एक समयका कथानक है कि क्षत्रिय और—वैश्यमें लड़ाई हुई। क्षत्रियको वैश्यने हरा दिया और उसकी छातीपर आगया। उसी समय क्षत्रियने पूछा—'तुम कौन हो?'

वैश्यने उत्तर दिया—'मैं तो वैश्य हूँ।'

क्षत्रियने ऐसा सुनते ही साहस पूर्वक उसे नीचे कर दिया। इसी प्रकार जब हमें मालूम पड़ जाय कि कर्म-कषाय तो पर पदार्थ

हैं और वे हमें संसारमें नाना प्रकारके कष्ट दे रहे हैं तभी हम उन्हें पराजित कर सकते हैं। लेकिन यदि हम समझें ही नहीं तो हमारी गलती है। नेता जो होते हैं या तीर्थंकर जो होगये हैं, वे हममें से ही हुए हैं। उनके नाम लेनेसे कोई लाभ नहीं, उन सरीखे काम हमें करने चाहिये। यदि हम ऐसा करें तो हम भी नेता या तीर्थंकर वन सकते हैं। आज ही हमारा कल्याण हो जावे। हम आज ही वन जावें, थोड़ी इस ओर दृष्टि करनेकी आवश्यकता है।

हमारा यह निश्चय हो जावे कि ये सारे पदार्थ हमारे नहीं हैं, चाहे कुछ भी हो जावें हमारा तो एकमात्र टंकोत्कीर्ण ज्ञान ही है। मनुष्य मोहके आधीन होकर विकल्प करते हैं कि अरे हम क्या करें—हमारे वच्चे हैं, यह गृहस्थी है, सभी विगड़ जावेगी। पर ये तो सव पर पदार्थ हैं। इनकी तुम्हे क्यों चिन्ता है? पर पदार्थ तो हमारे 'स्व' नहीं हो सकते, न हम उनके स्वामी ही हो सकते हैं।

धर्म-अधर्म, खान-पान ये चार पदार्थ हैं। इनके सिवाय कोई पाँचवीं वस्तु नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव न तो धर्मको चाहता है और न अधर्मको पसन्द करता है।

परिग्रह नाम बाह्य वस्तुओंका नहीं है, अपितु अन्तरङ्गमें 'यह मेरी है' ऐसा भाव रखना ही परिग्रह है। राग द्वेष और मोह परिग्रह ही हैं—इनका त्याग किये बिना पर का त्याग नहीं होता।

हम अपनी इच्छासे जो भोग भोगते हैं उनसे शरीरकी ही पुष्टि होती है। आत्मा पुष्ट नहीं होता।

धर्मसे हमें काम या अर्थकी सामग्री प्राप्त होती है। पर अर्थ तो अनर्थकी जड़ है और काम वैरी है अतः इनका कारण धर्म भी त्यागने योग्य है।

ज्ञानी पुरुष जो है वह न तो धर्मको चाहेगा और न अधर्मको।

इसी तरह उसके लिये खान-पान भी त्याज्य हैं पर कर्मोदयसे उसे सब भुगतना पड़ता है।

अर्थसे कभी संतोष प्राप्त नहीं होता। चक्रवर्तीके तो लाखों हजारों उपभोग्य वस्तुएँ होती हैं। लेकिन वे भी उन सबको छोड़कर दैगम्बरी दीक्षा धारण कर जंगलकी ओर प्रस्थान कर जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि ये सब चीजें सुख देनेवाली नहीं हैं।

इन पर पदार्थोंको ज्ञानी जीव ग्रहण नहीं करता इसलिये वह अपरिग्रही होता है। परिग्रह से शून्य होता हुआ और पर पदार्थोंके विकल्पोंको छोड़ता हुआ तथा अत्यन्त निरालम्ब होता हुआ ऐसा जो सम्यग्दृष्टि पुरुष है वह आत्माके सच्चे ज्ञान गुणको प्राप्त करता है।

फिर ज्ञानीके भोग क्यों होते हैं ? पूर्व कर्मके उदयसे उसे भोगना पड़ता है। परन्तु वह इन्हें ऋण समझकर चुकाता है। इनमें न तो राग करता है, न द्वेष करता है।

टीकमगढ़में एक बड़ा भारी व्यापारी था। उसके व्यापारमें एक गरीब आदमी साझेदार था। एक समय दुर्भाग्यसे उसे व्यापारमें एक लाख रुपयाका घाटा पड़ गया। गरीब आदमीने कहा कि हम तो ५० हजार चुकानेमें असमर्थ हैं पर इतना जरूर कहते हैं कि तुम्हारा पूरा रुपया चुका देंगे। उसने अपनी एक छोटी-सी दुकान खोल ली। साल भरमें उसे १२५) का लाभ हुआ। उसे वह उस सेठके पास जमा करने गया। सेठने कहा कि इस दुकानदारीमें कर्ज नहीं चुक सकता। एक वार और व्यापार कर लो। उसने उत्तर दिया—'अरे हम नहीं करेंगे एक बारका ५० हजार तो पहले चुका लें फिर दूसरा व्यापार करेंगे।'

सेठने कहा—'अबकी वार ऐसा करो। यदि नुकसान हो तो हमारा और यदि लाभ हो तो आधा कर लेंगे।' व्यापार किया सो

उसमें ३ लाखका लाभ हो गया। उस आदमीने अपना हिस्सा लेकर कर्जको व्याज समेत लौटा दिया। उसकी नियत साफ थी, उसमें किसी प्रकारका मैल नहीं था। इससे सब काम बन गया।

इसी प्रकार जब भी कर्मका उदय आवे शान्तिपूर्वक उसे सहन करना चाहिये। किसी प्रकारकी विकलता मनमें पैदा नहीं करना चाहिये।

ज्ञानार्णव—

कोई हमारी रक्षा करनेवाला नहीं है। ऐ प्राणी! संसारमें ऐसा कोई जीव है जो मरनेवाला न हो? नहीं सभी मरणको प्राप्त होते हैं। यम रूपी सिंहका पैर जहाँ पड़ जाता है फिर उसकी कोई रक्षा करनेवाला नहीं है। संसारमें कोई शरण नहीं है। सुर हो या असुर हो तन्त्र हो या मन्त्र हो, मरनेवाले जीवको कोई भी नहीं बचा सकता!

मृत्युका नाश कोई कर नहीं सकता, लेकिन जन्मका नाश तो कर सकता है। जब जन्मका नाश हो जावेगा तो मृत्युका अपने आप नाश हो जावेगा। परन्तु सबसे बड़ा दुर्गण हममें यह है कि हम अपनी कमजरी बताते हैं। जो काम तीर्थंकरने किया उस कामके करनेकी शक्ति हममें है। हम दिनरात आकुलता उत्पन्न करते रहते हैं कि अरे हमारा यह नष्ट हो गया, अरे! हमारा तो सर्वनाश हो गया। इस बातकी ओर कोई भी विचार नहीं करता कि 'इस संसार रूपी वनमें अनन्तानन्त पुरुष विलायमान हो गये हैं। तीर्थंकर तो बचे नहीं फिर हमारी क्या शक्ति है?'

राजगृहोमें जहाँ भगवान्‌ने जन्म लिया वहाँ एक कुटिया भी नहीं दिखाई देती। हम प्रयत्न करते हैं कि हमारा स्मारक बन जावे। सूर्य तककी तो तीन दशायें होती हैं। हमारी क्या होगी—सो सोच लो।

बड़े-बड़े देवादिक हैं वे तक तो यमसे किसीको बचा नहीं सकते। न तो देखा है और न सुना है कि किसीने यमको जीत लिया, नहीं तो उसीकी जाकर सेवा करते, पर ऐसा होता नहीं है।

जङ्गलमें भयङ्कर आग लगी हुई है और एक मनुष्य उसी जङ्गलमें एक वृक्षपर बैठा देख रहा है और चिल्ला रहा है कि वहाँ आग लगी, वहाँ आग लगी। पर वह यह नहीं सोचता कि थोड़ी देर बाद यहाँ भी आग लगनेवाली है।

इसी प्रकार हम संसारी जीव हैं। कहते हैं कि वह मर गया वह मर गया, पर यह नहीं सोचते कि एक दिन हमें भी मरना है। यमराज तो साम्यभाव रखता है वह न तो वृद्ध देखता है और न बालक ही देखता है।

जगमें दो ही शरण हैं—एक तो व्यवहारमें पंच परमेष्ठी और दूसरा शुभोपयोग। यथार्थमें देखा जावे तो हमारा कल्याण हमारे शुभोपयोगने ही किया। भगवान्ने क्या किया? बुद्धिका तारतम्य बड़ा होता है।

इस बुद्धिका ठेका तो किसीने ले नहीं लिया। स्त्री-पुरुष जो चाहे सो ज्ञानका आश्रय लेकर अपना कल्याण कर सकते हैं।

(सागर ४।४।५२)



सात

भैया! अफीमची अफीम छोड़ना चाहता है, पर वह आदतसे मजबूर है, वह उसे छोड़ नहीं सकता। कर्मोदयसे प्राप्त प्रत्येक वस्तुका समागम जीवको करना पड़ता है। जिस वस्तुकी इच्छा

हम करें वह प्राप्त नहीं हो सकती। सम्यग्दृष्टि अपने मनमें विचार करता है कि इच्छित चीज मिले तो आकांक्षा करे पर मिले ही नहीं तो आकांक्षा काहे को करे ?

कर्मके उदय आनेपर संक्लेश परिणाम मत करो, कर्म तो उपकारी है। विकारभाव तो द्रव्यके निमित्तसे होते हैं। शरीर पर है इसे हम अपना बनानेका प्रयत्न करते हैं। हम कहते हैं कि यदि वह तुम्हारी चीज है तो उसे रख लो पर ऐसा नहीं है वह सर्वदा स्थित नहीं रह सकता। आत्मामें जो खास चीज उत्पन्न होती है वह है रागद्वेष। ये विकार परिणाम हैं, वे आजावें कोई बात नहीं। उन्हें निकल जाने दो। संक्लेश परिणाम मत करो। जहाँ आकुलता है वहाँ सुख नहीं हो सकता। अच्छे या बुरे कामकी आकुलता दुख देती है, उसे छोड़ो।

तीर्थंकरकी कर्मोदयसे ६ घड़ी दिव्यध्वनि खिरती है तो उसको छोड़नेमें समर्थ नहीं तब हमारी क्या सामर्थ्य है ? कर्म खिर जाने पर विकल्प मनमें मत लाओ। ज्ञानी जीवके कर्म होता है पर वह परिग्रहको प्राप्त नहीं होता; क्योंकि उसमें रागद्वेष नहीं है। अज्ञानावस्थामें आत्मा कर्त्ता हो जाता है। सम्यग्दृष्टिके कर्तृत्व नहीं रहता है पर कर्मके उदयसे काम करता है।

"हर्रा लगे न फिटकरी रंग चोखा हो जाय।"

सो कैसे होवे सम्यग्दृष्टिके राग होता है न द्वेष।

ज्ञानी जीव स्वभावसे राग रहित होनेसे कर्ममें पड़ता हुआ भी परिग्रह भावको प्राप्त नहीं होता। पर द्रव्यके ग्रहणका भाव मिट गया इसीलिये परिग्रह प्राप्त नहीं होता। ज्ञानीके हृदयमें यह बात आ जाती है कि पर पदार्थ मेरे नहीं हैं।

कोचड़में पड़ा लोहा कीचड़ युक्त हो जाता है। औदयदिकको

छोड़ सम्यग्दर्शनको प्राप्त करो, इसी तत्त्वको ही ग्रहण करके मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

एक समय मच्छड़ भगवान्के पास अपनी फरियाद लेकर गये कि महाराज ! हमें बड़ा कष्ट है। हवा हमें यहाँ वहाँ उड़ा देती है। भगवान्ने दोनोंको हाजिर होनेके लिये आदेश निकाला, मच्छड़ बहुत खुश थे। आज उनका निर्णय होनेवाला था, बड़ी प्रसन्नतासे वे भगवान्के पास गये। थोड़ी देरमें हवा भी वहाँ आई सो मच्छड़ उड़ गये। अब निर्णय कैसे हो। मुकद्दमा खारिज कर दिया गया। इसी प्रकार क्रोध और क्षमाकी स्थिति है। लोग ऐसा कहते हैं कि क्रोध और क्षमाका वैर है पर वास्तविकता यह नहीं है। क्षमाके सद्भावमें क्रोधका अभाव सर्वमान्य है। जीव अचित्त सचित्त खाते हैं पर वे उस रूप परिणत नहीं हो जाते हैं। ज्ञान अज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञानी जीव भोग भोगता है पर बंधका कारण नहीं। बंधका कारण तो भोगोंमें आसक्ति बताई गई है। अगर तुम आसक्तिपूर्वक भोगोंको भोगोगे तो बँध जाओगे।

दो बहरे थे। दोनों गाड़रें चरा रहे थे। एक आदमी अपनी गाड़र दूसरेके जिम्मे करके खाना लेनेके लिये चला गया। वह लूली थी ! वहाँसे वह वापिस आया सो उसने कहा हम खाना ले आये हैं आओ खालो। तो दूसरेने कहा—हमने तुम्हारी गाड़रकी टांग नहीं तोड़ी हम अच्छी नहीं दे सकते। दोनों एक दूसरेकी बात समझनेमें असमर्थ थे इसलिये लड़ाई प्रारम्भ हो गई। इतनेमें वहाँ घोड़ावाला आया। दोनों ही उसके पास अपनी फरियाद लेकर दौड़े और अपनी-अपनी बात सुनाई परन्तु वह भी बहरा था। उसने समझा ये लोग कहते हैं, कि यह घोड़ा इनका है। उसने उत्तर दिया—यह तो हमारी घोड़ीका बच्चा है हमें क्यों चोरी लगाते हो ? अब वे जमीदार साहबके पास पहुँचे। वह भी बहरा था। रातको

उसकी और उसको स्त्रीमें लड़ाई हुई थी। उसने समझा कि ये हमारी लड़ाईके बारेमें कह रहे हैं, इससे उसने कहा—इसमें हमारी कोई गलती नहीं पटेलनने ही ज्यादती की है।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि बहरे हैं, वे एक दूसरेकी बात समझनेमें असमर्थ हैं। इनका बिल्कुल बनता नहीं। सम्यग्दृष्टि बन जाते तो सब काम बन जावे। सम्यग्दृष्टि किसी कर्मकी अभिलाषा नहीं करता। जिनकी अज्ञान चेतना मिट गई वह कर्मकी इच्छा काहेको करेगा?

(सागर ५। ४। ५२)



आठ

समयसार—

रागादिकसे बन्ध होता है। मुनिराजने विचार किया कि बन्धकी जड़ राग है। ये साम्यभाव करके राग छोड़ते हैं, ऐसे मुनिको नमस्कार है। जब कृतान्तवक्र सेनापति दिगम्बरी दीक्षा धारण करने लगा तो रामचन्द्रजीने कहा कि यह दीक्षा तो बहुत कठिन है तुम इसको कैसे सहन कर सकोगे? उसने उत्तरमें कहा कि जब तुमसे जिसका गहरा मोह था उसको छोड़ दिया तो हमें यह कोई कठिन नहीं मालूम पड़ती।

रागको जान करके हम प्रमादी बन गये हैं और जैसी चाहे क्रीड़ा करते रहते हैं। परन्तु ज्ञानके उदयमें ये सब नष्ट हो जाते हैं, रातको नाटक करते समय भले ही कोई काला आदमी अपने मुखमें पाउडर लगा ले और अंग्रेजोंका काम करे लेकिन जब सूर्यका प्रकाश दिनको होगा तब उसकी पोल खुल जावेगी।

ज्ञानीका भोजन आनन्द है, आकुलता नहीं। सहज अवस्थाको प्राप्त होता हुआ वह अनाकुल और निरापद हो जाता है।

धर्म सिद्धान्तके अनुसार ८ वर्षका बालक भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है और केवलज्ञानी हो सकता है।

अज्ञानताके कारण हरिण गर्मीके दिनोंमें चमकती हुई धूलमें जलकी कल्पना करता है और यहाँ-वहाँ दौड़ता फिरता है पर उसे जल नहीं मिलता। अज्ञानताके कारण रस्सीको हम साँप समझ लेते हैं सो कोई नुकसानकी बात नहीं। पर हम इष्टानिष्टकी कल्पना कर लेते हैं—यही नुकसानकी बात है।

एक मनुष्य था, उसके एक लड़का था। एक समय उसने हाथीके पैरसे दवता हुआ अपना लड़का देखा। यथार्थमें वह उसका लड़का नहीं था, पर उसे ऐसा भान हुवा कि यह मेरा ही लड़का है। ऐसा सोचकर वह मूर्छित हो गया। वहाँ उसका मित्र आया और सारी बात समझकर वह कुछ गुलाब जल लाया और साथमें उसके लड़केको लिवा लाया और उसकी मूर्छा दूर की। तो अज्ञानसे उसे मूर्छा नहीं आई, पर मोह होनेसे ही उसे मूर्च्छा आ गई थी। यदि मोह न होता और उसका लड़का भी दब जाता तो भी मूर्च्छा होनेका कोई कारण न था। संसारमें सबको मोह ही सताता है। इसलिये इस मोहको ही छोड़ना चाहिये।

एक धनी पुरुष अपने माल सहित जहाजमें जा रहा था दुर्भाग्यसे उसका जहाज फट गया और सारा माल डूब गया। वह पुरुष एक लकड़ीके सहारे एक किनारे पर पहुँचा। उसके पास खानेको तो कुछ नहीं था सो उसने सोचा कि चलो एक हुंडी लिखे देता हूँ और उसे शहरमें सकार लेता हूँ, सौ रुपया मिल जावेगा जिससे घर जानेका साधन वन जायगा। इसलिये उसने एक हुंडी लिखी और चूँकि कोई आदमी तो था नहीं इसलिये वह स्वयं ही

हुंडी सिकारनेको गया पर उसे कोई पहचानता नहीं था, अतएव किसीने उसे पैसा नहीं दिया।

उसके नगरको एक बैलोंवाला अपने बैल लेकर जा रहा था सो उसने खाने पर उसके यहाँ नौकरी कर ली और बर्तन वगैरह मलने लगा। जिस समय वह बर्तन मलता था उस समय उसके मनमें यही कल्पना थी कि मैं तो सेठ हूँ, जब नगरमें पहुँच जाऊँगा तब उसी प्रकार आनन्द उठाऊँगा।

इसी तरह हमारा तो विश्वास है कि हमें भेदज्ञान हो जावे तो हमें कितने ही उपद्रव आवें पर हम सोचते हैं कि हम तो मोक्ष जावेंगे। अरे और सब बातें छोड़ो सातवें नरकके भयानक कष्टोंका भी सामना करता हुआ वह नारकी जिसके सम्यग्दर्शन हो गया है यही विचार करता है कि हमें तो मोक्ष जाना है।

कोई पुरुष था सो उसने अपने शरीरमें तेलको लगाया फिर धूलमें जाकर कई प्रकारकी अस्त्र-शस्त्रकी क्रीडाएँ की तो उसके शरीरमें धूल लग गई। पर धूल लगनेका कारण न तो उसकी शस्त्र क्रीड़ा है और न धूल ही। धूल लगनेका मुख्य कारण उसके शरीरमें जो तैल लगता है, वही है।

इसी प्रकार मोहसे लिपटा हुआ मनुष्य जो अचित्त सचित्तकी बात किया करता है उसे उससे ही बन्ध होता है। दूसरे सम्यग्दृष्टि मनुष्य जो रागद्वेष मोहसे रहित हैं उनके कर्म करने पर भी बन्ध नहीं होता। अतः सिद्ध है कि उपयोगमें जो राग-द्वेष मोह है वही बन्धका कारण है।

एक गाँवमें एक औरत रहती थी वह बहुत ही वृद्ध थी, परन्तु उसका स्वभाव लड़ाकू था उसे बिना लड़े चैन नहीं पड़ता था विवश हो मुहल्लावालोंने निश्चय किया कि यदि हम लोगोंकी पारी बाँध ली जावे तो इससे एक-एक दिन लड़ लिया करेंगे।

एक दिन एक बुढ़ियाकी बारी लड़नेको थी इसलिए वह जल्दी जल्दी काम करने लगी। उसके यहाँ एक नव-विवाहिता बहू आई थी। उसने जल्दी काम करनेका कारण पूँछा। बुढ़ियाने कहा कि— उस लड़ंकूको आज हमसे लड़ना है, वह आ रही होगी। उसने सासुसे कहा कि तुम घबड़ाओ मत उससे हम लड़ लेंगे। सासुने बहुत रोका पर वह नहीं मानी। इतनेमें वह लड़ंकू आ गई। उसने आते ही कहा कि तैयार हो जाओ लड़नेको। बहूने जवाब दिया अरी तुझ भूखीसे क्या लड़ूँ, जा पहले अपना पेट भर आ। भूखे पेट नहीं लड़ा जाता है। कुछ उसका ऐसा रोब जमा कि वह भोजन करनेको लौट गई। वह फिरसे पहुँची। उस बहूने कहा कि दुर्मुखे! बता तुझसे कौन-सी लड़ाई लड़ूँ? दो महिनेवाली कि चार महिनेवाली कि छः महिनेवाली या कि बारह महिनेवाली या जिन्दगी भरकी, कौनसी लड़ाई लड़ूँ?

वह भौचक्की-सी रह गई। और उसने पूँछा कि यह कैसी लड़ाई है। अभी तक तो मैंने इस लड़ाईका नाम भी नहीं सुना। बहूने उत्तर दिया कि दो माहमें तो मका पैदा हो जाता है। चार माहमें धान पैदा हो जाती है। छह माहमें गेहूँ हो जाता है और साल भरमें अरहर पैदा होती है। यदि जिन्दगी भर लड़ना चाहती हो तो मेरी सौत बन जाओ सो जिन्दगी भर लड़ती रहना।

वह ता हार गई और हाथ जोड़कर वापिस घरको चली गई।

उपयोगमें जो रागादिक हैं वे ही बन्धके कारण हैं। जो मनुष्य तेलके निमित्तसे धूल रूपी बन्धको प्राप्त हुआ था यदि वह अपने तेलको बिल्कुल साफ कर ले और फिरसे वे ही सब व्यापार करे

तो उसे धूल नहीं लगेगी। इसी प्रकार यदि हमारे उपयोगमें से मोह निकल जावे तो हमारे लिये बन्ध न होगा।

सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टिके समान सब काम करता हुआ बन्धको प्राप्त नहीं होता। इसका मूल कारण उसके रागका न होना ही है।

आदिनाथ वर्तमान कालके २४ तीर्थंकरोंमें से प्रथम तीर्थंकर थे। उन्होंने अपने लड़कोंको गोदमें खिलाया। विषय सेवन किया। चार गुणस्थानके बाद उनको बन्ध नहीं हुआ तो हमने क्या गल्ती की जो हमें होगा ?

कोरी अन्तमें कपड़ा बुनते समय छीरा छोड़ता है पर हम अपना सारा जीवन विषय भोगोंमें खर्च करना चाहें तो…?

सम्यग्दृष्टिके बन्ध नहीं होता पर यदि वह इच्छा करके काम करने लगे तो उसे भी बन्ध शुरू हो जावेगा। इसलिये मोह छोड़ना ही चाहिये।

'पर जीवको मैं मारता हूँ पर जीव मुझे मारते हैं।' यह अध्यवसान भाव जिसके होता है वह ही कर्म बन्धको प्राप्त करता है।

आयुका क्षय हो जाता है तो मरण हो जाता है। न तुम किसीको मार सकते हो, न किसीको जिला सकते हो। ये तो पर्यायें हैं जो नष्ट हो जाया करती हैं। यथार्थमें जीव तो मरता नहीं है।

अज्ञानी ही यह समझता है कि हमारी कृपासे ये प्राणी सुख पा रहे हैं, जी रहे हैं।

मैना सुन्दरीके पिताने जब पूछा कि तुम किसके भाग्यसे जीवित हो ? तो सबने तो यही उत्तर दिया कि आपके भाग्यसे, लेकिन मैना सुन्दरीने कहा कि हम तो अपने भाग्यसे जीवित हैं। इसपर वे बहुत क्रोधित हुए और उसका एक कोढ़ीके साथ विवाह कर दिया। मैना सुन्दरीका दृढ़ विश्वास था कि यह सब पापके उदयका निमित्त है। जब पुण्यका उदय होना होगा इष्टकारी वस्तुओंका समागम हो जायगा। सिद्ध चक्रविधान किया। पापोंका क्षय हो

गया पुण्यका उदय आ गया, तथा सव इष्टकारी वस्तुए मिल गईं। श्रीपालका शरीर कंचन सरीखा सुन्दर हो गया।

हमारे ही आँखों देखी एक वात है। खुर्जामें एक मुसलमान था उसके एक लड़की थी। उसका निकाह एक मुसलमानके साथ पढ़ाया गया। दुर्भाग्यसे उसे कोढ़ हो गया। लड़कीके पिताने लड़कीको दूसरा निकाह पढ़ानेको वहुत समझाया पर जब वह तैयार न हुई तव उसके पिताने उसे अपने घरसे वाहर निकाल दिया। वह लड़की अपने पतिके साथ गाँवके वाहर रहने लगी और उसने हिंसा करना और मांस खाना छोड़ दिया। हिन्दुओंके यहाँसे वह भीख माँगकर लावे और अपने पतिकी सेवा करे। उसके अच्छे दिन आये जिससे उसका कोढ़ ठीक हो गया फिर कुछ चन्दा करके उसने दुकान की। आज वही ५० हजारका गृहस्थ है।

तो जव पापका उदय आता है तव दुख देनेवाली सामग्री अपने आप उत्पन्न हो जाती है हममें दूसरा कोई कर्तृत्व शक्ति नहीं रखता।

छः माह तक आदिनाथको आहार नहीं मिला, इसमें दुःखी होनेकी क्या आवश्यकता? संसारका यही तो ठाट है। आयुका उदय है सो जीता है और जव आयुकर्म समाप्त हो जावेगी सो कोई भी न बचा सकेगा।

धर्मानुरागके कारण मुनियोंने शास्त्रोंकी रचना की, मोह सब कुछ करवाता है और हम कहते हैं कि हम कर रहे हैं, यह ही हमारी भूल है।

एक समय हम यहाँसे वनारस जा रहे थे। रास्तेमें एक शिकारी मनुष्य मिला। कुछ चर्चा छिड़ गई तो मैंने उससे अहिंसाके बारेमें वातचीत छेड़ी पर वह उसे न रुची। मैंने उससे उस दिनके लिये शिकार छोड़नेके लिये कहा पर उसने उसे स्वीकार नहीं किया।

और वह वाँदकपुर स्टेशन पर उतर गया। जव हम वनारससे एक वर्ष बाद लौटे तो कटनी स्टेशन पर वही आदमी फिरसे मिल गया। उसने कहा कि अहिंसाकी चर्चा छेड़ो। मैंने कहा—तुम सुनते ही नहीं, मानते हो नहीं, तुम्हें नहीं सुनाते।

अन्तमें उसने अपनी सारी कथा सुनाई कि उस दिन हम यहाँ से जंगलमें गये पर हमें शिकार नहीं मिला तो घर जाकर अपनी स्त्रीसे कवूतर मारनेको कहा पर उसने अस्वीकार कर दिया। फिर उसने ववरचीसे कहा उसने भी मना कर दिया। फिर उसकी हिम्मत नहीं पड़ी कि यह अपने हाथसे कवूतरको मार दे। इस प्रकार आज एक वर्ष व्यतीत हो गया, पर हमने शिकार नहीं किया। इसलिये आज शिकार न खेलनेकी प्रतिज्ञा लेता हूँ।

पाप छोड़ दें तो हमारा कल्याण हो जावे। पांच पाप छोड़ना चाहिये।

वाह्य वस्तु वन्धका कारण नहीं, जीवका उपयोग ही वन्धका कारण है।

यदि ऐसा हैं कि वाह्य वस्तुसे वन्ध नहीं होता तो वाह्य वस्तुओंको छोड़नेका उपदेश क्यों देते हैं?

अध्यवसाय भाव विना पर पदार्थोंके नहीं हो सकता। बाह्य वस्तुका आश्रय तो लेना ही पड़ता है।

पंच समितिसे मुनि यदि चर्चा करे तो उसे वंध नहीं होता भले ही उससे किसी जीवका हनन हो जावे।

ज्ञानार्णव

भव रूपी जो मरुस्थल है इसमें नाना प्रकारके दुख मौजूद हैं। आचार्योंका तात्पर्य यह है कि तुम अकेले ही हो, तुम्हारे कर्मोंके फलको तुम्हीं भुगतनेवाले हो।

दो आदमियोंमें अधिक मित्रता थी। उन्होंने यह निश्चय किया था कि हम साथ ही त्यागी होंगे। जब एक आदमीने दूसरेसे कहा कि चलो हम त्यागी होनेके लिए तैयार हैं; इस पर उसने कहा कि थोड़ी सी कसर रह गई। इस प्रकार वह हर समय कह देता था। वह त्यागी मर कर स्वर्ग गया। परन्तु वह फिरसे उसके पास आया और उसने त्यागव्रत धारण करनेके लिये अपने मित्रसे कहा। उसने फिरसे वही उत्तर दिया कि अभी थोड़ी-सी कसर रह गई है।

देवने कहा—हम तुम्हारी कसर थोड़ी देरमें निकाल देते हैं, तुम थोड़ा-सा काम करो। बीमार बन जाओ एक दिनके लिये।

देवके कथनानुसार वह बीमार पड़ गया। घरमें बड़ा तहलका मच गया। डाक्टर और वैद्य बुलाये जाने लगे। देव वैद्यका रूप धारण करके वहाँ आ गया। उसने उस कमरेसे सबको बाहर कर दिया और थोड़ासा दूध और एक सिगड़ीमें अग्नि मंगाई। उस दूधको अग्नि पर तपानेको रख दिया।

इसके बाद उसने पूछा—तुम बताओ तुम्हारा सबसे प्रिय कौन है। उसने उत्तर दिया कि हमारी माता हमें चाहती है।

तदनन्तर उसने माताको बुलाया। और कहा, माताजी तुम्हारे लड़केकी तबीयत अभी ठीक हो सकती है, यदि तुम यह दवाई सहित दूध पी डालो। परन्तु इससे तुम्हारा स्वर्गवास अभी हो जावेगा।

माताने कहा—हमारे तो तीन लड़के और हैं यदि यह न रहेगा तो हमारी सेवा तो दूसरे कर लेंगे। इस प्रकार उसने पिता-पत्नी आदि जो भी उसके प्रिय थे सबको बुलाया परन्तु उसके पीछे मरनेको कोई तैयार नहीं हुआ।

अब उसे ख्याल आ गया। मनुष्यकी कसर तो कभी पूरी नहीं हो सकती और यदि आज दृढ़ निश्चय कर लें तो फिर कोई कठिन बात नहीं।

अपने स्वरूपको न जान करके और पर पदार्थको ग्रहण करके हम यह सब कष्ट भुगत रहे हैं। हमारा साथ देनेवाला कोई नहीं है।

जब हमने एकत्वपनेको प्राप्त कर लिया तो हमने ही मोक्ष प्राप्त कर लिया। कोई भी हमारा भला बुरा करनेवाला नहीं है। हमें अपनेको ही देखना चाहिये। एक आदमी स्वर्ग जाता है, और एक नरक में जाता है; एक अकेला शोकादि करके कर्मबंध करता है और एक ज्ञानी पुरुष कर्मको नाश करके केवलज्ञान प्राप्त करता है। जो जैसा काम करेगा वही उसके फल भुगतेगा। तुम्हारे हाथकी बात है जो इच्छा से हो सो पर्याय धारण कर लो।

परमार्थसे विचार करो तो आत्मा एक है। वह कर्मके निमित्तसे ही बंधयुक्त हो रहा है, यह बंध मिटे तो मोक्ष हो जाय।

(सागर ६।४।५२)



नौ

समयसार

अध्यवसान भाग जो होगा सो वस्तुको प्रतीत करके होगा। संसारमें सिर्फ एक वस्तु है जिसे भोगा जा सकता है। वह है पुद्गल। पाँच इन्द्रियोंके विषय पुद्गल ही हैं। मैं किसीको सुख पहुँचाता हूँ दुख पहुँचाता हूँ मारता हूँ जिलाता हूँ—ये सब आकाशके कुसुमके समान असत्य हैं। हम क्या करें हमारा भाई तो मानता नहीं, कुटुम्ब मानता नहीं, नहीं तो हम यह सब त्याग कर देते। अरे उन्हें मनानेसे कुछ न होगा। तुम स्वयं मान जाओ तो सब काम बन जावेगा। देखो तो हम कैसी २ इच्छाएँ करते हैं, यदि वे इच्छाएँ पूरी हो जातीं तो कोई बात नहीं थी पर वे इच्छाएँ तो पूरी होती नहीं हैं।

रागद्वेष मोह न होवे तो बंध नहीं हो सकता। भले ही सब प्रकारके कर्म करना पड़े। लोग कहते हैं कि हमारी सब वातें मानते हैं पर हम कहते हैं कि त्यागी हो जाओ तो इस वातको कोई नहीं मानता। हमारी क्या वात है हम तो छद्मस्थ हैं। सर्वज्ञ भगवान की सव ही वात मानें—ऐसा तो कोई नियम नहीं है।

हम कहने लगते हैं कि यह कलियुग है इसमें तो इतनी शक्ति नहीं रहती कि सम्यग्दर्शन धारण कर सकें। क्या हो गया यदि हम शरीरके छोटे हो गये। कोई सबसे छोटा पुरुष होगा तो क्या उसे सम्यग्दर्शन नहीं होगा—ऐसा कोई नियम है? संज्ञी पंचेन्द्रिय होना चाहिये। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की शक्ति सबमें है। मनुष्योंको तो ठीक—हाथी—कुत्ता वन्दर सब ही सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं।

कोई किसीका कुछ विगाड़ नहीं सकता। जैसा तुम बनना चाहो वैसा काम करो। तुम काम करो दूसरा और अच्छी पर्याय लेना चाहो, यह तो हो नहीं हो सकता।

झाँसीकी वात है। एक १०-१२ वर्षका लड़का था। उस समय वहिष्कार आन्दोलन हो रहा था। सव आदमी जंगल कानून तोड़नें पर लगे हुए थे। वह लड़का भी एक कुल्हाड़ी लेकर जंगलकी ओर जा रहा था। रास्तेमें उसे एक कप्तान मिला—'उसने पूँछा कि तुम कहाँ जा रहे हो?'

उसने उत्तर दिया कि क्या तुमको दिखता नहीं। हम तो जंगल काटने जा रहे हैं। कुल्हाड़ी हाथमें है।

उसने फिरसे पूँछा कि 'जंगल काटनेसे क्या मिलेगा?'

उत्तरमें उस लड़केने कहा—'यह बात वड़े नेताओंसे पूछो;' हमसे क्या पूछते हो? हम तो वैसा ही करेंगे जैसा वे सब कहेंगे।

उस कप्तानको गुस्सा आ गया और उसने एक थप्पड़ जोरसे उसके गाल पर मार दिया। लड़केने कहा—'शान्ति, शान्ति,

शान्ति।' इस प्रकार उसने ३–४ चांटे लगाये। उतने ही बार उसने शान्ति शान्ति शब्दोंका उच्चारण किया।

अफसरने कहा—'तू बड़ा नालायक है।'

लड़केने शान्ति पूर्वक उत्तर दिया—'तुम क्रोध करते हो और मैं शान्ति रखनेके लिए कह रहा हूँ और आप मानते नहीं। अब कौन जाने नालायक कौन है'?

अफसर उसके उत्तरोंसे बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और उसने कहा—'अच्छा तुम्हें क्या चाहिये सो माँगो। लड़का था उसने कहा—'तुम कुछ दे नहीं सकते हो। नौकर हो। ४००–५०० रुपये मिलते होंगे। १००–२०० रुपया दे दोगे सो हमें चाहिये नहीं और हमें जो चाहिये है सो तुम नौकर होनेसे दे नहीं सकते। रहने दीजिये हमें कुछ नहीं चाहिये।'

उस कप्तानने नौकरी छोड़ दी और विलायत चला गया। सो यदि आत्मा निर्मल हो तो असर अवश्य पड़ता है। छोटे बड़ेका कोई प्रश्न नहीं।

यदि अग्नि राखके भीतर हो तो जो चाहे उसके ऊपर लात रखता हुआ चला जाता है। अंगारे पर कोई लात नहीं रखता। हम ही हिंसक हैं हम ही चोर हैं और यदि हम चाहें तो अपरिग्रही होकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

हम लोगोंको उचित है कि अब हम अपनी ओर देखें। हम जयन्ती मनानेके लिये पर्याप्त खर्च करते हैं लेकिन अपनी ओर देखते नहीं। महावीरके रास्ते पर चलना था सो चलते नहीं।

लोग कहते फिरते हैं कि जैनोंके ऊपर सबकी बुरी निगाह है पर हम कहते हैं कि तुम्हारी खुदकी तुम्हारे ऊपर बुरी निगाह है। तुम शुभास्रव करो तो देव हो जाओ सो वह आस्रव हमने अपने उपयोगसे ही किया, भगवानने क्या कर दिया? हमने ही तीव्र

कषाय कर अपनी आत्माको पापी वना लिया। तुम्हीं धर्मका ज्ञान कर लो तुम्हीं अधर्मका ज्ञान लो। ज्ञानके ही कारण यह सब कार्य चल रहा है। विना ज्ञानके तो कुछ हो ही नहीं सकता।

तुम संसारको जानते, हो संसारमें स्थित वस्तुओंको जानते हो, और तुम्हीं मोहको जाननेवाले हो, पर तुम सबसे भिन्न हो। हमारेमें मोह है यदि यह छूट जावे तो संसार छूट जावे। नग्न होनेसे कोई लाभ नहीं यदि अन्तरङ्गका मोह न छोड़ा। मोहसे ही संसारमें सुख दुखकी माया फैल रही है।

छठवे गुणस्थान तक व्यवहारमें सब उपदेश है, शास्त्र रचना है इसके वाद सातवें गुणस्थानसे लेकर १०वें गुणस्थान तक आत्मा और ज्ञानका ही मनन है। १३वें गुणस्थानमें केवलज्ञान हो जाता है पर वचनयोग होनेसे जगत्के कल्याणके हेतु दिव्यध्वनि खिरती है।

मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति और कषाय जो हैं वे आत्माका वन्ध करनेवाले हैं। ये सव मिट जावें तो कल्याण हो जावे।

मैं इसकी हिंसा करता हूँ यह अध्यवसान भाव है। आत्माको न कोई मारनेवाला है और न कोई जिलानेवाला है, आत्माके अन्दर ज्ञान गुण मौजूद है वह हमेशा उसके साथ रहता है।

रागादि जो क्रियायें हैं वे आत्मासे भिन्न हैं। इनका विशेष ज्ञान नहीं हुआ, इसलिये संसार है। पेड़ामें खोवा और शक्करका स्वाद अलग-अलग है पर हम उसे एकरूप समझ रहे हैं।

जो बन्धके निमित्त हैं उन्हें जिन्होंने छोड़ दिया वे ही यति हैं। आनन्द आत्माकी वस्तु है वह तुम भी प्राप्त कर सकते हो। ज्ञानमें परपदार्थ झलकते रहते हैं उसमें कोई आनन्द नहीं। आनन्दकी जड़ मोहका अभाव है। उसीको लानेका प्रयत्न करो।

जाननेमें क्या धरा है—हमने जान लिया। परन्तु उनमें राग द्वेष करना ही बिगाड़का कारण है।

आचार्योंने सब तैयार कर रखा है—आपको खाना ही है। जो दौलतरामजीने कह दिया उससे आगे भगवान क्या कहेंगे?

'आतम के अहित विषय कषाय—
इनमें मेरी परिणति न जाय।'

तुम तो टससे मस नहीं होना चाहते, कल्याण कैसे होवे? मन्दिरके बाहर जाते हो सो सब भूल जाते हो।

आत्मा तो निश्चित है, पराश्रित तो अध्यवसान है। जरा इस तरफ दृष्टि करो। यदि अभिप्राय निर्मल नहीं और तप वगैरह करें तो संसारसे नहीं छूट सकते। मोक्षकी श्रद्धा नहीं होती बाह्यकी ही श्रद्धा होती है। इसीसे वह उस ओर लगनेसे असमर्थ रहता है। मन्दिर का फल शुभोपयोग नहीं होना चाहिये। दृष्टि रखो कि संसार कटे। तुम्हारी दृष्टिको तो मोक्ष प्राप्तिकी ओर लगना चाहिये। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही पूजन करते हैं। राग दूसरी जगह न जावे इसलिये सम्यग्दृष्टि धर्मकार्यमें व्यतीत करता है। लौकिक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिए धर्म कार्य नहीं हैं।

कर्मोंका बन्ध तो कषाय से होता है। मन दुष्ट है ऐसा लोग कहते हैं। मन कोई बुरी चीज नहीं, कषाय बुरी चीज है। इन्द्रियाँ क्या बुरी हैं, यदि हैं तो उन्हें जीतनेका प्रयत्न करो। तुम कहते हो कि पुद्गल मिट जावे तो हमारा कल्याण हो जावे—यह झूठ है। वस्तुओंके नष्ट हो जानेसे कषाय थोड़े ही नष्ट हो जाता है?

कलका दिन बड़ा महत्त्वपूर्ण है, पवित्र है। महावीर स्वामीने अपना अन्धकार दूर कर दिया पर यह सब हम व्यवहारमें कहते हैं। यदि बड़े बनना चाहते हो तो अपना अन्धकार मिटा दो। दूसरोंके अन्धकार मिटानेसे महान् कभी नहीं बन सकते।

(सागर ७ । ४ । ५२)

दस

"यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचितः
समं भान्ति ध्रौव्यव्ययजनिलसन्तोऽन्तरहिताः
जगत्साक्षी मार्गप्रकटनपरो भानुरिव यो
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ।।'

आज महावीर स्वामीका जन्म दिन है। प्रातःकालसे ही मेघ वर्षाके कारण सव प्राणियोंके हृदयमें शान्ति आ गई है। पंडित लोग ही तो पत्थरमें देव वनाते हैं, कहो तो मेघको पढ़ा दें। मनुष्योंको यदि ये ऋषि वना दें तो कोई वड़ी वात नहीं। महावीर स्वामीके जन्म समय पर नारकी भी कुछेक क्षणके लिये प्रसन्न हो जाते हैं; यदि हम ऐसे अवसरको प्राप्त करके वासनाका त्याग न कर सके, भाई भाईको सुखी व प्रसन्न न कर सके—तो हमारे जीवन को धिक्कार है।

मनुष्य को इस संसारमें नानाप्रकारके दुखोंको भुगतना पड़ता है। दुख दूर करनेके लिए मनुष्य विषयोंकी तृप्तिमें लगे रहते हैं। वर्णीजी तो कुछ नहीं, भगवानकी वाणी तो सव कुछ है। विषयोंके सेवनमें शान्ति तो कुछ मिलती नहीं—यह तो सब जानते हैं। और इन्हीं के सेवनसे हमें संसारकी व्याधि घेरे रहती है इस बातको भी सब जानते हैं पर सुनते नहीं। अब कार्य कैसे हो। अनादि अनन्त आत्माके स्वरूपको न सुना और न पाया, इससे हम दुखी हो रहे हैं।

महावीर स्वामीने संसारसे छूट अपना कल्याण किया—हमारा क्या। यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो अन्तरङ्गकी कलुषता छोड़ो और फिर महावीर स्वामीकी पूजन करो। उन्हींके शब्दोंको धारण करो, तब ही कल्याण होगा।

सागरका संस्कृत विद्यालय, महिलाश्रम और उदासीनाश्रम तीन संस्थाएँ ५००० जैन जन संख्यावाले स्थानमें हैं। एक मकान स्कूलका न वना सके उसके विना शहरकी शोभा क्या ? सागरमें महावीर स्वामीके जन्म दिवसको मनानेके लिए ५००० मनुष्य हैं। यदि एक एक आदमी सिर्फ आधी रोटीको वचावे तो सहजमें २५०० रोटी हो जावें जिससे ५०० लड़के पढ़ सकते हैं। लेकिन करें क्या उस ओर इनका ध्यान नहीं। ये तो अपने आपसके झगड़ोंमें पड़े रहते हैं। यदि हृदयके अन्दरकी कलुषता दूर न हुई तो फिर हमने किया ही क्या।

हमारी तो यह प्रार्थना है कि ये दोनों दूध पानीके समान मिल जाते। जव दूधमें से पानी जल जाता है तो देखिये कितना उफान दूधमें आता है। परन्तु जैसे ही उसमें पानीके छींटें दिये जाते हैं, वह अपने मित्रको पाकर शान्त हो जाता है। आप लोग भी भीतरकी कषाय निकालकर इसी तरह हो जाओ।

महावीर स्वामीने तो ७२ वर्षकी अवस्थामें अपना कल्याण कर लिया था पर हम ८०-८० वर्षके वूढ़े हो गये तो भी आत्माके कल्याणकी ओर ध्यान ही नहीं देते।

हम तो यह कहते हैं कि अंग्रेजी पढ़नेमें उसका कोई दोष नहीं, मनुष्यका ही दोप है। यदि यह वात होती तो मास्टर टीकाराम क्यों ७५) में फूलमाला खरीदते।



ग्यारह

समयसार—

ज्ञानका जो पुञ्ज है वह स्फुरायमान है अर्थात् विकासको प्राप्त होता है। वह ज्ञान अचल, टङ्कोत्कीर्णके समान स्थिर है।

आत्मामें बन्ध और मोक्षकी कल्पना सामान्यकी अपेक्षा नहीं की जाती परन्तु जब विशेषकी अपेक्षा पदार्थका निरूपण करना होता है उस समय बन्ध और मोक्ष दोनोंका समावेश करना पड़ता है।

जिस प्रकार स्वप्न झूठा होता है परन्तु उस झूठेपनसे यह निश्चय किया जाता है कि स्वप्नकी यह स्थिति है। इसी प्रकार जैनधर्मके सिद्धान्तके अनुसार जो मिथ्याज्ञान होता है उससे सिद्ध होता है कि आत्माके साथ ज्ञानका तादात्म्य सम्बन्ध है जो मिथ्यारूप परिणत है। यदि वह पर्याय मिट जावे तो शुद्ध टङ्कोत्कीर्ण ज्ञान प्रगट हो जावे। यदि ज्ञानके सद्भावका ही निषेध किया जावे तो मिथ्याका आरोप किस प्रकार सिद्ध किया जा सकेगा?

कर्त्तृत्व या भोक्तृत्व जितने भी भाव हैं वे ज्ञानसे रहित हैं। ये अज्ञानावस्थामें ही होते हैं। आत्माका कर्त्तापना स्वभाव नहीं है, उसका स्वभाव तो ज्ञायक भावसे पूर्ण है। यह ज्ञान न तो कर्त्तापनमें परिवर्त्तित हो सकता है और न कर्त्तापन ज्ञानमें परिवर्तित हो सकता है। ज्ञान ज्ञान रहेगा और पदार्थ पदार्थ रहेगा। द्रव्य कभी परिवर्तशील नहीं है पर पर्याय उसकी बदलती रहती है। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त है। जिसमें ये तीन पर्याय न हो सकें वह पदार्थ ही नहीं कहा जा सकता।

चेतना तीन प्रकारकी है। ज्ञान चेतना, कर्मचेतना और कर्म फल चेतना। इसके सिवाय चौथा परिणमन कोई भी नहीं है।

अज्ञानचेतनामें आत्मामें कर्त्तापनका आभास होता है। क्रोध हो जाता है, पर वह आत्माकी चीज नहीं है क्योंकि यदि वह आत्माकी चीज होती तो वह आत्माके साथ रहती पर वह आत्माके साथ कभी रहती नहीं है। आत्माका ज्ञायकभाव है जो हमेशा उसके साथ रहता है।

तीन मनुष्य थे। वे बाजारको निकले। एक मनुष्य घट (सोने का) खरीदना चाहता था। दूसरा आदमी सोनेका मुकुट खरीदना चाहता था और तीसरे आदमीकी इच्छा सोने खरीदनेकी थी।

एक स्वर्णकारके पास सोनेका घड़ा था। वह अधिक दिनसे बिका नहीं था, इसलिये वह उसे तोड़कर मुकुट बनानेका प्रयत्न करने लगा। तीनों आदमी इसके पास अपनी २ इच्छित वस्तुएँ खरीदने आये। जो घटका अर्थी था उसे दुख हुआ। जो मुकुटका अर्थी था उसे हर्ष हुआ तथा जो स्वर्णका अर्थी था वह न सुखी हुआ और न दुखी हुआ।

पर्यायकी अपेक्षा वस्तु परिणमनशील है।

जीवके जितने परिणाम हैं वे जीवके ही होंगे। आत्मा न तो किसीसे उत्पन्न हुआ और न किसीको उत्पन्न करनेमें समर्थ है।

संसारी जीवकी जितनी पर्याय होती हैं वे कर्मोदयसे होती और जीव हमेशा ही रहता तथा उसका जो ज्ञानमय स्वभाव है वह भी उसके साथ हमेशा रहता। क्रोधी होना शान्त होना ये तो पर्यायें हैं आत्माके स्वभाव नहीं।

पुराने समयकी बात है कि एक स्त्री कुआँमें जीवानी डालनेके लिये गई, तथा उसकी जीवानी गलतीसे जमीन पर गिर गई। इस पर उसे काफी दुख हुआ और वह मुनिके पास प्रायश्चित लेनेके लिये गई। मुनिने कहा कि यदि तुम्हारे यहाँ असिधारा व्रतधारी युगल भोजन कर लेगा तो तुम्हारा पाप कट जावेगा। उस स्त्रीने मुनिसे पूछा कि हमें ज्ञात कैसे हो कि ये असिधारा व्रतधारी हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया कि तुम अपने चौकेमें एक नीला चंदोवा बाँध लो, जब वह सफेद हो जावे तब समझना कि हमारे यहाँ असिधारा व्रतधारीका भोजन हुआ है।

उस दिनसे वह भोजन कराने लगी। कई मुनियोंको और अन्य मनुष्योंको उसने खाना खिलाया पर उसका चंदोवा नीलाका नीला हो रहा आया। एक समय एक स्त्री पुरुष उसके घर जीमने आये और उनके जीमते ही वह चंदोवा सफेद हो गया। तव उस स्त्रीने उन लोगों से असिधारा व्रतधारी होनेका मतलब पूछा। तो पुरुषने उत्तर दिया कि जब हम दोनोंकी शादी नहीं हुई थी उस समय आर्यिकासे मेरी स्त्रीने कृष्णपक्षमें ब्रह्मचर्यसे रहनेकी प्रतिज्ञा ली थी तथा मैंने मुनिसे शुक्लपक्षमें ब्रह्मचर्यसे रहनेकी प्रतिज्ञा ले ली थी। अब हम दोनों निर्विकिल्प होकर रहते हैं।

कहनेका तात्पर्य यह है कि परिणाम शुद्ध होनेमें किसी विशेष गुणकी आवश्यकता नहीं होती है। हममें से ही तो वे थे। तीर्थङ्कर भी हममें से ही हुए हैं। फिर हम अपनी कमजोरी क्यों बताते हैं ?

जीवका जो तादात्म्य भाव ज्ञान है वह जीवके साथ हमेशा रहता है। पर्याय दृष्टिसे आत्मा कभी तिर्यञ्चमें कभी देवमें और कभी मनुष्यमें जन्म लेकर उसके प्रतिरूप शरीरको धारण करता रहता है।

पुद्गल और आत्मा एक क्षेत्रावगाह हो रहे हैं। आत्माका जो स्वरूप ज्ञायक भाव था व कर्मोदयसे रागद्वेष मोह युक्त हो रहा है। रागद्वेष कर्मोके कारण होते हैं। रागमें राग या द्वेष करनेसे फिर कर्म वन्ध होता है, कर्म बन्धसे चारों गतियोंमें परिभ्रमण करना पड़ता है। जीवके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप परिणित हो जाते हैं। पुद्गलके निमित्तसे आत्मामें रागद्वेष आदि उत्पन्न होते रहते हैं— ये सब मिट जावें तो संसार मिट जावे।

गयामें अवस्थी नामके एक आदमी थे। उनकी २५०००) सालानाकी आमदनी थी। परन्तु वे बिल्कुल भी दान नहीं करते थे। घर भरापूरा था। लड़का था वहू थी। कुछ लोगोंने कहा कि

तुम्हें कुछ दान करना चाहिए। उसने पूछा कितना दान देवें। उन्होंने उत्तर दिया ५०००) दे दो। उसने ५०००) दान किया। दुर्भाग्यसे उसका सारा घर उजड़ गया। घरमें अव सिर्फ उसकी विधवा वहू रह गयी। उसने सव परोसियोंको वुलाया और कहा कि हम अपनी सम्पत्तिका दान करना चाहते हैं। उन्होंने उत्तर दिया हमें इसमें कोई भी एतराज नहो। आप जो करना चाहें करें। उसने अपनी सम्पत्तिका वसीयत कर दिया। १२ हजार गरीव विद्यार्थियोंकी फीसको दिये। इस प्रकारसे सारा धन दानमें दिया। पर अपने लिये व वहूको एक लाख रुपया और जेवर वगैरह कुछ वचा लिये।

इस दानके उद्‌घाटनके लिये लाट साहव पधारे हुए थे। वहू उस सभामें आगयी। उसने कहा—'हमारा पति मर गया अव तो सारा परदा मिट गया। हमारे तो ब्रह्मचर्यका भाव है इसलिए मेरे तो सव भाई पिता हैं।' उस सभामें उसने लाट साहवसे कहा—'तुममें विवेक नहीं है। हम अव क्या जेवर पहनेंगे, हमें जेवरकी क्या आवश्यकता है और न हमें एक लाख रुपया ही चाहिये। ये साराका सारा दानमें दे दो। हम और हमारे ससुर साहव भगवान-का भजन करेंगे।'

कहनेका तात्पर्य है कि इतनी वुद्धि उस वहूको कहाँसे आ गई जो परदेमें रहनेवाली वेखटके सभामें आ जावे एवं विवेकपूर्ण भाषण दे। लोभ वगैरहका त्याग करे। आत्माका आनन्द आ गया। लक्ष्य आकुलता मिटानेका होना चाहिये। सम्यग्दृष्टि विषयमें आनन्द ले लेवे और हम तपसे भी आनन्द न ले पावें। कषायकी मन्दता और तीव्रताका फल है।

(सागर ११।४।५२)

बारह

संसारकी परिस्थिति इस समय अत्यन्त भयङ्कर और दयनीय हो रही है। परिग्रह पिशाचके आवेगमें मानवने दानवका आश्रय ले लिया है। लाखों निरपराध व्यक्तियोंकी निर्मम हत्या हो रही है। करोड़ोंकी सम्पत्ति अग्निदेव द्वारा भस्म हो चुकी। हजारों मकानोंको श्मशान बना दिया! कहते क्या हैं? ऐसा स्वराज्य आज तक संसारमें किसीने नहीं पाया जो बिना लड़ाई किये ही मिल गया। ऐसा इतिहासमें कोई भी दृष्टान्त नहीं है। परन्तु यह भी तो दृष्टान्त इतिहासमें नहीं मिलता कि राज्य मिलनेपर इतनी हत्याएँ निरपराधियोंकी हुई हों। इससे यही सिद्ध होता है कि आजकलके मनुष्योंके हृदयमें धार्मिक शिक्षाका बिलकुल अभाव है। यह आजके विज्ञानका फल है।

विलायतवालोंको लोग बड़ा विज्ञानी मानते हैं और उनकी बड़ी-बड़ी कीर्तियाँ आलाप करते हैं। परन्तु उन्होंने एक अणुबमसे लाखों मनुष्य और करोड़ोंकी सम्पत्तिका स्वाहा कर दिया। जो जापान ५० वर्षमें सम्पन्न हुआ था वह एक दिनमें रसातल पहुँचा दिया गया। जापानकी लोग बड़ी प्रशंसा करते थे कि उसने थोड़े ही कालमें अपने देशको सम्पन्न बना लिया। परन्तु यदि उसकी अन्तरङ्ग व्यवस्था देखें तो पता चले। उसने ५ वर्षसे चीनको नाकों दम कर दिया, लाखों मनुष्योंका स्वाहा कर दिया तथा जो देश काबूमें आया उसे भिखमङ्गा बना दिया।

मैं तो इतिहास भूगोल जानता नहीं पर इतना अवश्य जानता हूँ कि आजकलकी शिक्षा केवल अर्थोपार्जनकी और काम विषयक है। इसलिये लोगोंके हृदयमें शिक्षित होनेपर भी वह राष्ट्रीयता नहीं आई जो आजके स्वतन्त्र नागरिकको आवश्यक है। राष्टीयता जबतक पूर्णरूपसे नहीं आयगी स्वदेश और स्वदेशी वस्तुओंसे

प्रेम न होगा और न औद्योगिक धन्धोंको प्रोत्साहन मिलेगा। यन्त्रादि द्वारा लाखों मन कपास और लाखों थान कपड़ा मिलों द्वारा एक दिनमें बन जाता है। फल यह होता है कि इने-गिने धनाढ्योंको उससे लाभ पहुँचता है या लाखों मजदूरोंको मजदूरी मिलती है परन्तु करोड़ों मनुष्य और हजारों दुकानदार आजीविका-के विना मारे-मारे फिरते हैं। इसी प्रकार यन्त्रों द्वारा एक दिनमें हजारों मन तैल तैयार हो जाता है। फल इसका यह हुआ जो इने-गिने धनाढ्य और सहस्रों मजदूर मजदूरी पा जाते हैं परन्तु हजारों तेली हाथपर हाथ धरे रोते हैं। कोलुओं द्वारा जो तैल निकलता था वह स्वच्छ होता था तथा जो खली निकलती थी उसमें तैलका अंश रहनेसे गाय भैंसोंको खानेमें स्वाद आता था। वह पुष्टकर होता था। इसी प्रकार शक्कर आदिके मिलोंकी भी व्यवस्था समझिये। यह तो कुछ भी बात नहीं, यदि कपड़ेके मिलोंकी व्यवस्थाका जाननेवाला लिखता तो पता चलता कि उनमें हजारों मन चर्बी लगती है। यह चर्बी क्या वृक्षोंसे आती है? नहीं; कसाईखानोंको पहले आर्डर दिये जाते हैं कि इतने मन चर्बी हमको भेजो। चमड़ा कितना लगता है इसका पारावार नहीं। इतनेपर भारतवासी चाहते हैं जो गो वध बन्द हो जावे।

पाठकगण! जरा मनको शान्तकर विचारो तो सही हम स्वयं इन बातोंसे घृणा नहीं करते! पतलेसे पतला जोड़ा चाहिये चाहे उसमें अण्डेका पालिश क्यों न हो। ग्रामोंमें चले जाइये पशुओंके चरनेको भूमि नहीं! मनुष्योंके आचरणके ऊपर दृष्टिपात कर यदि कोई लिखे तो पुराण बन जावे।

अच्छेसे अच्छे अपनेको माननेवाले होटलोंमें चायके प्याले चाटते देखे गये हैं। जिस प्यालासे मांस भक्षी चाय पीते हैं उसीसे निरामिषभोजी चाय पी रहे हैं। कोई कहे क्या करते हो? तो उत्तर

मिलता है अजी छोड़ो इसी छुआछूतने भारतको गारत कर दिया। इसका मूल कारण यदि देखा जावे तब **शिक्षामें धर्म-शिक्षा और सच्ची राष्ट्रीयताका अभाव ही इसका कारण है**। अतः यदि देशका कल्याण करनेकी सत्य भावना है तब एक तो **प्रारम्भसे धार्मिक शिक्षा** अनिवार्य करो और दूसरे यह प्रतिज्ञा प्रत्येक व्यक्तिको करना चाहिये कि **हम स्वदेशी वस्त्रादिका ही उपयोग करेंगे**।

शिक्षाका महत्त्व इतना है जो आत्मा इस लोकको कथा छोड़ो परलोकमें भी सुखका पात्र हो जाता है। **शिक्षा उसे कहते हैं जिससे प्राणियोंको सुख हो**। सभी मनुष्य दुखसे भयभीत रहते हैं और सुखको चाहते हैं अतः शिक्षा ऐसी हो जिसके द्वारा प्राणियोंको सुख हो। **जिस शिक्षासे प्राणियोंका विनाश हो वह काहेकी शिक्षा? वह तो एक तरहका अस्त्र है। केवल धनार्जन करना शिक्षाका काम नहीं, धनार्जन तो व्यापारसे होता है।**

भारतमें ऐसे ऐसे फर्म करोड़पतियोंके हैं जो उनके मालिक साधारण पढ़े लिखे हैं **यह संसार महान दुःखोंका भण्डार है इसमें शान्तिका लाभ बिना उत्तम शिक्षाके नहीं मिलता।**

प्राचीन कालमें अपरिग्रही गुरु शिक्षा देते थे जिसके द्वारा संसारी मनुष्य सुमार्गमें प्रवृत्तिकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे तथा अन्तिम वयमें गृहस्थीका भार बालकोंके ऊपर छोड़ आप संसारसे विरक्त होकर मुक्ति पथके पात्र हो जाते थे। आजकल उस शिक्षाके अभावमें केवल धन सञ्चय करते करते परलोक चले जाते हैं और वही संस्कार अपने उत्तराधिकारीमें छोड़ जाते हैं। **अतः यदि समाज और देशका उत्थान आप लोगोंको इष्ट है तब पहले शिक्षाकी व्यवस्था ठीक करो।**

(जैनप्रभात, वर्ष १ अङ्क २)

सूक्ति-सुधा

१. पुनीत कार्यके लिये पुनीत मनकी आवश्यकता है। आवश्यक कार्य करनेमें अप्रमादी होकर निरन्तर सावधान रहो, केवल गल्पसे आत्महित नहीं होता।

(६ । ३ । ३९)

२. सामायिक (ध्यान) में चित्तवृत्तिकी स्थिरता अवश्य ही अपेक्षणीय है। इसका यह तात्पर्य है कि कषाय असंख्यात लोक प्रमाण है। उनकी प्रवृत्ति भी क्रोधादि रूपसे विभाजित है। अतः जिससे क्रोध निकल जावे वह चेष्टा हितकारी है। जिस समय क्रोध आ जावे उस समय किसी दूसरे कार्यकी चिन्तामें लग जाओ। यदि यह न बने तब स्नान करनेकी चेष्टा करो। और शुद्ध वस्त्र पहिनकर आत्म तत्त्वका पोषक जो शास्त्र है उसका मनन करो तथा क्रोधको पुष्ट करनेवाली जो सामग्री है उसे हटा दो, या आप उससे पृथक् हो जाओ। यदि यह कोई उपाय न वने तब पद्मासन वैठकर ध्यानमें तल्लीन हो जाओ। यहो न बनें तब १०० से १ तक उल्टी संख्या (गिनती) गिनो।

(७ । ३ । ३९)

३. शारीरिक शक्तिका विकाश भी कथञ्चित् आत्मगुणके विकाशका साधक है।

(१९ । ३ । ३९)

४. व्यक्तिके नामके साथ 'श्रीयुत्' शब्दका प्रयोग क्यों किया जाता है ? इसलिये कि वह प्रत्येक व्यक्तिको सुख जनक और इष्ट है। वङ्ग देशमें मृत व्यक्तिके साथ 'श्री' शब्दका प्रयोग नहीं करते। 'श्री' शब्दका अर्थ लक्ष्मी है, लक्ष्मीको धन कहते हैं, जैसे यह लक्ष्मी-

पति है, अर्थात् धनपति है, अर्थात् धनवाला है परन्तु धन जीवसे भिन्न पदार्थ है, उसका जीवके साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं, अतः श्रीमान्‌से धनी मानना प्रायः असङ्गत है।

(२५ । ३ । ३९)

५. वही जीव धन्य है जो आपत्ति-सम्पत्ति, दुःख सुख, निन्दा-प्रशंसा, विषाद और हर्षमें सदा समभाव रहता है।

(१९ । ३ । ३९)

६. किसीकी मिथ्या प्रशंसा करना अपनेको वञ्चित करना है।

(३० । ५ । ३९)

७. बहुकथाकी अपेक्षा अल्प कार्य करना लाभदायक है।

८. संसारके हितकी चेष्टा करना आकाशमें पुष्पोंकी प्राप्तिकी तरह विफल प्रयत्न करना है।

९. अन्यको उपदेश देकर सुधारनेकी अपेक्षा अपनेको सुधारना अच्छा है।

१०. संसार में अति बेईमानी ओर डकैती है। जितने बड़े-बड़े कार्य होते हैं उनमें मजदूरोंकी मजदूरी काटी जाती है! कम दी जाती है!! सभी प्रकारसे गरीबोंको दबाकर उनकी शक्तिका ह्रास कर उन्हें निर्बल बनानेकी चेष्टा की जाती है!!! इस संसारी आत्मामें एक ऐसी प्रबल इच्छा रहती है कि संसार भरके प्राणी हमारे अधीन रहें और संसारका सम्पूर्ण विभव हमारे यहाँ आ जावे। ऐसा होना असम्भव है परन्तु आकांक्षाकी शान्ति नहीं होती। इसीसे आकुलित होकर सम्पूर्ण जगत् दुःख समुद्रमें निमग्न हो रहा है।

(९ । १० । ३९)

११. अपने धनको दान देकर परायी आशा करना मूर्खोंकी चेष्टा है। पराए सुन्दर सरस स्वादु भोजनकी अपेक्षा अपने घरका सादा, नीरस निःस्वादु भोजन अच्छा है।

(२२। ७। ३९)

१२. केवल परमेश्वरके गुणगानसे कोई परमेश्वर नहीं होता, भोजनकी कथासे कोई तृप्त नहीं होता।

(२०। १। ४०)

१३. आजकल ऊपरी वेषकी महिमा है। इसीको देखकर लोग ठगाये जाते हैं। परन्तु किसी वेषको देखकर उसका अन्तरङ्ग जाने बिना उससे ग्लानि करना भी मूर्खता है।

(२१। १। ४०)

१४. संसारके कार्य देखकर आश्चर्य करना उन्मत्तता है। अनन्त पदार्थ हैं, उनके अनन्त परिणमन हैं, अतः इसमें आश्चर्य ही क्या है ? जिस पदार्थमें जो-जो शक्ति है कारण सामग्रीके सद्भाव तथा प्रतिवन्धकके अभावमें उसका कार्यरूप होना कोई आश्चर्यकी वात नहीं है।

(२२। १। ४०)

१५. आकुलताका मूल अज्ञान है, और अज्ञानका मूल मिथ्यादर्शन है। यह वह वस्तु है जो अनेक प्रकारसे अभिप्रायमें विकल्प उत्पन्न करता है। वास्तवमें यह पदार्थ अनिर्वचनीय है। इसके सद्भावमें जो जो अनर्थ होते हैं उन सवका मूल कारण यही है। इसकी महिमा अचिन्त्य है, संसारमें जितने मत हैं, इस ही का माहात्म्य है।

(२। २। ४०)

१६. कार्य करनेकी आन्तरिक इच्छा होनी चाहिये तभी वह उस ओर उद्योगशील हो सकता है। केवल लेख लिख देने,

भाषण दे डालने या विवाद प्रतियोगितामें भाग ले लेने मात्रसे कुछ नहीं होता।

(५।२।४०)

१७. सार तो वहीं होता है जहाँ है परन्तु उस सारके लिये असार वस्तुका भी आश्रय लेना पड़ता है। दहीमें घी है परन्तु निकालनेके लिए पानीका आश्रय लेना पड़ता है। फिर भी आँच देनेकी आवश्यकता रहती है अन्यथा अन्तर्मुहूर्तवाद अभक्ष्य हो जानेका भय है।

(१७।२।४०)

१८. सङ्कोचका त्याग करो, या त्यागका त्याग करो।

(२१।२।४०)

१९. आजकलका समय अर्थकी लोलुपताका है। उसके लिए अनेक अनर्थ करते हुए भी मनुष्योंकी प्रवृत्ति शुभकी ओर या उस अनर्थके त्याग करनेकी ओर नहीं होती! मिलोंमें अनेक प्रकारकी हिंसा होती है फिर भी हम उसका उपयोग करते हैं!

(३।३।४०)

२०. इस जगत्में जितने पाप होते हैं उन सबका मूल कारण मिथ्यादर्शन है। उसके उदयमें हम पर वस्तु और अपना विवेक नहीं कर सकते। और जब विवेक नहीं तब उसे ग्रहण करनेकी चेष्टा करते हैं। हिंसा भी परको ग्रहण करनेके लिये होती है; क्योंकि जो मांसका भक्षण करता है वह जीव घात करता है बिना जीव घातके मांसकी उत्पत्ति नहीं होती।

(४।३।४०)

२१. चिन्ताज्वालाका आदि कारण सङ्कल्प है। सङ्कल्प मूलक ही विकल्प होता है। यह विकल्प ही अनुकूल पदार्थोंका संग्रह और प्रतिकूल पदार्थोंका प्रतिरोध करानेमें कारण है।

(२०।४।४०)

२२. परसे ममत्व करना अपनेको कारागारमें डालनेके सदृश है। जो पर वस्तुसे ममत्व करता है वह चोर कहलाता है, उसे राजदण्ड दिया जाता है, वह निन्दाका पात्र होता है। इसी तरह जो परको अपनी मानकर मूर्च्छा करता है वह रागादिक परिणामों द्वारा मोहादिक कर्मोंके कारागारमें डाल दिया जाता है।

(३० । ४ । ४०)

२३. संसारमें वाह्य व्यवहारसे ही मनुष्य उत्तम मध्यम और अधम श्रेणीका पात्र होता है। अन्तरङ्गकी निर्मलता बाह्य क्रियाओं-से अनुमापित करना प्रायः असम्भव है।

(२ । ५ । ४०)

२४. में 'परमेश्वर मन लगाओ' इसका तात्पर्य यह है कि परमेश्वर रागद्वेष आदि उपद्रवोंसे रहित जीव द्रव्यकी एक पर्याय है। उसको जाननेसे रागादिक कलङ्क होनेकी सम्भावना नहीं। परमेश्वर की भक्ति करनेसे परमेश्वर कुछ आत्मामें प्रविष्ट नहीं हो जाता क्योंकि ज्ञेय और ज्ञायकका तादात्म्य सम्वन्ध नहीं। हाँ परमेश्वरकी उपासनासे यदि चित्तवृत्ति निर्मल हो जावे तब मोहके अभावसे आत्मा स्वयं परमेश्वर हो जाता है और उस कालमें 'सोऽहं' यह विकल्प भी मिट जाता है।

(१५ । ५ । ४०)

२५. मार्गका मिलना कठिन नहीं। साधु समागम, विद्वद्गोष्ठी, एवं शास्त्राध्ययन के द्वारा मार्गका ज्ञान होना सरल है परंतु उसपर चलना ही अति कठिन है। भोजन कर लेना कोई कठिन वात नहीं, जितना कि उसका पकाना कठिन है। प्रायः मनुष्य ऊपरी वातोंके वनानेमें चतुर रहते हैं और वे अपनेको सर्वोत्तम सिद्ध करना चाहते हैं। न जाने इस लोकेषणासे मनुष्योंने अपने असली स्वरूपका घात करना क्यों पसन्द किया है?

(८ । ६ । ४०)

२६. व्रत करनेसे तात्पर्य चित्त शुद्धिका है। यदि वह न हुई तब कोई तत्त्व नहीं। जिस व्रतके लिये अन्नका सादा भोजन छाड़कर बहुमूल्य पदार्थ या फल सञ्चित किये जायँ, ग्रहण किये जायँ, वह व्रत नहीं, अव्रत है। धर्म नहीं, अधर्म है। जहाँ राग परिणाम है वहाँ धर्मकी गन्ध नहीं।

(१६ । ६ । ४०)

२७. जो काम जिस समय करना है उसे उसी समय करो। समयकी उपेक्षा आत्माके अकल्याणका मार्ग है। प्रात.काल आत्माकी परिणति निर्मल रहती है, उसी समय जो कुछ आत्मलाभ होनेके योग्य सुअवसर है उसे उपयोगमें लाओ।

(१२ । ७ । ४०)

२८. "स्त्री समाज मनुष्यके बन्धनकी बेड़ी है" यह कहना हमारी अज्ञानता है। बन्धनका मूल कारण अपनी आत्माकी विभाव परिणति है और उस विभाव परिणतिमें यह सब नोकर्म है। यह सर्वत्र विभाव परिणामके उत्पादक नहीं।

(२८ । ७ । ४०)

२९. मनुष्योंके नाना प्रकारके परिणाम होते हैं। उनके होनेमें उपादान कारण आत्मा है और बाह्य कारण कषायोदय है।

(२९ । ७ । ४०)

३०. आत्माका सुख इसीमें है कि निरन्तर ज्ञाता दृष्टा बना रहे। ज्ञाता दृष्टाका अर्थ है कि पदार्थोंको देखे जाने परन्तु उनमें न तो मोह करे और न रागद्वेष करे। यह कब हो जब कि पर पदार्थमें निजत्व बुद्धि मिटे। निजत्व बुद्धि मेटनेका कारण भेदज्ञान है, भेदज्ञानका कारण आगम ज्ञान है, आगम ज्ञानका कारण विद्योपार्जन है, विद्योपार्जनका कारण विनय और सदाचार है, विनयका

कारण निरभिमानता और सदाचारका कारण विषयोंमें लोलुपताका अभाव है।

(३०, ३१। ७। ४०)

३१. परका वैभव देख ईर्षा मत करो। अपने आत्म द्रव्यमें अनन्त पदार्थोंके अवलोकनकी जो शक्ति है उसका विकाश करो। विकाशका कारण अपने स्वरूपको देखनेका अभ्यास करो। अभ्यास-से कठिनसे कठिन कार्य सरल हो जाते हैं किन्तु अभ्यासका वह क्रम सतत होना चाहिये। भङ्ग होना कार्यका वाधक है।

(३०। ८। ४०)

३२. मनुष्यको माया और कीर्ति कामिनीसे सदा वचते रहना चाहिये।

(२६। १०। ४०)

३३. अन्तरङ्गकी बातको व्यक्त करनेसे भी लाभ नहीं, क्योंकि उसमें यह भाव रहता है कि देखो हमारी परिणति इतनी सरल है कि अपनी भावनाको व्यक्त कर दिया। अतः उत्तम मार्ग तो यह है कि निरन्तर अपने भावोंको शुभ और अशुभके कलङ्कसे रक्षित रखें।

(२४। ११। ४०)

३४. जो समय जाता है वह नहीं आता। मत आवे। पर्याय-का जाना आना तो होता ही रहता है। हाँ, यदि पूर्वकी पर्यायें असत्कार्यकी उत्पादक थीं और चली गईं, अच्छा हुआ। उनका पश्चात्ताप करना निरर्थक है। वह काम करो जिससे इस चक्रमें ही न फँसना पड़े।

(१। १२। ४०)

३५. निःसंकोच अपनी प्रवृत्ति करो। भय कषाय है और यही आत्माको पतित करनेमें सहायक है। किसीके प्रभावमें आकर

अपने पौरुषको भूल जाना स्यालवृत्ति है। सिंहवृत्ति बनो। सिंहका बच्चा गजराजसे भी नहीं डरता।

(२३ । १२ । ४०)

३६. 'कोई किसीका नहीं' यह केवल अज्ञानी जीवोंको समझानेकी प्रक्रिया है। वस्तु स्वरूपसे कोई किसीका नहीं परन्तु मोहके उदयमें सबके सब हैं। यदि परमार्थ दृष्टिसे यह मान लिया जाय और व्यवहारका लोप कर दिया जाय तो परस्परमें हमारा जो गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, आदि व्यवहार है सभीका लोप हो जायगा। और इसके न होनेसे संसार मोक्ष पदार्थोंका अपलाप हो जावेगा।

(२४ । १२ । ४०)

३७. केवल बोझेसे सिर दुखता है न कि बोझा। इसी तरह जीवमें सुख-दुःख है न कि बाहर।

३८. आकुलताके चले जानेसे विलक्षण सुख होता है वह सामान्य सुख तो सदासे है, चिर अंश हमारेमें भी है।

३९. सूर्यसे प्रकाश हो या दीपकसे। इसी तरह सिद्धोंके सुख हो या अविरतिके। अविरतिके उस सुखका स्वाद आनेसे वनको चले जाते हैं। वहाँ विशेष सुख निराकुलता होना ही है।

४०. बारहवें गुणस्थानमें मोहके अभावसे सुख तो हो गया परन्तु अनन्त नहीं बताया। अनन्त वहीं बताया जहाँ ज्ञान अनन्त होता है।

४१. ज्ञानने जता दिया कि रागद्वेष ये हैं। उनके लिये चारित्र ही धारण करना पड़ेगा। उससे ही मोक्ष है।

४२. आपमें रुचि होनेसे ही हमें मालूम होता है कि अब हमारा संसार तट निकट है।

४३. नियम बिना कार्य नहीं चलता। सूर्य वा दिया क्या करेंगे। ज्ञाननेत्र प्रगट करना चाहिये वह इस पञ्चमकालमें भी हो सकता है।

४४. मोहके नाशसे भी मोक्ष है और मोहसे भी मोक्ष है।
(२६ । ८ । ४१)

४५. कषायके उदयमें कार्य होता है। महाव्रती भी महाव्रत नहीं करता, महाव्रत होते हैं। जैसे सम्यग्दृष्टि विषयभोग नहीं चाहता परन्तु वे होते हैं।

४६. सामान्य और विशेष वस्तुमें दोनों हैं। विशेषका परिणमन होता है, सामान्यका नहीं।

४७. चीज कुछ नहीं, केवल व्यामोह है। उसी व्यामोहको छेदनेवाली प्रज्ञा (ज्ञान) छेनी है।

४८. अव अनन्तकाल भटके अव शेष नहीं भटकना। साव-धान होओ, जो गई सो गई।

४९. ज्ञानको उपार्जनकर उसका फल नहीं लिया तो क्या।

५०. रागादिक मेटनेसे आत्मा नहीं मिटता वल्कि आत्मा शुद्ध हो जाता है। रागादिक जो औपाधिक हैं वे मिट जाते हैं ऐसा कहनेमें कोई हानि नहीं है।

५१. भेद-विज्ञान तो एक दर्पणसे भी होता है। क्या दर्पणमें तुम घुस गए, नहीं, कोई किसीमें नहीं जाता। समझनेके लिये केवल दृष्टिकोण वदलना है।

५२. शरीर के पीछे प्रतिज्ञा भङ्ग कर देना कोई अच्छा कार्य नहीं। जव अपनी चीज अपने काम नहीं आई तव दूसरा क्या आएगा ?

५३. सिद्धान्तका सेवन करना चाहिये। ज्ञानसे ही काम नहीं चलेगा। पापसे ही दीनता होती है विना पाप कौन किसीकी सेवा करेगा।

५४. कषाय ही निग्रह करने योग्य है, कषाय नाशमें ही सुख है।

५५. संसारके मार्गका निश्चय होनेसे मोक्षके मार्गका निश्चय हो जाता है।

५६. एक क्षमासे ही सब गुण सिद्ध हो जाते हैं। क्रोधका न होना ही क्षमा है।

५७. बिना पानी छुए जैसे तैरना नहीं आता वैसे ही बिना मोह राग-द्वेषके त्यागे अपना रूप प्रकट नहीं हो सकता।

(२७।८।४१)

५८. शुद्ध परिणामोंसे क्रियाव्रत व्रत होता है अन्यथा कष्ट है।

५९. जो हमारी थालीमें आ गया वही अमृत है।

६०. भेद विज्ञान होनेपर कष्ट कष्ट नहीं उसके अभावमें कष्ट है।

६१. प्रमाद हिंसाका मूल है, अभिलाषा विषयका मूल है।

६२. शल्य छूट जानेसे ही आनन्द है।

६३. परम शुक्लध्यान अपने ही भावसे होता है कोई मशीन नहीं कर देती।

६४. दूसरेकी कथा कहनेमें सार नहीं। अपने परिणामोंके अनुकूल कार्य करो यही सम्यग्ज्ञान हैं।

६५. जिस कार्यके उत्तर कालमें आकुलता न हो वही त्याग है। नहीं तो त्याग नहीं।

६६. धर्ममें मायाचारी मत करो, मायाचारी कभी सुखी नहीं। कुटिलता जानेसे मायाचारी गई, विश्वास हो गया तो इसमें क्या चला गया ?

६७. दान पूजन सरलभावसे सम्यग्दृष्टिके ही होते हैं।

(२८।८।४१)

६८. सम्यग्ज्ञानी बन्ध आदिको जानता है। कर्ता नहीं, नेत्र-की तरह।

६९. सुखका कारण मोहका अभाव है, धन नहीं।

७०. दुखीको दान दिया इससे क्या किया, अपना दुख दूर किया, न कि दूसरे का।

७१. सम्यग्ज्ञानी रागादिका भोगी नहीं।

७२. हे भगवन्! हमने चौरासी लाख नाटक दिखाए, इसका फल दो यानी हमारे भव-भ्रमणको मेंट दो, अगर हमारे यह नाटक अच्छे नहीं लगे तो इस नाटकको मेंट दो।

७३. पुद्गलसे पुद्गलका उपकार हुआ, तुमने क्या किया? इसका अभिमान छोड़ो। अपने वच्चेको खिलानेमें भी लज्जा आती है इससे मालूम होता है कि परद्रव्य वुरा है।

७४. एक वस्तुका जव दूसरी वस्तुमें सम्वन्ध नहीं तव तुम कर्ता भोक्ता कैसे वन गए, विचार करो।

७५. हाँ व्यवहारमें रागादिक भावकर्मोंका आत्मा कर्ता भोक्ता है।

७६. मिथ्यादृष्टिको मिटा देना कहाँकी वात है, मिथ्यात्वका नाश करना चाहिए।

७७. सम्यग्दर्शनका फल संसारका वन्धन टूटना है।

७८. मिथ्यात्वके उदयमें धर्म कटुक लगता है। मिथ्यात्वमें अपने परिणाम वदलते हैं पदार्थ जैसेका तैसा है।

७९. भैया! जिस संसारके दुःखसे भगवान् डर गए, तुम नहीं डरते? वड़े वलवान हो। जो सर्प घरमें वैठा है, उसे निकालो, यही संवेग है।

८०. जिन्हें संसारसे भय नहीं वे क्या डरेंगे?

८१. अपनी आत्माकी दया करनी सच्ची दया है।

८२. मोहमें भलाई नहीं चौपट हो जाता है।

८३. सत्यसे वड़ी प्रतिष्ठा है। सत्यसे उपकार हो जाता है।

लिखो तो सत्य, बोलो तो सत्य, सत्य धर्मसे सब दुख दूर हो जाते हैं।

८४. कर्मके उदय को कर्जा समझो। उनके देनेमें क्या दुख; धन्नासेठ क्यों बनते हो ?

८५ जैनधर्मकी कोई भी क्रिया रागद्वेष निवृत्ति रूप है। चारित्र भी उसहीके लिए है वार वार चिन्तवन करनेसे मोहका अभाव हो जाता है। कायरता मत करो–पुरुषार्थी बनो।

८६. द्रव्य दृष्टिसे वही कर्ता वही भोक्ता है, पर्याय दृष्टिसे कर्ता भिन्न है, और भोक्ता भिन्न है।

(२९। ८। ४१)

८७. सूत्र रहित मोती हार नहीं कहलाते, इसी तरहसे क्षणिक आत्मा नहीं बनता, चैतन्य का सम्बन्ध चाहिए कर्तृत्व और कर्मत्व जुदे नहीं हैं।

८८. चेष्टा और चेष्टा-फलका भोगनेवाला आत्मा है।

८९. मिट्टीके घड़ेमें मिट्टी मौजूद है कुम्हारका आत्मा नहीं घुस गया, गुरु शिष्यको अपना ज्ञान नहीं देता, आँखमें रोशनी सूर्य नहीं देता।

९०. रागद्वेष दूर करनेका भाव होगा तभी श्रावक-मुनि-धर्म रुचेगा।

९१. अपनेको बड़ा समझो, तुम्हारा ठाठ है।

९२. दूसरेमें दूसरी वस्तु नहीं जाती। १० दिनमें ही संयम करो। भुजुटकी तरह २५० दिनके लिए निश्चलता होनी चाहिए।

९३. ज्ञानमें चञ्चलता कषायसे होती है उसको छोड़ना चाहिए। इच्छाको दूर करो, मनकी शुद्धतामें सब शुद्धता है। मद करना अच्छा नहीं। जिनके व्रत होता है, उनके रक्षाकी बात सूझती है।

९४ स्नान आदिसे शरीरकी पवित्रता है, आत्माकी नहीं, मछली और धीवर जलमें ही रहते हैं तब भी पवित्रता नहीं।

(३० । ८ । ४१)

९५. पदार्थ दुखी नहीं करता, जीव स्वयं दुखी होता है, लोग बाह्य वस्तुमें मोह करते हैं और कहते हैं राग नहीं घटता क्या करें।

९६. संस्कारोंके कारण चारित्र नहीं होता तब शान्ति नहीं मिलती।

९७. तलवारसे हिंसा होती है तलवारको सजा नहीं।

९८. मैल निकालनेके लिए कपड़ेको गरम पानीमें देना पड़ेगा। इसी तरह विभाव हटानेको ज्ञानमें ज्ञेयका प्रवेश नहीं। शुद्ध स्वभावका उदय है।

९९. मोहकी कच्ची अवस्थामें उफान आता है, ज्ञान ज्ञान बन जानेपर फिर कुछ नहीं बनता। यह ज्ञानमय है तो भी ज्ञानकी उपासना नहीं करता है।

१००. आलस्य बड़ा भारी शत्रु है, व्रत उपवास आदिका यही फल है कि स्वाध्यायपूर्वक ज्ञान हो।

१०१. राग छोड़ो, वस्तु छोड़नेकी आवश्यकता नहीं। वस्तु तो रागके अभावमें स्वयं छूट जायेगी, रोटी खानेसे पेट तो खुद भर जाएगा।

१०२. संयमके बिना इहलोक और परलोकमें काम नहीं चलता है। आत्मामें निर्मल परिणामोंसे ही काय बल मिलता है। अपने उपयोगको सम्हालो, चित्तको वशमें करो। दया अनुकम्पा करो, परमार्थको विचारो। कम बोलो, गम खाओ।

१०३. जैसे नेत्र बिना सुन्दर मुख और शरीरकी शोभा नहीं उसी तरह संयमके बिना मनुष्य जन्मकी शोभा नहीं।

१०४. संयमीसे दुनियाकी रक्षा होती है, माँ बाप संयम पालें तो लड़के भी संयम पालेंगे। जीवकी रक्षा करो एक घड़ी भी मत विसारो, यही सर्वश्रेष्ठ है।

(३१।८।४१)

१०५. प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना ही चारित्र है, अच्छी चीज के होते क्यों कायर बनो ?

१०६. सम्यग्दृष्टिको करना पड़ता है, कर्ता नहीं। उदयमें सबको करना पड़ता है।

१०७. जो दान देते हैं उसको अपने स्वाध्यायकी उन्नतिमें लगाते हैं।

१०८. शल्य मिटाना चाहिए, चौथा काल अभी हो जायगा।

१०९ सम्यग्दृष्टि फल भोगनेमें उदास है, वासना अच्छी बनाओ जिससे रागादिक घटे।

११०. अपनेको सम्यग्दृष्टि समझो तभी चारित्रकी सिद्धि होगी, नहीं तो टोटेमें रहोगे।

१११. किसीने श्रावक अवस्थामें दान देनेको कहा और वह मुनि हो गया तो कौन माँगे और कौन दे ?

११२ पत्ता हरा रहता है तबतक रस खींचता है, पकनेपर गिर जाता है। सम्यग्दृष्टिका यही माहात्म्य है।

११३. बूरा बन गया, अब आँच देनेकी आवश्यकता नहीं। अज्ञान चेतनाको हटाओ, वही जीव निराकुल हो सकता है।

११४. शास्त्रका रूप रस, गन्ध, अध्यवसान आदि ज्ञान नहीं ज्ञानमें आते हैं।

११५. द्रव्य लिङ्ग ग्रहण मत करो आत्माको नग्न करो। द्रव्य लिङ्गसे मोक्ष मानना मिथ्यात्व है। पाँच पापोंके त्यागसे और मिथ्यादर्शनके अभावमें व्रत होते हैं।

(१।९।४१)

११६. सामान्य-विशेषात्मक तत्त्व है, अभेदकी दृष्टिमें भेद मिथ्या है। अज्ञान निवृत्ति और आनन्द दोनों ही ज्ञानके फल हैं।

११७. वीतरागताका दर्शन मूर्तिसे होता है। पर मूर्तिमें वीतरागता है नहीं, वह तो आत्मा की है। शब्दको पूज्य मानते हो, मूर्तिको माननेमें क्या दोष है?

११८. धर्मीसे धर्मकी प्रतीति होती है। जड़ अपने मोहसे दुखी होता है। धर्म अपनेमें ही है, कहीं और नहीं।

११९. शरीरको जीव कहना बड़ी भारी विरुद्धता है। क्या लाभ लिया? जिस अज्ञानसे मोहका ग्रहण किया उसे छोड़ो। मोह छूट जायगा तो आत्मा भिन्न हो जायेगी।

१२०. रागका त्याग असली त्याग है। धन आदिकके पीछे क्यों पड़े हो, गुणस्थानोंके त्यागे विना सिद्ध पद नहीं मिलता।

१२१. औषधि दान दो, रोगादिक दूर होंगे, दीन-दुखियोंको दान दो, करुणा वुद्धि करो। त्याग गुण सीखना बड़ी भारी बात है। दान सबको करना चाहिए।

(२।९।४१)

१२२. विकल्प सहित वचन विकल्पमय हैं, निश्चय और व्यवहारमें क्या भेद है? निश्चय अभेद रूप है दृष्टान्त रहित है, भगवान् दोनों नयोंका स्वरूप जानते हैं, ज्ञाता द्रष्टा हैं, नयके पक्षपात रहित हैं। केवल व्यवहारको अनुभव करनेवाला मिथ्या-दृष्टि है। वस्तु व्यवहार करनेके लिए व्यवहारकी आवश्यकता है। तीर्थकी स्थितिके लिए दोनोंकी जरूरत है। कोयलेकी, कण्डेकी अग्नि यह व्यवहार नय है। अग्निको छूना निश्चय नय है। इन दोनों नयोंसे अतीत श्रद्धानुभूति है।

१२३. शुभ परिणामोंके लिए मूर्तिका आश्रय लो।

१२४. अतः स्वपरका स्वरूप जानना चाहिए, करणानुयोग, चरणानुयोग सभीकी जाननेकी जरूरत है।

१२५. ध्यानकी पूर्वावस्था भावना है। थिरता ध्यान है सो तप है, समितिका पालन प्रमादयोग हटानेके लिए है, महाव्रत रक्षाके निमित्त हैं, दोषोंको दूर करना चाहिए।

१२६. शरीर तो पर है, विषयोंमें रागादिक निवृत्ति इन्द्रिय संयम है, और प्राणिओंपर मैत्रीभाव इन्द्रिय संयम है। परिग्रहमें आकुलता होती है, मुनिको नहीं होती।

१२७. अरिहन्त पद आकिंचनतासे मिलता है।

१२८. विवेक उत्पन्न करो यही आकिंचन है।

१२९. यह विषय मेरे नहीं, मैं क्या सेवन करूँ। परमेष्ठीके आकिंचन धर्म है।

१३०. तीर्थङ्कर मोक्षमार्गमें आकिंचनताके प्रसारसे लगे। यहाँ उपाय किया वहाँ मोक्ष मिला।

१३१. ऋषिगण सदा वन्दनीय हैं, पूज्य हैं, वह आकिंचन्यका प्रसार है। दुष्ट विकल्पोंका त्याग करो।

(३।९।४१)

१३२. द्रव्य लिङ्गीसे सम्यग्दृष्टि श्रेष्ठ है।

१३३. नदियोंमें समुद्र नहीं, समुद्रमें नदियाँ हैं, प्रमाणमें दोनों नय हैं नयमें प्रमाण नहीं। यही पदार्थोंके जाननेका रास्ता है। वह अपने अन्दर है, भगवान्‌ने दिखला दिया। भगवान् बतानेवाले हैं, बनानेवाले नहीं, सूर्यकी तरह।

१३४. भगवान्‌की गृहस्थ अवस्थामें सुन्दरता कर्मसे थी, केवल ज्ञानकी सुन्दरता कर्मके क्षयसे है। यह स्वाभाविक होती है, यही अन्तर है।

१३५. सिद्ध भगवान्‌के पूरा भार उतर गया, और सम्यग्दृष्टिके सरसों बराबर रह गया।

१३६. आत्माका कर्त्तव्य समझकर ब्रह्मचर्यका पालन करो, छत्रसालकी तरह।

१३७. आज यह दशधा धर्मको यथाशक्ति पढ़ा, सुना सुनाया, मनन किया क्या आनन्द आया ? इसका अनुभव जिसको हुआ हो, सो जाने। पूर्ण आनन्द तो इसका परम दिगम्बर दीक्षाके स्वामी श्री मुनिराज जाने। आंशिक स्वाद तो व्रतीके भी आता है, क्योंकि इस पवित्र दशधा धर्मका सम्बन्ध उन्हीं पवित्र आत्माओंसे है। व्यवहाररत तो इसकी गन्धको भी तड़पते हैं, क्योंकि व्यवहार करना अन्य बात है और उनसे धर्म मानना अन्य बात है। व्यवहारको उत्पत्ति मन, वाणी, काय और कषायसे होती है और धर्मको उत्पत्तिका मूल कारण केवल आत्मपरिणति है।

(४।९।४१)

१३८. पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें आयु बीत गई, परन्तु तृप्तिका अंश भी नहीं पाया। केवल अन्तरङ्ग तृष्णा ही इनमें प्रवृत्ति कराती है। तृष्णाका मूल अभिलाषा है तथा हिंसादिकका मूल प्रमाद है।

(७।२।४४)

१३९. दयालु मनुष्य परोपकार कर सकता है परन्तु आजकल दयाके भाव नहीं।

(१४।३।४४)

१४०. 'प्राणियोंका कल्याण हो ऐसी चिन्ता करना भी महती अज्ञानता है। जब तुम्हें यह निश्चय है कि जो भगवान्‌के ज्ञानमें आया वही होगा तब क्या तुम उसको अन्यथा कर सकते हो ? नहीं, तब तुम केवल अपनी कषाय परिणतिसे संक्लेशताके पात्र क्यों होते हो ? सब पदार्थोंसे ममता त्यागो, केवल बननेका प्रयत्न करो।

(२२।५।४४)

१४१. अनेक मनुष्य आत्मचिन्ता न कर, अन्यकी चिन्ता द्वारा, आत्म कल्याण करनेकी अभिलाषा करते हैं, यही भ्रम संसारका मूल कारण है।

(२६।५।४४)

१४२. धन्यवाद देनेकी परिपाटी प्रायः उत्तम भी है और दूषित भी है। वहुतसे मनुष्य जहाँ कार्य करनेको प्रोत्साहित होते हैं वहाँ वहुतसे लोभमें अपना सर्वस्व भी खो देते हैं।

(३१ । ५ । ४४)

१४३. आजकल प्रायः लोगोंकी रुचि ऊपरी ठाठमें रहती है। अभ्यन्तर धर्मके मर्मको अल्प मनुष्य ही जानते हैं।

(२९ । ६ । ४४)

१४४. आजकल सभी मनुष्योंमें त्रुटि पाई जाती है। जो कोई व्रतादि धारण किये हैं वे कुछ न कुछ अंशमें सदोष हैं। और जो मानादि कषाय कर व्रत पालन करते हैं उनका व्रत पालना चरणानुयोगके अनुसार शुद्ध होने पर भी अन्तरङ्ग मलीनताके कारण मोक्षमार्गका साधक नहीं। मोक्षमार्गमें अन्तरङ्ग सम्यग्दर्शन होना चाहिये। जिनके सम्यग्दर्शन है उनके बाह्यमें व्रत भी न हो तब भी वह जीव देवगतिको छोड़कर अन्य गतिका बन्ध नहीं करता।

(११ । ६ । ४४)

१४५. व्रत धारण करना सहज है परन्तु उसका निर्वाह करना बहुत कठिन है। जिसने निर्वाह किया वही व्रती है।

(२३ । ६ । ४४)

१४६. समय व्यर्थ नहीं खोना, यही मनुष्यकी मनुष्यता है। समय तो जाता ही है परन्तु उसे प्रमादसे नहीं जाने देना चाहिये। पुरुषार्थ करो और वह पुरुषार्थ करो जिससे आत्माको शान्ति मिले, क्योंकि आत्माका लक्ष्य सुखकी ओर रहता है।

(१८ । ७ । ४४)

१४७. पराई चिन्तासे न कभी किसीका उद्धार हुआ और न होगा। स्वाधीन जीव ही मोक्षगामी होते हैं।

(२५ । ७ । ४४)

१४८. ऐसे वचन बोलो जिससे सुननेवालोंको किसी प्रकारका कष्ट न हो। शास्त्र प्रवचन इस तरह करो जिसमें सुननेवालोंको शान्ति लाभ हो।

(२८ । ७ । ४४)

१४९. चित्त वृत्तिको वश रखना शूरका काम है। कायर मनुष्य अपने ऊपर स्वाधीनता नहीं रख सकता। पर पदार्थोंमें ही दोष देखता है, निमित्त कारणोंमें ही कल्याण व अकल्याण देखता है।

(१२ । ९ । ४४)

१५०. पर्वके दिनोंमें ब्रह्मचर्य पालन करना मनुष्य जन्म सफल बनानेकी औषधि है।

(८ । १० । ४४)

१५१. सङ्कोचमें मनुष्य आत्मधर्मसे च्युत हो जाता है। आत्माको पवित्र करनेके लिये प्रथम तो दृढ़ श्रद्धानी होनेकी आवश्यकता है और फिर आत्मस्वरूपमें स्थिरताकी आवश्यकता है। चञ्चलतासे इष्ट सिद्धि नहीं, एकाग्रता नहीं अतएव ध्यान सिद्धि भी नहीं।

(९ । १० । ४४)

१५२. विवेक पूर्वक की गई भक्ति ही कल्याणकारिणी है। भक्ति उसकी उपयोगिनी है जिनके रागादि दोष व आवरणादि कर्म दूर हुए हों। उसे आप्त कहते हैं।

(१७ । ११ । ४४)

१५३. संसारमें सभी मनुष्य उत्कर्ष चाहते हैं, कुछ हानि नहीं परन्तु उसके अभ्यन्तरकी प्रभुताका अभाव है, यही आत्मोत्कर्षका

बाधक है। यदि यह न हो तब कोई हानि नहीं। जगतका मूल कारण यही ईर्षा है।

(१४ । १२ । ४४)

१५४. किसी मनुष्यसे दैन्य व्यवहार न करना। मनुष्यकी तो वात छोड़ो परमात्मासे भी दैन्य शब्दों द्वारा प्रार्थना न करना। होगा वही जैसी परिणामोंकी निर्मलता रहेगी। कोई कुछ नहीं कर सकता, केवल हमारे विकल्प ही हमें दुखदायी हैं।

(१५ । १२ । ४४)

१५५. यह पापी पेट है जिसके लिये मनुष्यको संसारके अनर्थ करना पड़ते हैं। इसका कार्य उदरपूर्ति-भोजन है। भोजनकी इच्छाका नाम ही आहार है। इस आहार संज्ञाके कारण संसारमें महान् अनर्थ होते हैं। अनर्थकी जड़ भोजनकी गृध्नता है। अच्छे-अच्छे महान् पुरुष इसके वशीभूत होकर जो जो क्रियाएँ करते हैं वह किसीसे गुप्त नहीं। भोजनकी लालसा अच्छे अच्छे पुरुषोंका तिरस्कार करानेमें कारण होती है।

(२१ । ५ । ४९)

१५६. पदार्थसे भिन्न आत्माका निश्चय कर जो पर पदार्थोंमें राग-द्वेषका त्याग कर देता है वही पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला होता है। लौकिक मनुष्य केवल जननेन्द्रिय द्वारा विषय सेवनको ही ब्रह्मचर्यका घात मानते हैं परन्तु परमार्थसे सभी इन्द्रियों द्वारा जो विषय सेवनकी इच्छा है वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्यकी घातक है।

(२९ । ५ । ४९)

१५७. अदत्त वस्तुके ग्रहण करनेका भावमात्र चोरी है। चाहे वस्तुका ग्रहण हो चाहे न हो। आत्मातिरिक्त जो भी वस्तु है

पर है। आत्माका वास्तव रूप ज्ञान-दर्शन है। रागादिक औदयिक भाव हैं, अतएव वे औपाधिक हैं। उनको निज मानना चोरी है। पर वस्तु न ग्रहण हुई और न होती है उसे निज माननेका भाव ही चोरी है।

(३०।५।४९)

दैनन्दिनी के पृष्ठ

वि० सं० १९९३–९४

संसारको सर्व सम्मत दुःखका आलय अभिमत है परन्तु दृष्टिसे वेचार किया जावे तब दुःखका कारण केवल स्वोत्थ रागादि परिगाम हैं। आत्माकी विभाव परिणतिका नाम ही रागादिक हैं। अन्य संसार कुछ नहीं। जो बाह्यमें चतुर्गतिरूप है वह तो इसका कार्य है अतः रागादिककी निवृत्ति ही मोक्षका मार्ग है। इसके विरुद्ध रागादिकी प्रवृत्तिका नाम ही संसार है।

(प्रथमभाद्र वदी ९, वि० सं० १९९३)

जहाँपर अधिकांश अहम्मन्य पुरुषोंका समागम हो वहाँपर रहना आत्माके संयमका घात है। विद्वानोंके समागममें अपमानित होकर भी रहनेमें हित हो सकता है किन्तु मूर्ख मण्डलीके समादरभावसे आत्मा जघन्य प्रवृत्तिके सन्मुख हो जाता है।

पवित्रताका कारण स्वात्मभावना है। समयपर सब कार्य करो। समयका समागम कठिनतासे प्राप्त हुआ है अतः इसका उपयोगकर संसारका अन्त करना ही अपना कर्तव्य समझो।

(प्रथम भाद्र वदी १०)

स्थायी शान्ति तभी आती है जब कार्यके करनेके पहिले अशान्तिसे चित्तकी व्यग्रता न हो।

(प्रथम भाद्र सुदी २)

केवल पराराधनमें काल जाता है यही संसारसे पार न होनेका मुख्य हेतु है।

(प्र० भाद्र सुदी ७)

यदि कल्याणकी अभिलाषा है तो अपनेसे जो उत्तम पुरुष हैं उनके सहवासमें काल यापन करो। मूर्खोंका सहस्र आदर उत्तम चरित्रवान् पुरुषोंके तिरस्कारके सामने तुच्छ है।

(द्वितीय भादों वदी ९)

लोक प्रसन्नताके निमित्त अपनी आत्माको गर्तमें पटकना वुद्धिमत्ता नहीं।

(द्वितीय भादों सुदी २)

केवल बातोंसे कार्य नहीं चलता। धर्ममें दृढ़ अध्यवसाय ही सुखका कारण है।

(कुवार सुदी १३)

विचार धाराकी सुचारुता इसीमें है कि विकल्पोंकी परम्परा न आवे।

(कार्तिक वदी ११)

शान्तिके अर्थ बहुत प्रयास किया किन्तु यथार्थ पथ विना शान्तिकी आशा आकाशकुसुम सदृश है।

(द्रोणगिरि कार्तिक वदी १२)

प्रतिदिन अनेक कल्पनाओंका साम्राज्य होता है और साथ ही नष्ट हो जाता है। कल्पनाओंमें कहीं सुख मिलता है ?

(कार्तिक सुदी ३)

वड़ागाँव (टीकमगढ़) में जैन पाठशालाके लिए प्रवन्ध हुआ कि प्रतिगृहमें प्रतिदिन एक सेर अनाज व्यय हो तो एक छटांक पाठशालाको दिया जावे, सवने यह सहर्ष स्वीकार किया।

(वड़ागाँव, कार्तिक सुदी ५)

जाति वहिष्कृत अजुध्याको और उसके घरके अन्य व्यक्तियोंको जातिमें मिलाया।

(अजनोर, कार्तिक सुदी ८)

संसारकी दशा अत्यन्त ही भयानक है, इससे जो उत्तीर्ण हो गया वही मनुष्य जन्म पाकर पवित्रताका पात्र है।

(पपौरा, अगहन वदी २)

श्री अतिशय क्षेत्र अहारजीमें श्रीशान्तिनाथ स्वामीकी अनुपम मूर्तिके दर्शन कर बहुत ही आनन्द हुआ। मूर्तिकी निर्मलता इतनी भव्य है कि एकदम वीतराग भावोंका स्मरण हो जाता है। और भी बहुतसी मूर्तियाँ यहाँपर हैं जो प्रायः खण्डित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह नगर किसी कालमें बहुत ही महान् होगा। ५२ गजकी वेदी भी यहींपर है। रात्रिको आस-पासके बहुतसे लोग आये, श्रीशान्तिनाथ पाठशालाके निमित्त धनकी याचना की गई। अगहन वदी ५ को प्रातःकाल शान्तिनाथ स्वामीकी पूजाके पश्चात् पाठशालाका उद्घाटन हुआ। जातिच्युत शिवलालको १३) प्रायश्चित्त लेकर जातिमें मिलाया।

(अहार, अगहन वदी ४, ५)

केवल मुखरताके कारण ८ वर्षसे वहिष्कृत एक भाईको पञ्च महाशयोंने २५) गजरसाही लेकर जातिमें मिलाया।

(कारी, अगहन वदी ८)

निश्चयसे जब पर पदार्थ विषयक अध्यवसानभाव दुःखोत्पादक है तव अध्यवसानका विषयभूत पदार्थ अवश्य ही त्यागना समुचित है।

सर्वथा सङ्कोच मत करो, सङ्कोच ही संसारकी जड़ है। भय, लज्जा कषाय है। इनके रखनेसे कुछ हित नहीं। जो वस्तु संक्लेश उत्पादक है उसे त्यागो। आजतक यह जीव कषायके वशीभूत होकर ही संसार वन्धनमें पड़ा है, क्योंकि संसारकी जड़ कषाय हैं। इसके वशीभूत होना ही दुःखका मूल कारण है।

(अगहन वदी ३०)

आजके दिन यह वात सुननेमें आयी कि अष्टम एडवर्डने एक प्रेयसीके प्रेमसे विह्वल होकर इतने विपुल साम्राज्यको कि जिसके सदृश वर्तमानमें अन्य राज्य नहीं जीर्ण तृणवत् त्याग दिया ! इससे प्रत्येक मानवीय सृष्टिको आजीवन यह शिक्षा लेना उचित है कि संसारमें सवसे प्रवल वन्धन प्रेमका है। उस वन्धनमें न तो रूपका आदर है और न वुद्धि आदि गुणोंका ही। केवल मनोव्यापारकी प्रवलता है।

यह भी सुननेमें आया कि एक महाराज्ञी जो कि पतिके स्वर्ग-वासके अनन्तर पुत्रके लालन-पालनमें तथा राज्यभारके सँभालनेमें अपना समय स्वाधीनताके सुखमें विताती थी आज एक नर पिशाचके स्नेह जालमें ऐसी जकड़ी गयी कि राज्याधिकारी पुत्रको सूपकार (रसोइयों) द्वारा विष दिलानेमें उद्यमशीला हुई ! परन्तु पुत्रका पुण्य था कि रसोइयाने यह वात राजकुमारसे स्वयं कह दी कि महाराज ! आजका भोजन न कीजिये, इसमें आपकी माताने अधम पिशाच व्यभिचारीके प्रेम जालमें फँसकर आपको मारनेके लिये विषका मिश्रण कराया है। यह भी सुननेमें आया कि वह नर पिशाच स्वयं मोटर द्वारा मरणासन्न हो चुका है। धिक् कामके इस वेगको जिसके द्वारा यह कृत्य हो रहे हैं।

(अगहन सुदी १)

कर्तव्य पथपर स्थिर रहना ही मोक्षमार्गका प्रथम सोपान है। जिसने प्रथम सोपानपर पग नहीं रखा वह पामर मोक्ष मन्दिरके स्पर्शका पात्र नहीं। पात्रताके लिये इस वातकी परमावश्यकता है कि स्वकीय द्रव्यगुणोंका जो विकृतभाव हो रहा है उसे परिमार्जन करनेमें निरन्तर प्रयत्नशीलताका अभ्यास होना योग्य है।

(अगहन सुदी २)

रात्रिको ७ वजे खजराहा पहुँचे। श्री शान्तिनाथ स्वामीके दर्शन किये। १० हाथकी अनुपम दर्शनीय मूर्ति है। अगल-वगलमें

बहुत सुन्दर मूर्तियाँ हैं। लगभग २५ होंगी। सभी सुभग एवं प्राचीन हैं। सहस्रों मूर्तियाँ भग्नावस्थामें हैं जिन्हें देखकर संसारसे विरक्तता आती है। सहस्रकूट चैत्यालयका निर्माण बहुत ही कारीगिरीके साथ किया गया है। जिसका बीजक यह है—

श्री हाटपुत्र श्रीगाहल:

आचार्य श्रीदेवचन्द्र: शिष्यकुमुदचन्द्र:

सम्वत् १०११ समये निजकुलधवलोऽयं दिव्यमूर्तिः स्वशील: शमदमगुणयुक्त: सर्वसत्त्वानुकम्पी स्वजनजनिततोषो धांगराजेन मान्य: प्रणमति जिननाथोऽयं भव्यपाहिलनामा १ पाहिल वाटिका चन्द्रवाटिका पञ्चाङ्गतलवाटिका २ शङ्करवाटिका ३ आम्रवाटिका ४ लघुचन्द्रवाटिका ५ खगवाड़ी–पाहिलवंशे तु क्षये क्षीणे अपरवंशे य: कोऽपि तिष्ठति तस्य दासस्य दासोऽयं मम दत्तिस्तु पालयेत्। गुरु महाराज श्रीवासवचन्द्र:।
वैशाख सुदि ७ सोमदिने

हाटपुत्र: श्रीदेवशर्मा जयतु—

※

७	१२	१	१४
२	१३	८	११
१६	३	१०	५
९	६	१५	४

वैष्णव सम्प्रदायके मन्दिर देखे। बहुत ही प्राचीन और सुन्दर

※ इस बीजकके अङ्कोंको ऊपरसे नीचे या दाएँ से बाएँ किसी भी तरफसे जोड़िये, योगफल ३४ होता है। चौंतीसा यन्त्रके नामसे यह बहुत प्रसिद्ध है। बच्चोंको स्वस्थ रखनेके हेतु बुन्देलखण्डमें यह बच्चोंके गलेमें बाँधा जाता है।

वि० नरेन्द्र:

हैं। करोड़ों रुपयोंकी लागतके हैं। यहाँपर महादेवजीकी इतनी मोटी मूर्ति है कि जिसका व्यास ३ फीटसे भी अधिक है। ऊँची ८ फीट होगी। एक वराहावतार ३ हाथ ऊँचा होगा। एक नन्दी बैठा हुआ २ हाथ ऊँचा होगा।

वङ्केश्वरका मन्दिर अति सुन्दर और उन्नत है। यहींपर कालीजीका मन्दिर भी अतिभव्य और रम्य है। किन्तु मूर्ति वैसी नहीं है जैसी कि जगदम्बा (संसारकी माता) कहनेकी कल्पनामें आती है। मांकी ममता और स्नेहको लोगोंने भयङ्करतासे ढक दिया है। मूर्ति दर्शनसे जो विरक्तता आना चाहिये वह नहीं आई तो मूर्ति दर्शनसे क्या लाभ ?

(खजराहा, पौष वदी ११–१२–१३)

लोककी प्रशंसासे जो अपनेको जालमें फँसा रहे हैं वे कदापि श्रेयोमार्गके पात्र नहीं। श्रेयोमार्गका पात्र वही जीव हो सकता है जो औदयिक भावोंमें मोह राग द्वेषसे शून्य है। राग द्वेष-मोहसे स्वात्माकी रक्षा करना बहुत ही कठिन काम है या कहिये कि वुद्धि पूर्वक असम्भव ही है। अतः अन्ततोगत्वा यही उचित है कि—

जं जस्स जम्हि देसे जेण विहाणेण जम्हिं कालम्हि।
णाहं जिणेण णियदं जम्मंवर अरु व मरणं वा॥
तं तस्स तम्हि देसे तेण विहाणेण तम्हि कालम्हि।
को सक्कइ चालेदुं इन्दो वा अह जिणिंदो वा॥

अतः जो तुमसे बने उत्तम विचार धारासे द्रवित रह शान्ति-मार्ग प्राप्त करनेकी चेष्टा करो। यही मार्ग विद्वद्वर्योंने निर्णीत किया है। विशेष—

१—किसीकी क्रिया देखकर मत हंसो। कर्मज भाव असंख्यात हैं।

२—समयसारकी भावनाको स्थान दो। वचनका व्यय व्यर्थ मत करो। यह योग बड़े पुण्यसे मिलता है।

(पन्ना, पौष सुदी ९)

संसारकी दशा अति शोचनीय है। इससे विरक्त होना सामान्य मनुष्योंके वशकी बात नहीं। जिनका संसार तट भगवानके ज्ञानमें अल्पस्थिति वाला देखा गया हो वही इस संसारसे विरक्त हो सकते हैं। इष्टानिष्ट कल्पनाकर किसीको अच्छा बुरा मानना नितान्त असङ्गत है। अपने-अपने कर्माधीन सभी प्राणी अपने-अपने कार्योंमें संलग्न रहते हैं। जब कर्म सिद्धान्त है तब केवल लौकिक पद्धति सभी बीजरूपसे चली जावे इसीके लिये चरणानुयोगका शासन है।

(पौष सुदी १०)

धर्म निरीहवृत्तिमें है। लोगोंने बाह्याडम्बरोंसे धर्मका स्वरूप आवृत कर रखा है। समझमें नहीं आता कि भविष्यमें क्या गति होगी ?

(रीवाँ, माघ वदी ७)

मनुष्य पर्यायकी सरलता संयममें है। बहुतसे मनुष्य ज्ञानार्जनकर अपनेको कृतकृत्य समझ लेते हैं। यह बड़ी भूल है। ज्ञानसे केवल अज्ञान दूर होता है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसकी आत्मा शुद्ध हो गई किन्तु बहुतसे मानव तो इतने नीच प्रकृतिके होते हैं जो ज्ञान अर्जनकर संसारकी वञ्चना करने हीमें अपनी चतुरताका दुरुपयोग कर ज्ञान गुणकी अवहेलना कराते हैं। हम लोग केवल लोकैषणाके वशीभूत होकर नाना प्रकारके कष्ट सहन करते हैं, निज परणतिके ऊपर दृष्टि नहीं देते। शारीरिक, मानसिक, वाचनिक परिश्रम करते-करते आयुको पूर्णकर फिर उसी चक्रमें आकर संसारसे पार होनेका मार्ग नहीं पाते।

(माघ वदी ७)

असाताके उदयमें दुःखका अनुभव मोह द्वारा होना उचित ही है। नियम पूर्वक चलकर पार्श्व प्रभुके पादतलमें जाकर इस संसार भीमारण्यसे अपनेको सुरक्षित करनेमें ही स्वकीय सर्वशक्तिका सदुपयोगकर निर्मलताकी पात्रताका लाभ लेनेमें इस मनुष्य जन्मको सार्थकता है। यों तो अनेक मनुष्य जन्म मृत्यु करते हैं किन्तु जन्म उन्हींका सार्थक है जिन्होंने इस संसारके मूलस्तम्भ रागादिकोंको समूल दग्ध कर दिया।

(माघ वदी ८)

प्राय: निर्लोभता ही मोक्षका मार्ग है यदि साथमें सम्यग्दर्शन हो।

(रायपुर थाना, माघ वदी ९)

भारतके विनाशका मूल कारण पक्षपात है। सत्यके अन्वेषक अल्प रह गये हैं। केवल जो वंश परम्परा चला आया है, चाहे उसमें तथ्यका अंश भी न हो, उसे ही लोगोंने धर्म मान लिया है। धर्म साधन निराकुलतामें है। जिनका संसर्ग अनेक व्यक्तियोंसे है वही निमित्त कारणापेक्षया अधिक दुःखके मार्गमें पड़ सकता है किन्तु जो बहुजन संघात होनेपर भी स्वात्म तत्त्वसे च्युत नहीं होता वह कभी भी पतनोन्मुख मार्गमें नहीं पड़ सकता।

(लहुरिया, माघ वदी १२)

इस रागने संसारको दुःख सागरमें डुबो रखा है। इसके उद्धारका कोई भी उपाय नहीं। उपाय तो केवल वीतराग सर्वज्ञप्रणीत धर्ममें है परन्तु संसारी उसका आदर नहीं करते। करें कैसे? जिनका संसार दूर है उन्हें वीतराग सर्वज्ञका मार्ग नहीं रुचता।

तत्त्वदृष्टिसे समयसारादि ग्रन्थोंका अवलोकन करना ही आत्माका हित है। ज्ञानार्जनका उद्देश्य एवं फल स्वात्म परणतिमें

कलुषताकी क्षीणता होना ही उचित है। हमारी वासना इतनी मलिन हो रही है कि हम केवल लोक प्रसन्नताके अर्थ ही दान स्वाध्याय ज्ञानादि अर्जन करनेमें संलग्न रहते हैं। न तो इन कृत्यों-से आत्म लाभ होता है और न परको ही लाभ हो सकता है। जिस परिणाममें कलुषताकी मात्रा है वह स्वयं आत्माको पीडक है, अन्यको कहाँतक सुखकर होगा ?

(बहरामगञ्ज, माघ वदी १३)

रात्रिको एक बीमार बटोही आया। रात्रिभर जागता रहा, बहुत प्यासा था, हमने बहुत विचार किया—"आज चतुर्दशीके दिन किस तरह पानी देवें ?" अन्तमें दयाके वशीभूत होकर पानी दे ही दिया।

(लालगञ्ज, माघ वदी १४)

सदाचार वह वस्तु है जिससे प्राणी संसार बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

(सासूपुरा, माघ सुदी ३)

बलहारी क्रोधकी, धिक् इस कषायको, जो जीव इनके वश होकर स्वकीय पर्यायकी हानि सहकर भी इस पिशाचके वशमें रहता है।

(बेगमसराय, माघ सुदी ४)

सब धर्मोंमें धर्म अहिंसा ही है। हमको धर्मकी आवश्यकता क्यों है ? और वह क्या वस्तु है ? 'दुःखनिवृत्तिरेव धर्मः' दुःखकी निवृत्ति ही धर्म है। 'जीवा दुखिनः सन्ति अतोऽवश्यमेव महत्या-वश्यकता ऽस्य प्रत्येकप्राणिनः स्वाभाविकी निरारेका।' जीव दुःखी हैं, इसीलिये इसकी महती आवश्यकता प्रत्येक प्राणीको होना स्वाभाविक है।

(मिर्जासराय, माघ सुदी ५)

काशीहिन्दू विश्वविद्यालय दर्शनीय स्थान है। यहाँ पर मुख्यता हिन्दू धर्मकी है, उसीका विशेष प्रचार है। यहाँपर एक जैन प्रोफेसर पं० सुखलालजी संघवी हैं, उनसे मिले। बहुत ही सहृदय विचारक विद्वान् व्यक्ति हैं।

(काशी, माघ सुदी ७)

तीन बजे सारनाथ जिसे सिंहपुरी भी कहते हैं, पहुँचे। यहाँ एक विशाल जैन मन्दिर है सो तो अनुपम है ही किन्तु एक बौद्ध मन्दिर जो अभी केवल पत्थरका बनाया गया है बहुत ही मनोहर है। उसकी भीतरी दीवालोंपर बुद्धदेवका चरित्रचित्रण जापानके कुशल शिल्पकारों द्वारा किया गया है, जो अति चित्ताकर्षक है। सामने राजा बल्देवदासजीने एक विशाल धर्मशाला ५००००) की लागतसे बनवा दी है। एक बड़ा भारी स्तूप है। एक अजायब घर है, जिसमें प्राचीन मूर्तियोंका संग्रह है। दो आने आदमी कर लगता है जो कि अनुचित है। सर्वोपयोगिनी वस्तुपर कर लगाना अति लोभ...............................का परिचायक है। जैन धर्मशाला भी उत्तम है।

(सारनाथ, माघ सुदी ८)

समागम उत्तम हो तो अच्छा अन्यथा एकाकी रहना ही श्रेष्ठ है। कल्याणकी उत्पत्तिका मूल कारण स्वान्तकी स्वच्छता है। सद्विचारोंको आश्रय दो। कभी भी कुत्सित विकल्पोंसे अपनेको कुत्सित करनेकी चेष्टा मत करो। केवल कल्पनाओंकी परम्परासे अभ्यन्तरकी शोभा नहीं। कल्पनाओंकी निवृत्तिसे आत्माकी उच्चता है। श्रुतज्ञानमें जब आत्मा विकल्प रहित हो जाता है तभी शुद्ध ज्ञानका उदय होता है। श्रुतज्ञानके विकल्पोंका मूल कारण मोहका सद्भाव है।

(पुसौली, माघ सुदी १३)

पर पदार्थकी लिप्सा ही संसार नगरकी सोपान श्रेणी है। ा संयत भाषाका उपयोग करो। किसीके प्रभावमें आकर न्यथा मत कहो। संयमकी रक्षाका मूल हेतु प्रमादका टालना है ग्रपि पञ्च समिति मुनियोंके मूल गुण हैं परन्तु गृहस्थ धर्म भी ाके विना नहीं चल सकता। अतः आंशिकरूपेण श्रावकोंको भी लना श्रेयस्कर है।

उत्तम ग्रन्थके अध्ययनका फल शान्ति लाभ होना निश्चित है। ह तो अनुभवमें नहीं आता केवल बाह्य पदार्थोंके संसर्ग जो बने ए हैं वही दृष्टिगोचर होते हैं, अतः शान्ति लाभके लिये इन पुद्गल र्यायोंको जो मिश्र रूपमें प्रत्यय हो रही हैं त्यागना चाहिये। वास्तव ष्टिसे तो अभ्यन्तर अध्यवसान भाव ही त्याज्य है, बाह्य वस्तु किञ्चित्कर है क्योंकि बाह्य पदार्थ छोड़कर भी अध्यवसान भावका दय होता है। अतः उनका त्याग मोक्षमार्गमें प्रशस्त नहीं है परन्तु रणानुयोगमें यही उपदेश होता है कि इन्हें त्यागो।

श्रुतज्ञानकी अपेक्षा मतिज्ञानका विषय विशद है, क्योंकि ुतज्ञानसे जिस रीतिसे वस्तु बोध होता है वह व्यवहार मात्र । वस्तुका जानपन मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थका ही होगा। ैसे किसीने कहा—"घट लाओ।" यदि वह नेत्र द्वारा घटको ाहीं जानता है तब श्रुतज्ञानसे घट शब्द वाच्य जानकर भी उसे घटका भाव नहीं हो सकता। केवल कहे कि घट शब्दका ाच्यार्थ घट होता है परन्तु इससे अर्थ कुछ भी नहीं निकला। इसी तरह "आत्मा अस्ति (आत्मा है)" इस वाक्यके कितने ही सुन्दर व्याख्यानसे वह समझावे कि 'आत्मा ज्ञानादि गुणोंका आश्रय है' परन्तु जबतक उसे मानस प्रत्यक्ष न होगा तबतक इस वक्तव्यतासे कुछ भी लाभ नहीं। अब हमको भीतरसे यह निश्चय करना परमावश्यक है कि केवल शास्त्रके वाच्यार्थको जाननेसे कल्याण नहीं होगा। कल्याणका पथ आत्माको रागादि दोषोंसे

सुरक्षित रखना है। स्वामी समन्तभद्र महाराजने इस विषयमें बहुत ही उत्तम कहा है—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥

(जहानाबाद, माघ सुदी १४)

एक सिद्धान्त स्थिर करो। पराश्रित मत बनो। परमात्माका आश्रय भी यदि रागादि सहित है तब किसी कामका नहीं। स्वात्मामें जिस कलंकसे आकुलता हो रही है उस कलङ्कके प्रक्षालनका उपाय केवल पराश्रितताका त्याग ही मुख्य है। भोजन सम्बन्धी गृध्नताका त्याग ही स्वास्थ्यवर्धक है। तथा चिन्ताकी व्यथासे रक्षित रहना भी स्वास्थ्यकर है।

(सासाराम, माघ सुदी १५)

उपवास निर्जराका कारण है परन्तु इच्छा निरोध होना मुख्य है। यदि वह नहीं है तब बाह्य भोजनका त्याग सुखकर नहीं, केवल शरीर शोषक ही है।

(मधुवन, फागुन सुदी ७)

शान्तिका कारण रागादि परिणामोंकी अनुत्पत्ति है सो तो दीखती नहीं। केवल बाह्य कारणोंके अभावमें शान्ति भावकी कल्पना कर ली जाती है परन्तु वस्तुतः होती नहीं है।

(मधुवन, फागुन सुदी ८)

स्वतन्त्र बननेकी चेष्टा करो, परापेक्षी मत होओ। लिखने मात्रसे आत्म-भावोंकी व्यक्ति नहीं। उसकी अभिव्यक्ति तो तभी होगी जब उस ओर लक्ष्य देनेकी चेष्टा करोगे।

(फागुन सुदी १०)

जिनको आगम ज्ञान नहीं उनसे दूर रहना। साधर्मियोंका

सहवास मिले तब उनसे अपनी त्रुटियाँ व्यक्त कर निःशल्य होना उत्तम है।

(फागुन सुदी ११)

यदि सुखी बनना चाहते हो तो प्रत्येक प्राणीकी हाँ में हाँ न मिलाओ। बिना प्रयोजन किसीसे भाषण मत करो। अपने दृढ़ निश्चयको मत छोड़ो। जितना अभ्यास करो कमसे कम उसका शतांश भी पालन करो। बहुत बोलनेकी अपेक्षा अल्प कार्य करना उपादेय है। केवल लोकके अनुरञ्जनके लिए क्रिया न करो। आत्मा रागादि दोषोंसे बचे ऐसा उपाय करो।

(फागुन सुदी १२)

आकुलतासे न लौकिक कार्य होते हैं न परमार्थिक कार्य होते हैं। कोई भी कार्य हो उसके सम्पादनके लिये धीरता पूर्वक सम्यग्ज्ञानके विषयीभूत उपायोंका अवलम्बन ही कार्यकारी होता है। देखादेखी किसी कार्यमें पड़ना विज्ञानीका काम नहीं।

(फागुन सुदी १३)

कभी भी अपनी प्रतिज्ञासे च्युत मत होओ, क्योंकि जनसमुदाय तो अपने अपने प्रकृति परिणमन पर ही नाचेगा। यदि आप भी वैसे हो गये तब आप और उनमें कौनसा अन्तर रह गया? केवल शाब्दिक भेद रहा। किन्तु परिणमनसे जो वास्तविक वस्तुकी दशा है उस कालमें है उससे कोई अन्तर नहीं। चाहे लकड़ीकी अग्नि हो, चाहे तृणकी, दाहकता दोनोंमें है। अतः किसी भी तरहका समागम हो स्वकीय परिणतिसे च्युत नहीं होना चाहिये। भला विचारो तो सही अग्निसे तप्तायमान होकर क्या सुवर्ण सुवर्णत्वको त्याग सकता है, नहीं। तद्वत् ज्ञानी जनोंको अज्ञानी मनुष्योंके सदृश अपने निर्मल श्रद्धानको कलुषित नहीं करना चाहिये।

(ईसरी, चैत्र वदी २)

अन्तरङ्गसे ज्ञानका समादर आत्मोन्नतिका परिचायक है।

(चैत्र वदी ४)

बहुत ही उत्तम हो कि दूसरोंकी अपेक्षा अपनी ही समालोचना की जावे। अन्यको भला-बुरा कहनेका अर्थ यही है कि हम भी वैसे ही हैं।

कषायकी जातिको जान लेना ही कषायके दूर करनेका सबसे उत्तम उपाय है। अन्य उपाय चाहे असफल भी हों परन्तु यह उपाय निज लक्ष्यको भेदन करनेमें रामवाणकी तरह अचूक ही रहेगा।

(चैत्र वदी ५)

परिणामोंकी सम्हाल रखना बहुत कठिन बात है।

(चैत्र वदी ६)

किसी भी कार्यके लिये वचनोंसे कह देना उतना ही सरल है जितना कि कल्पनासे राजा बन जाना। परन्तु उद्यम और बाह्य कारणों द्वारा कार्यकी निष्पत्ति सम्पन्न हो, यह दुष्कर है।

(चैत्र वदी ८)

वास्तवमें आत्माकी वृत्ति शान्त है, केवल कलङ्कसे दूषित है। निमित्त तथा स्वीय उपादानके विकाश होने पर आत्मविकाशमें विलम्ब नहीं।

(चैत्र वदी ९)

निरन्तर वाचनकी अपेक्षा स्वात्म-चिन्तन अधिक हितकर है। परके साथ मानसिक शक्तिका दुरुपयोग अन्धेकी लालटेन सदृश है।

(चैत्र वदी १४)

अन्तरङ्गकी भावनाको तब प्रगट करना जब कि उसपर पूर्ण रूपसे अपना अधिकार हो जावे। केवल जन-समुदायको मोहित करनेके लिए सुन्दर भाषाका प्रयोग कर लोगोंको प्रसन्न कर अपनी

महत्ताको आदर देना जघन्य मार्ग है। यह मार्ग कभी भी हित-मार्गका साधक नहीं हो सकता। मोक्षमार्गमें कषायोंकी वासनाओंको कदापि स्थान नहीं मिल सकता। जिन्होंने वर्तमानमें ही क्लेशसे अपने गुणोंकी रक्षा की है, लोक प्रभुताके मदमें मत्त नहीं हुए, परमार्थिक भावोंकी अवहेलना नहीं की है, उद्योगहीन पुरुषोंके सहवासमें जिन्होंने समयका दुरुपयोग नहीं किया, अध्यात्मके पोषक गुरुओंकी अभ्यन्तरसे उपासना की है तथा निवृत्तिमार्ग पर सर्वस्व त्याग दिया वे ही महान् आत्मा शिखरजी जैसी पवित्र निर्वाणभूमिमें निवास करनेके पात्र हैं। वहाँ केवल रहनेको न रहे, किन्तु उन परिणामोंको उत्पन्न करे जो संसारवल्लीका अन्त कर देवें। परिस्थिति अपने अनुकूल बनानेकी चेष्टा करे, आप पास क्षेत्रकी परिस्थितिके अनुकूल न हो जावे। ऐसी प्रवृत्ति करे जिसे अनायास अन्य प्राणियोंमें भी इतनी निर्मलता आ जावे कि वे स्वयं मोक्षमार्गके पथिक हो जावें।

(चैत्र सुदी ८)

यदि हितकी ओर लक्ष्य है तब इन बाह्य कारणोंसे पृथक रहो। बाह्य कारणोंसे तात्पर्य यह नहीं है कि इन निमित्त कारणोंको हटाया जावे किन्तु जिन परिणामोंमें यह सहकारी कारण होते हैं वे परिणाम ही हेय हैं। उनकी पहिचानके बिना केवल बाह्य कारणोंको हेय विचारना व्यर्थ है।

(चैत्र सुदी ९)

जहाँ आत्मामें रागादि भावोंको आश्रय मिलेगा वहाँ सम्यक् गुणका परिणमन असम्भव है। क्योंकि विरोधी दो परिणमन एकत्र अवस्थित नहीं रह सकते।

(चैत्र सुदी १०)

शास्त्राध्ययन करना बहुत ही उत्तम है परन्तु उसके प्रयोजन पर दृष्टि देना और अधिक लाभप्रद है। अनन्त जन्मार्जित ज्ञानकी

अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त कालावधि भी कार्य पद्धतिको लक्ष्यकर तद्रूपानुकूल उद्यम करना श्रेयोमार्गकी प्राप्तिका साधन है। केवल आजन्म मरणावधि मोक्ष कथाका ही अभ्यास करनेसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति जलविलोलन क्रियासे हस्तमें चिक्कणता लाने जैसी है। केवल क्रियाहीन कथा उपयोगिनी नहीं। पुरुषार्थका कथन और है पुरुषार्थके अर्थ तद्रूप होकर पुरुषार्थकी प्राप्ति कर लेना अन्य बात है। बात कहनेमें जितनी सरल है, करनेमें उतनी ही कठिन है। "रागादि विषयोंको छोड़ो" यह कथा करना और बात है, रागादिको त्याग देना और बात है। क्या इसका नाम पुरुषार्थ है कि हमने रागादिकके विषयीभूत पदार्थोंको छोड़ दिया? इसके माने पुरुषार्थ नहीं। तब क्या करें? कोई ऐसा उपाय दृष्टिगोचर न तो बाह्यमें ही है और न अभ्यन्तर ही है। शास्त्रोंमें जो उपाय लिखे हैं वे उत्तम हैं पर केवल उनका जानना कदापि हितकर नहीं हो सकता। वही भाव सुन्दर और उत्तम है जो आत्माको इस अपावन कषायभूमिसे पृथक् कर पवित्र शुद्ध परिणामोंके जहाँ अंकुर समुदाय हों वहाँ ले जावे। परन्तु यह चेष्टा केवल कहनेकी नहीं। इस ओर कुछ प्रयत्न करनेकी चेष्टा करना स्वीय पुरुषार्थका कार्य है। केवल वाक् पटुता तो छल है। छलसे मृगतृष्णावत् कुछ नहीं मिलता।

(चैत्र वदी १३)

त्यागका मार्ग अभ्यान्तर कुशलतामें है। यदि अन्तरङ्गमें पवित्रताका सञ्चार न हुआ तब यह बाह्य आचरण दम्भ है। अभ्यन्तर जनन शक्तिके विना बीजकी तरह अभ्यन्तर निर्मलता-शून्य बाह्य आचरणकी कोई प्रतिष्ठा नहीं। लौकिक प्रशंसाके वशीभूत होकर केवल कायकी कृशतासे यथार्थ लाभकी तो कथा ही दूर रहो; केवल शारीरिक कष्ट ही सहन करना पड़ता तब भी कुछ हानि न थी किन्तु साथमें तीव्र बन्धकी भी स्थिति पड़ जाती

है! अहह! मोहकी कैसी प्रभुता है जिसके शासनमें यह जीव मोक्षमार्गका तो पात्र ही नहीं साथमें उसके तीव्र विपाकमें शुभ परिणामोंसे भी वञ्चित रहता है।

(चैत्र वदी ३०)

परिमित भाषण हो, वह भी ऐसा कि दूसरोंको अहितकर न हो। जिसके समागममें दुःख हो उस समागमसे दूर रहो। चरणानुयोगका मूल तात्पर्य आत्माको रागादि परिणामोंसे रक्षित रखना अर्थात् नवीन रागादिकोंकी उत्पत्ति न होना ही चारित्रका तत्त्व है। यदि केवल काय कृशताकी मुख्यता है तव उसका क्रियाकाण्डके अन्तर्गत समावेश करना ही उचित है; क्योंकि जिस क्रियामें अन्तस्तत्वकी प्राप्तिका उद्योग नहीं उस क्रियाकी कोई विशद कीर्ति नहीं।

(चैत्र सुदी १ सं० १९९४)

चित्तकी चञ्चलताका कारण अन्तरङ्ग कषाय है। वैसे चित्तता चैतन्य आत्माके चेतना गुणका परिणमन है, किन्तु कषाय देवीकी इसके ऊपर इतनी अनुकम्पा है कि जागृत अवस्थाकी तो कथा दूर रहे, स्वप्नावस्थामें भी उसे प्रेमका प्याला पिलाकर वे होश बनाये रहती है। और यह प्याला भी ऐसा है कि मद्यसे भी अधिक उन्मत्त करता है। मादक द्रव्यका पान करनेवाला तो उतना उन्मत्त नहीं होता, बाह्य शरीरकी चेष्टाएँ ही उसकी अन्यथा दीखतीं हैं, घर जाना हो तो स्खलद्गमन करता हुआ घरके सम्मुख ही जाता है परन्तु यहाँ तो उसके विपरीत आत्मतत्त्वसे बाह्य शरीरमें ही स्वतत्त्वका अध्यवसाय करके अहर्निश उसीके पोषणमें पूर्ण शक्तियोंका उपयोग करके भी यह मोही जीव आनन्दका पात्र नहीं होता। बलिहारी इस मिथ्यादर्शनकी।

इस संसारमें प्रथम तो इस सिद्धान्तका निश्चित होना कठिन है कि हम कौन हैं, क्योंकि इसमें अनेक विप्रतिपत्ति हैं। उनका

निराकरण करके स्वसिद्धान्तको स्थिर कर देना साधारण बुद्धिशाली मनुष्योंके वशकी वात नहीं। समय वहुत ही अल्प है। यदि कोई शास्त्रद्वारा इन वातोंका निराकरण करना चाहे तव वह बुद्धिमानोंका कार्य है। फिर भी यह निर्विवाद है कि जो 'अहम्' प्रत्ययका विषय होता है वही द्रव्य आत्मद्रव्य है, उसकी ज्योंकी त्यों अवस्थाका लाभ ही हमारा हित है। 'ज्योंका त्यों' इसका यह अर्थ है कि पर निमित्तसे आत्मा स्वीय परिणतिमें कर्मचेतना और कर्मफल चेतनाका कर्ता भोक्ता वनता है और उसका अभाव ही ज्ञानचेतनाका मूल कारण हो जाता है। अर्थात् जव यह प्राणी यह जान लेता है कि यह जो विविध रागादिक भाव मेरे आत्मामें हो रहे हैं, तात्त्विक दृष्टिसे मैं इन भावोंका कर्ता नहीं हूँ। अर्थात् वर्तमानमें तो मैं अवश्य इन भावोंके साथ तन्मय हो रहा हूँ क्योंकि यह सिद्धान्त है कि जो द्रव्य जिस काल व जिस क्षेत्रमें जिस रूप परिणमनको अङ्गीकार करता है, उस कालमें तन्मय हो जाता है। तव जव हम अपनी परिणतिको कषायसे लिप्त कर देंगे उस कालमें हम स्वयं तन्मय हो जावेंगे। आगामी कालमें परिणाम द्वारा अर्जित कर्मवन्धके विपाकमें जो दशा होगी वह तो भोगनी ही होगी। यह तो दूर रहो, किन्तु वर्तमानकालमें हम स्वयं कषायाग्निसे सन्तापित रहेंगे और परिणामोंमें कलुषताकी कालिमा ही स्वेष्ट सुखका घात कर आंशिक भी आकुलता परिणतिजन्य सुधारसका आस्वाद न पा सकेंगे। तव यह वात समझमें आती है कि कर्मचेतना ही कर्मफलचेतनामें साधक पड़ती है। अतः हमको उचित है कि कार्य करनेमें अहम् बुद्धिको आश्रय न दें।

(चैत्र सुदी ५)

विशेष रूपसे किसी लौकिक पदार्थकी विवेचनामें समयका दुरुपयोग करना ज्ञानी जीवोंको अकिञ्चित्कर है।

(चैत्र सुदी ५)

चर्याकी स्थिरताका न होना ही संसारके सद्भावका सूचक है। केवल बातोंकी सुन्दरताने जगतको ठग लिया। जगत तो ठगाया ही जाता है, आप स्वयं ठगाया जा रहा है।

(चैत्र सुदी ६)

जिन्होंने संकट कालमें धैर्य्य अवलम्बन कर दृढ़ निश्चयसे अपने आत्माके पाटीसे उपयोगमें लाये जावें, बुद्धिमें नहीं आता।

(चैत्र सुदी ११)

आजके दिन संसार सागरमें निमग्न प्राणीगणके उद्धारार्थं प्रभु श्रीमहावीर स्वामीका जन्म हुआ, अतः मेरे निजमें मेरी आत्माने यह सम्मति दी कि आजसे मुझे उचित है कि जो कार्य हितकर है उसे हितकर प्राणियोंके चारित्रानुरूप बनानेका यत्न करो केवल परस्पर "अहोरूपमहोध्वनिः"के सम्भाषणकी तरह व्यर्थ प्रशंसाकी आशा कर लोगोंकी वञ्चना न कर। इससे अपनी ही वञ्चना है। परकी प्रशंसासे अपना आत्मोत्कर्ष नहीं होता।

(चैत्र सुदी १३)

पुस्तकावलोकन केवल चित्तकी चञ्चलताको स्थिर करनेके लिये है। चित्त चञ्चलतासे आत्माकी हानि नहीं है हानि तो कलुषता मिश्रित चञ्चलतासे है। चञ्चलता वह परिणति है जो झटिति झटिति हो। ऐसा परिणमन दुःखका जनक नहीं। जिस परिणमनमें रागादि भावोंका सम्मिश्रण है वही तो आकुलतोत्पादक होनेसे दुःखद है।

(चैत्र सुदी १४)

सभी ओरसे चिन्ताओंकी चिन्ता छोड़ना ही ध्यानकी सामग्री है।

(चैत्र सुदी १५)

निस्पृहताके लिये बाह्य परिग्रहकी न्यूनता ही कार्यकारिणी है। बिना आभ्यन्तर मूर्च्छाके यह बाह्य वस्तुएँ बलात्कार द्वारा कौनसी

निस्पृहतामें बाधक हैं ? परमार्थसे तो स्वोत्थ मूर्च्छा ही इनमें स्वीय प्रयोजनत्वके सद्भावकी कल्पना द्वारा इनका संग्रह करानेमें जीवको लालच उत्पन्न कराती है और तब जीव यद्वा-तद्वा बाह्य द्रव्य हिंसा चोरी आदिमें प्रवृत्ति करता है। यद्यपि औदारिक शरीरके लिये अन्नादिक बाह्य पदार्थोंकी आवश्यकता है इसको सभी विज्ञानी व मूर्ख स्वीकार करेंगे, किन्तु मर्यादासे अधिकका संग्रह बिना तीव्र मूर्च्छाके नहीं होता। एकबार अन्तरङ्गकी निर्मलताको उत्तेजना देकर इनको त्याग कर स्वीय स्वरूपकी निर्मलताका उपाय तो करो। देखो, महामुनि भी असाताकी उदीरणामें क्षुधाजन्य वेदनाके प्रतीकारार्थ आहारके लिये ईर्या पथादि करते हुए उद्यम करते हैं। यदि निरन्तराय आहारकी प्राप्ति होगी तब ग्रहण करते हैं किन्तु अनुकूल भिक्षाका निमित्त न मिले तब खेदखिन्न न होकर सन्तोष पूर्वक स्वाध्याय आदि क्रियाओंको चरणानुयोगके अनुकूल करते हुए स्वकीय काल यापन करते हैं।

(वैशाख वदी ४)

मार्मिक आनन्दका आस्वादन राग-द्वेषके विना नहीं आता।

(वैशाख वदी ५)

श्री १०८ दिगम्वर, अम्बरवत् निर्मल, कुन्दकुसुम सम धवल कीर्ति, ग्रैष्म मध्याह्न मार्तण्ड चण्ड तेज सम तपस्वी श्री कुन्दकुन्द स्वामीकी सेवाको त्याग कर जन्मान्तरकी समागमाभिलाषा इस वातकी अनुमापक है कि अभी हमारे श्रेयोमार्गकी प्राप्तिमें वहुत काल है। यदि ऐसा न होता तब हम एक महान् आचार्यको प्रणालीको अभ्यन्तरसे ग्रहण करनेमें संकोच न करते। परन्तु यहाँ तो ऐसा पक्का रंग कल्मपताका चढ़ा हुआ है कि और रंग सब ऊपर ही ऊपर रहते हैं, उस पक्के नील रंगकी आभामें तिरोहित हो जाते हैं।

(वैशाख वदी ७)

यदि मनोवृत्तिको चञ्चल न बनाया जावे तब अनायास विशेष शान्ति मिलती है। कल्याणका पथ आपमें है, परन्तु हम अज्ञानी जीव व्यामोहमें आकर उसका परमें अन्वेषण करते हैं। निमित्त कारणमें प्रायः प्राणियोंकी प्रवृत्ति उसके लिये रहती है। कोई तो उनमें शास्त्रार्थके पक्षपाती हैं जो बिना द्रव्यागमके भावागम नहीं होता अतः द्रव्यागममें अपनी सर्व शक्तिका व्यय करके भी पार नहीं पाते। कोई गुरुकी परिपाटी प्रणाली अनुकूल बनकर आत्महित करनेकी प्रबल चेष्टा करते हैं।

(वैशाख वदी ८)

यदि आत्मामें दयाका अंकुर है तव प्रमादको टालकर अहिंसक होनेका प्रयत्न करो। केवल पराधीन होकर भोजनकी ऊहापोह करना तथा भृत्यों पर रौब गाँठना, तथा भोजन सम्बन्धिनी अभ्यंतर लालसाकी सन्तानमें मग्नता, निरन्तर स्वकीय अहम्मन्यता, पर निन्दा, आत्म प्रशंसा, एवं व्यर्थकी जल्पना इत्यादि परिणामोंका होना अनन्त संसारका अनुमापक है। धर्म वाह्य बनावटसे नहीं होता, उसका परमार्थ रूप तो मन, वचन और कायके व्यापारसे परे हैं। उसकी प्रत्यक्षतामें इन्द्रिय मनकी सामर्थ्य नहीं। मेरा तो यह दृढ़तम विश्वास है कि वह वस्तु परमावधि, सर्वावधि तथा मन:पर्यय ज्ञानियोंके ज्ञानगम्य नहीं। मोहका अभाव होनेपर जिसे क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती जीव वास्तविक निर्ग्रन्थ व्यपदेशको प्राप्त होकर भी उस आत्म द्रव्यमें अपूर्व अनन्त सुखका कारण विद्यमान होनेपर भी उसके अनुभव करनेमें अक्षम है। उसकी महिमा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तरायके नाश होनेपर केवलज्ञानी ही जान सकते हैं।

(वैशाख वदी १०)

अब इस दृश्य जगत्में केवल हमारे ज्ञानमें अनुभूत दो तरहके ज्ञेय भासमान हो रहे हैं—एक तो पञ्चेन्द्रियके विषय रूप, रस,

गन्ध, स्पर्श, शब्द तथा यह जिनके आश्रय हैं वह पदार्थ, और एक वह वस्तु (पदार्थ) जिसमें यह विषय हो रहे हैं। मानना ही होगा कि दर्पणमें जो बिम्ब भासित हो रहा है वह नैमित्तिक है किन्तु जिस निमित्तसे यह बिम्ब प्रतिफलित हुआ है वह और जिसमें यह प्रतिबिम्बित हो रहा है वह दो पदार्थ हैं। इसी प्रकार यह मूर्त पदार्थ जिसको कि हम पुद्गल द्रव्यसे व्यवहार करते हैं और जिसमें यह भासता है वह दो पदार्थ हैं। शेष आकाशादि अमूर्त पदार्थ केवल आगम ज्ञानके द्वारा ही जाने जाते हैं। थोड़े समयको उनके विचारको गौण कर दो। हमारी इतनी प्रखर बुद्धि नहीं कि हम उनका विशेष विचार कर सकें। हमें उन पदार्थोंका विचार करना है जिनके विलक्षण सम्बन्धसे यह दुःखमय संसार हो रहा है। वे पदार्थ यही हैं जो पञ्चेन्द्रियोंके विषय होते हैं और जिन्हें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दसे हम व्यवहार करते हैं। यद्यपि पुद्गल द्रव्य भी अखण्ड है किन्तु पञ्चेन्द्रिय द्वारा उसे हम पाँच प्रकारसे निरूपण करते हैं। अब एक स्पर्शको लीजिये। जब स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्शका ज्ञान होता है, तब उसे स्पर्शन प्रत्यक्ष कहते हैं। यहाँ पर होता क्या है? स्पर्शका ज्ञान हमें हो जाता है, ज्ञान स्पर्शमय नहीं होता। जब स्पर्श पृथक् रहा और ज्ञान पृथक् रहा फिर भी हमारी उस स्पर्शमें जो इष्टानिष्ट कल्पना होती है वह क्यों होती है? इसका कारण मेरी तुच्छ बुद्धिमें यह आता है कि हमारी अनादि कालसे ऐसी वासना है कि हम देहको ही आत्मा मान रहे हैं। अब जब शीत काल होता है तब शरीरमें शीत स्पर्शका सम्बन्ध होनेसे हमें शीत स्पर्शकी प्रतीति होती है। उसके लगनेसे शरीरमें कम्प होता है वह हमें सुहाता नहीं है अतः हम झटिति उस ज्ञेयमें अनिष्ट कल्पना कर लेते हैं, क्योंकि उस कालमें शीतके सम्पर्कसे पुद्गल शरीरमें कम्प होने लगता है। कम्पके दो कारण हैं—अभ्यन्तर मोह और शीतल

वस्तुका सम्पर्क। अतः शीतका स्पर्श न हो, प्रायः लोग ऐसा ही यत्न करते हैं। इस यत्नसे यद्यपि तात्कालिक शान्ति देखी जाती है किन्तु नित्य शान्ति धारा वहे यह नहीं होता। उसका यत्न तो यह है कि आत्मामें वैभाविक परिणाम न हो। उसका कारण तत्त्व विचार है क्योंकि आत्मद्रव्य पृथक है और पुद्गल द्रव्य भिन्न है। इन दोनोंका अनादि कालसे एक ऐसा सम्बन्ध है कि दोनों ही स्व स्वरूपसे च्युत हैं। पुद्गलकी विभाव पर्याय रहो, उससे हमारी क्षति नहीं, क्षति तो हमारा जो ज्ञाता दृष्टा स्वभाव है उसके स्वस्वरूप न रहकर, इष्टानिष्ट कल्पना द्वारा विपरीत एवं आकुलित रहनेमें है।

(वैशाख वदी ११)

राग-द्वेषके विजयकी कथामें अनेक प्राणी सिद्धहस्त होते हैं, किन्तु जब उन भावोंका उदय काल आता है उस समय आत्म-स्वरूपसे च्युत न होना श्रद्धावान् मनुष्योंके ही वशकी बात है।

(वैशाख वदी १२)

रागादिककी कथा करते-करते कुछ आनन्द नहीं आया। यदि कोई शत्रुके गुण गणोंकी निरन्तर भूरिशः प्रशंसा करता रहे और उनसे निरन्तर पराभव पावे, शत्रुके निपातकी सामग्री भी पास न हो तब केवल उस कथोपकथन द्वारा दुःख ही होगा।

यदि स्वकीय पुरुषार्थमें रागादिकके विजय करनेकी शक्ति नहीं तब उसकी प्रशंसाकी कथा दुःखावहा ही है।

जो मनुष्य स्वायत्त एवं स्वजन्य शत्रुको विजित करनेमें अक्षम है वह क्या परका कल्याण करेगा ?

(वैशाख सुदी १)

प्रतिज्ञाका तात्पर्य यह है कि हमें करणानुयोगके द्वारा प्रतिपाद्य पदार्थके लिये चरणानुयोग द्वारा प्रतिपादित आचरणको द्रव्यानु-

योगके अनुसार पालन करनेमें यत्नशील होना चाहिये। केवल चरणानुयोगमें है अतः हमें पालना चाहिये यह मान लेना समुचित नहीं। चरणानुयोग क्या वस्तु है सो अभ्यन्तरसे विचारो। अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषायके क्षयोपशमकी तरतमता तथा प्रत्याख्यान और संज्वलन कषायके उदयकी तरतमतामें जीवका जो कुछ आचरण है उसीका नाम श्रावक धर्म और मुनिधर्म है। वह वस्तु बनानेसे नहीं बनती। घट विषयक ज्ञानके प्रयत्नसे घट ज्ञान उत्पन्न होता है या घट ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे घट विषयक अज्ञानकी निवृत्ति होती है? इसकी मीमांसा करो। मेरी तो यह श्रद्धा है कि अभ्यन्तर क्षयोपशमसे ही यह बात होती है। फिर भी उसमें क्वचित् बाह्य कारण होनेसे क्षयोपशमकी सत्ता बनी रहती है। किन्तु ज्ञानोपयोग नहीं होता। परन्तु यहाँकी कथा इससे कुछ विसदृश है। यहाँ तो प्रतिपक्षी कषायके क्षयोपशममें चाहे बाह्य प्रवृत्ति न भी हो, फिर भी प्रतिपक्षी कषायके उदयमें जिन प्रवृत्तियोंका बन्ध होता था वह रुक जाता है। अभ्यन्तरमें शान्तिका उदय हो जाता है। यहाँ पर केवल क्षयोपशमसे तावत्काल बाह्य कारण द्रव्येन्द्रियादि न मिलने पर. वह ज्ञान उपयोगमें नहीं आ सकता। और न तज्जन्य इष्टानिष्ट कल्पना भी होती है।..........................

(रुकती है) इसमें कुछ विवेकसे कार्य लेनेकी आवश्यकता है। चरणानुयोगके अनुकूल चारित्र पालनेका ध्येय आत्म शान्ति है, वह कब है? जब राग द्वेष निवृत्तिके लिये वह क्रिया की जाती है। केवल बाह्य दृष्टिसे व्रत धारण करनेका फल बाह्य लोक प्रतिष्ठा अवश्य हो जाती है पर यह प्रतिष्ठा हमें गर्त पतनका परम्परा कारण हो जाती है, क्योंकि संसारमें उस प्रतिष्ठाके द्वारा हमें अभिमान कषायको जाग्रत अवस्था होती है तथा प्रतिष्ठाकारक व्यक्तिमें रागका जनक होती है। एक ही कारणसे विरुद्ध कषायोंके हम पात्र हो

जाते हैं। मान होनेसे द्वेष और प्रेम होनेसे राग कषाय तथा यही विपरीत अभिप्राय होनेसे मिथ्यादर्शन, तथा मिथ्यात्वके सहकारसे जो कुछ हमारा ज्ञान और आचरण है वह मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रके व्यपदेशमें प्रयोजक होता है और इन तीनोंकी एकता ही संसार गर्तमें पतनका हेतु हो जाता है। अतः केवल बाह्य दृष्टिसे चरणानुयोग पालना श्रेयस्कर नहीं।

(वैशाख सुदी ३)

अभ्यन्तर शान्तिके अभावमें कभी तो हम बाह्य कारणोंको दोष देते हैं, कभी अपनेको दोष देकर समाधान कर लेते हैं, कभी भगवान्ने ऐसा ही देखा है कहकर आत्मसम्बोधन कर लेते हैं। समझमें नहीं आता ऐसा निरुद्यम भाव कबतक रुलावेगा ? उठो ! एकबार स्वात्माकी दिव्य शक्तिका सहारा लेकर इन कल्पित कल्पनाओंका निपातकर इस आनन्द समुद्रके तटकी सुखद समीरका संस्पर्श कर सावधान होकर साहस कर इस अनादि संलग्न दुराग्रहसे सर्मजित संसार भ्रमणके मूल कारण मोहके पौरुषको कम्पायमान कर दो। एकबार भी यदि उसे नीचा दिखानेका प्रयत्न कर तुम सफल हुए तब फिर उसकी शक्ति आपके सम्मुख आनेकी न होगा परन्तु यहाँ तो हम मोह शत्रुके साथ लड़ाई करनेको उद्यम नहीं करते किन्तु इसकी जो सेना है और उस सेनाके उद्भव होनेमें जो वाह्य निमित्त हैं, उन्हें पृथक् करनेकी चेष्टा करते हैं। कोई शत्रुकी मियान को लेकर चूर्ण कर देता है, इस तरह यदि असि (तलवार) को रखनेका स्थान ही नष्ट हो जावे तब शत्रु अनायास असि फेंकनेका प्रयत्न करेगा। इसी तरह हमारा भी भगीरथ प्रयत्न स्त्री पुत्रादि वाह्य पदार्थोंके त्यागमें उपक्षीण हो जाता है। यदि वहुत लम्वा प्रयास किया तब पौद्गलिक शरीर के पोषक घृतादि रसके त्यागमें पर्यवसान हो जाता है। वहुत दूर गये तव शुभोपयोग साधक अरिहन्तादिको वन्धका कारण समझ केवल निरुद्यमी होकर अभ्यन्तर

संक्लेश जालमें फँसकर न इधरके और न उधरके रह जाते हैं। चौवेजी छब्बे वनने जाते हैं पर दुवे वनकर रह जाते हैं। परमार्थ तत्व तो यह है कि जैसी कषायकी मन्दता हो, अथ च वाह्य द्रव्यादि सामग्रीकी अनुकूलता हो, उस समय त्यागका जो भाव हो, उसका निर्वाह आजन्म करे। तथा परिणाम विशुद्धताके अनुकूल पूर्व व्रतोंकी रक्षा करता हुआ उत्तर वृद्धि करे।

त्याग आत्मासे सम्वन्धित है और मन, वचन कायके व्यापारसे परे हैं। यह तो अभ्यन्तर शुद्धिके सहकारी कारण हैं, इनका व्यापार कुछ शुद्धिका प्रयोजक नहीं किन्तु न यह संसारके कारण हैं और न उसके अभावके ही कारण है। जैसे यदि अभ्यन्तर प्रमाद है तव वाह्य शरीरादि द्वारा हिंसा हो या न हो, पर बन्ध अवश्यम्भावी है। और प्रमादके अभावमें वाह्य हिंसा भी हो जावे तव भी वन्ध नहीं। अतः वाह्य भोजनादि सामग्रीका परित्याग कर तपस्वी भी हो जावें किन्तु अन्तरङ्ग लालसाके सद्भावमें पारमार्थिक तपस्वी नहीं। तपस्विता तो दूर रहे, प्रत्युत मिथ्या चारित्री हैं। अतः अन्तरङ्ग भावके विना वाह्य आचरण दम्भ है। व्रत इस वास्ते नहीं कि लोग हमें व्रती कहें अपितु हम संसार दुःखसे वचें इसलिये है।

दुःखकी परिभाषा आकुलता है। उसकी विरोधिनी निराकुलता है। आकुलताका जनक रागादि जवतक जीवित है तवतक निराकुलताकी जनन शक्ति वीतरागता नहीं। जव वीतरागता ही नहीं तव निराकुलता कैसी? त्यागका तात्पर्य तद्विपयक रागादि न होना है। यहाँ तो एकको छोड़ अन्य द्वारा शान्ति करना प्रत्युत विपय उपाय कर आकुलताकी ही उत्पत्ति कर लेना है। अतः यह त्याग मेरी समझमें तो कालान्तरमें विशेप रागादिकका ही उत्पादक है।

(वैशाख सुदी ४)

पदार्थके परिणमन पृथक्-पृथक् हैं। जैसे मयूरके जो नील पीतादि वर्ण हैं। वह जो स्वद्रव्य स्वभावेन परिणमते हैं वह मयूर ही है। तद्वत् जो पुद्गल द्रव्यात्मक मोह कर्मकी विपाकावस्था है उसका तादात्म्य उसी पुद्गल द्रव्यमोह कर्मसे है। किन्तु उसके निमित्तको पाकर जो आत्माकी स्वकीय चारित्रात्मक निश्चल परणति है वह रागादि रूप परिणमती है। अथ च आत्मामें ज्ञान गुण है जिसका स्वभाव पदार्थ प्रतिभासित होनेका है अतः वह परिणति उसमें प्रतिबिम्बित हो जाती है। उससे हमें यह प्रतीत होने लगता है कि ज्ञान रागादि रूप हो गया। वस्तुतः ज्ञानमें रागादिक तो प्रतिभासित हुए पर ज्ञान रागादि रूप नहीं हुआ। जैसे मयूरके प्रतिबिम्बसे दर्पणकी स्वच्छता कुछ मयूररूप नहीं हुई। यदि नहीं हुई तो उसमें जो भासमान होता है वह मिथ्या हुआ और हमें जो उसका ज्ञान होता है वह भी मिथ्या हुआ सो भी नहीं। किन्तु दर्पणकी स्वच्छता मयूर सन्निकटतासे विकृत हो गई और वह विकृति रूप परिणमन दर्पणका ही है और वही हमें ज्ञात होता है। इसका अर्थ यह कि वैसे दर्पणको देखकर हमारे ज्ञानका परिणमन दर्पणवत् भासमान होने लगता है, न कि ज्ञान दर्पण हो जाता है। अब देखो परम्परा कहाँ तक जाती है? अब यहाँ पर यह विचारणीय है कि हमको इष्टानिष्ट कल्पना होती है उसमें क्या पर पदार्थ कारण है? नहीं, हमारे ज्ञानका ही परिणाम हमें इष्टानिष्ट कल्पना करा देता है, क्योंकि संज्ञी जीवमें रागद्वेषकी कल्पना प्रायः पदार्थके ज्ञानमें प्रतिभास होते ही अन्तर्मोहकी सत्ताके उदयमें बलात्कार हो जाती है। अतः जहाँतक बने बाह्य वस्तुकी संगति अभ्यन्तर अध्यवसानका निमित्त जान त्यागना किन्तु इसीके ऊपर अवलम्बित न रहना। अभ्यन्तर कलुषताकी ओर भी निरन्तर परामर्श करते रहना तथा उसका उपाय उसकी कथा ही न करना केवल उपयोगको शुद्ध चिद्रूपमें लगा देना, चिद्रूपमें न लगे तब यह

विचार प्रणाली चिद्रूपके साधक जो तत्त्व हों उनमें रमा देना। ऐसी रमाना कि चिद्रूप वाधक कलङ्ककी कालिमा धोकर ही निकले। यदि चिद्रूप साधक तत्त्वमें परिणाम न जावे तब कुछ प्रयास न करना, चिद्रूप साधकके जो बाधक तत्त्व हैं उन्हींमें तल्लीन हो जाना, शुद्धोपयोगकी कथा तक भूल जाना किन्तु पर्यवसानमें इतना ही फल निकालना जो यही परिणति चिद्रूपकी बाधिका है। यह सम्यग्ज्ञान यदि आपके विचारका अन्तिम निष्कर्ष हो जावे तभी आप चिद्रूपको पा सकेंगे। चिद्रूपकी प्राप्ति कोई दुर्लभ नहीं। दुर्लभ तो यों हो रही है जो हम उस ओर लक्ष्य नहीं देते। केवल जो पदार्थ सम्मुख आवे कूप मण्डूक के सदृश मान सरोवरकी कल्पना कर आत्मामें सन्तोष कर लेते हैं। अथवा मनमें जो कुछ कल्पना हुई उसीको यथार्थ मार्ग समझ आगे क्या है इसकी ओर लक्ष्य नहीं देते। बिना पूर्व स्थान छोड़े उत्तरका मिलना जैसे असम्भव है तद्वत् शुभाशुभ परिणामोंके अभाव विना शुद्ध चिद्रूपकी प्राप्ति प्रायः दुर्लभ ही है।

(वैशाख सुदी ९)

क्षमाकी याचना करना अपराधी बनना है। यदि तुमने अभ्यन्तरसे अपराध ही नहीं किया है तब क्षमा माँगनेकी आवश्यकता ही क्या है? क्षमा भी कोई क्या करेगा, जिनसे क्षमा याचना कर रहे हो वे यदि भीतरके दयालु और व्रती हैं तब तो वह चरणानुयोगकी पद्धतिसे सहर्ष आपके परिणामोंमें विशुद्धताके निमित्त हो जावेंगे और यदि वक्राभिप्रायवाले हैं तब यही होगा कि जिससे क्षमा माँगो वह यही समझता है कि हमसे यह पराजित हो गये हैं, हार मान गये हैं, हमारी शरण आये हैं अतः क्षमा माँगनेकी चीज नहीं किन्तु अन्तरङ्गसे किसी बाह्य वस्तुके ऊपर स्वप्नमें भी अनिष्ट कल्पना न करो, यही परमार्थसे क्षमा है। यदि तुमने

वास्तविक अभिप्रायसे अन्यके अनिष्ट होनेके भावावेशमें स्वात्माको कलङ्कित कर लिया है तब क्षमा माँगनेसे ही क्या लाभ ? भविष्यमें कभी भो ऐसा भान न हो, यही क्षमा है। दिखावटी या बनावटी लौकिक शिष्टाचार क्षमा नहीं हैं, उससे आत्मशुद्धि सम्भव नहीं है। शुद्ध होनेका सरल उपाय तो यह है कि निरन्तर शुद्ध चिद्रूपका स्मरण करें।

आपत्ति यह है कि अशुद्ध चिद्रूपके सद्भावमें शुद्ध चिद्रूपकी उपासना कैसे हो, क्योंकि जैसे जब शरीर अशुचि होता है तब मनुष्य पूजन आदि पवित्र कार्योंका अधिकारी नहीं हो सकता है। आपका यह कहना तथ्य है पूजनादिका पात्र न हो परन्तु स्मरणका पात्र तो रहता ही है। अतएव—प्रतिदिन पूजामें पढ़ा भी जाता है—

'अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् परमात्मानं सः बाह्याभ्यन्तरे शुचिः ॥'

तद्वत् अशुद्ध चिद्रूपके सद्भावमें शुद्ध चिद्रूप परिणमन न हो सके किन्तु शुद्ध चिद्रूपके श्रद्धा ज्ञानमें क्या क्षति है ?

(वैशाख सुदी १२)

शान्तिका उपाय संसारमें नहीं तो क्या मोक्षमें है ? नहीं, शान्ति का उपाय मिथ्याभावोंके त्यागसे ही उदय होता है। जब यह जीव मिथ्याभावोंके मन्द होनेपर तत्त्वज्ञानका अभ्यास करता है, उस समय अपनी भूलपर पश्चात्ताप करता है और फिर भ्रमात्मक बाधाओंको पृथक् कर स्वरूप साधक कारणोंके अर्जन करनेमें स्वकीय भावोंको निर्मल करनेमें प्रयत्नशील होता है तथा उन कार्योंके कारणोंको जो कि संसारके वर्धक थे तिलाञ्जलि दे देता है तब अनायास एक समय वह आता है कि अनायास घुणाक्षर न्योत्त्येन

स्वात्मोपलब्धिके भावोंको प्राप्त कर अतुल सुखामृतके भोक्तृत्वका पात्र हो जाता है।

(वैशाख सुदी १३)

'दुःख क्या है ?' इस वात पर यदि विचार किया जाय तव स्पष्ट होगा कि आत्मामें सुख नामक जो एक शक्ति है, जिसे आह्लाद, आनन्द, तृप्ति, सन्तोष इत्यादि नामोंसे भी व्यवहृत करते हैं, जिसके लिए संसारके समस्त प्राणी प्रयत्न करते हैं, उसी शक्तिमें या गुणमें रागादि विकृत भावके द्वारा आकुलता रूप जो परिणति हो जाती है उसीका नाम दुःख है।

(जेठ वदी ५)

केवल वाह्य वचन सुन्दरता स्वात्मतत्त्वमें उपयोगिनी नहीं। जहाँतक हो सके अव वचन पटुताको त्यागकर वह पटुता सम्पादन करो जिससे स्वात्मशान्ति मिले। शान्तिका एक उपाय यह है कि किसी ज्ञेयको राग-द्वेष पूर्वक न जानो, यदि सहजमें जानना हो जावे, तो हो जावे, जाननेके लिये व्यर्थ क्लेश क्यों करते हो ? वस्तुका जो परिज्ञान हो उसका ही अभ्यास करो। पाण्डित्य सम्पादनकी ख्यातिकी कामना न करो।..........वह वहुत ज्ञानी है, हम कुछ भी नहीं जानते, अथवा हम कैसे ज्ञानी हैं, यह विचारे मूर्ख लोग मार्मिक सिद्धान्त क्या समझें ? ऐसा जो मोह जन्य भाव है वही दुःखप्रद है।

(जेठ वदी ७)

जो वात अन्तरंगसे होती है अर्थात् अन्तरङ्गमें उस विषयका राग नहीं होता स्वयमेव व्रत हो जाता है। चरणानुयोगमें जो उपदेश है वह कषायके मन्द उदयमें सम्यग्ज्ञानी जीवोंके वाह्य वचन काय-की चेष्टा होती है तद्रूप प्रत्ययमें आती है। अभ्यन्तर मनोव्यापारकी वही अनुमापिका होती है। अतः कहनेका यही तात्पर्य है कि जो

कार्य करो बुद्धि पूर्वक करो। जगत्के मनुष्य हमारी प्रवृत्तिको अच्छा कहें या वुरा कहें, इसपर कभी भी ध्यान न दो, क्योंकि यह तीव्र कषाय है इससे लाभ नहीं प्रत्युत हानिकी ही अधिक सम्भावना है। अतः यदि आत्म कल्याण करनेकी अभिलाषा है तब इन लौकिक आकांक्षाओंको त्याग कर अपने ध्येयकी ओर लक्ष्य देनेमें ही मनुष्य जन्मको सार्थकता है। केवल वस्तु तो केवल ही है, उसमें इतरका सम्पर्क वाधक ही नहीं उसके केवलत्वका घातक भी है। घातकसे तात्पर्य यह है कि पर पदार्थके संसर्गसे अभ्यन्तर परिणति कलुषित रहती है, इससे केवल परणति दुर्लभ ही है।

(जेठ वदी ८)

दुःखकी कथा करना भी दुःख है, अतः उपयोगको केवल उपयोग रहने दो।

(जेठ वदी ९)

त्याग और ग्रहणकी प्रणालीमें ही अगाध सुख समुद्रकी गम्भीरताकी अनुभूति नहीं। जिस त्याग और ग्रहणमें उस अगाध सुख समुद्रका स्पर्श न हो वह त्याग और ग्रहण गुड़ियोंका खेल है। जिस त्याग और ग्रहणमें आकुलताकी उत्पत्ति हो वह क्या त्याग है? जिस त्यागमें आकुलताकी छटा प्रतिभासित होने लगे वही सच्चा त्याग है। जिन पर वस्तुओंके त्यागको हम त्याग मान रहे हैं वह तो मिथ्याज्ञानकी वासना है। जिन भावोंके द्वारा 'पर वस्तु समुदाय मेरा है' ऐसा भाव प्राणीका होता है वही भाव त्यागने योग्य है। अर्थात् पर वस्तुके त्याग होने पर यदि शान्तिका उदय हो तो समझो कि यही सत्य त्याग है और यदि हर्षके साथ शान्तिका उदय हो तो तब समझो अभी उसमें मन्द कषायका उदय मिल रहा है। उसमें जो हर्ष मिल रहा है उसे सम्यग्ज्ञानी स्वरूप घातक ही जानता है।

(जेठ वदी १०)

प्राय: प्रत्येक मनुष्य अपना पराभव नहीं चाहता या अन्य शब्दोंमें यों कहिए कि अपने उत्कर्षकी अकांक्षा अपने हृदयमें मुद्राङ्कित किये है और यही कारण है कि प्राय: हर एक प्राणी दुखी रहता है और निरन्तर असंख्य कल्पनाएँ करता पर्यायको पूर्ण कर संसार चक्रका ही पात्र रहता है। जिस महापुरुषने इस क्षुद्र भाव पर विजय पाई वही इस विषम परिस्थितिसे उत्तीर्ण होनेकी नौकामें आरोहण करता है।

(जेठ वदी ३०)

बहुत ही गम्भीर वुद्धिसे देखा जाय तव यही निष्कर्ष निकला कि अन्धे प्राणियोंकी तरह लाठीसे चले जाओ और पूछते जाओ नाना प्रकारके आघात प्रत्याघात द्वारा यातनाओंको सहते जाओ अभी मोक्षमार्गकी रथ्या अतिदूर है। केवल कायरताने सव पुरुषार्थका विध्वंश कर रखा है। उस पर विजय पानेकी आपके इच्छा नहीं, क्योंकि कहनेको अवसर है कि—'पञ्चम काल है।' इस हीन पुरुषार्थसे आपकी पात्रता होना वहुत कठिन है। पञ्चम कालमें साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं परन्तु बीचमें सुन्दर स्थानों पर नानाप्रकारके लौकिक चमत्कारोंको देखते हुए कोई न कोई स्थान पर पहुँच कर वहींसे साक्षात् मोक्षमार्गकी प्राप्ति हो सकती है। किसीको यदि उर्ध्व जाना पड़ा तव एक वार फिर स्वर्ग भूमिकी शोभाको देखकर कुछ समय विश्राम कर फिर इसी मध्य क्षेत्रमें आकर उसी अनुपम मार्गकी साक्षात् प्राप्ति हो सकती है। अत: कायरताको छोड़ो और पुरुषार्थ करो और जो आपके अधीन शत्रु (रागादि) आया है उसका निर्दयतापूर्वक नि:पात करनेका प्रयत्न करो। प्रतिदिन अमली मनुष्योंकी कथाका अनुकरण मत करो, शूरवीर बनकर स्वदेशके हित प्राणपनसे सन्नद्ध होकर युद्ध करनेको उद्यमी हो जाओ, अवश्य ही तुष मास भिन्न मुनिकी तरह विजयी होगे।

(जेठ सुदी १)

परकी समालोचनामें आत्मपरणति क्षीण होती है और आत्महित दूर होता है।

(जेठ सुदी २)

निमित्त कारण कल्पित हैं। इनका नियम नहीं कि जो एकको शुभ उपयोगके साधक हो वह दूसरोंको भी हो, अतः निमित्तके ऊपर निर्भर रहना सर्वथा अनुचित है।

(जेठ सुदी ५)

ज्ञान उपासनाके बिना चारित्रकी उपासना सर्वथा असम्भव है। ज्ञान वह वस्तु है जो आत्माको भेदज्ञान करानेमें समर्थ होकर शान्तिका पात्र बनाता है।

(जेठ सुदी ६)

संसारका जो स्वरूप है वही रहेगा; क्योंकि जिस वस्तुका जो स्वरूप है उसकी सत्ता कभी भी उससे पृथक् नहीं होती अतः जो महाशय दो वस्तुओंकी पर्यायोंको या उन वस्तुओंको एक करनेकी चेष्टा करते हैं वह वस्तु स्वरूपसे अनभिज्ञ हैं।

(जेठ सुदी ८)

प्रयास हीन प्राणीका जीवन निरर्थक है। जीवनका लक्ष्य आत्महित है। जिन प्राणियोंके मोक्षमार्ग विषयक प्रयास नहीं उनकी जीवन लोला क्रीड़ामात्र है।

(असाढ़ सुदी ६)

धीरता वही हितकर है जिसमें कलुषित परणति न हो।

(असाढ़ सुदी ९)

इस भव वनमें भटकते प्राणियोंको जो कष्ट होता है उसे वही जानता है। इसकी कथा करना एक कौतुहली प्रथा है। तत्त्वदृष्टिसे अपने परिणाम परिपाटीको विचारो शान्तिके उत्पादनमें कौन बाधक कारण है।

(असाढ़ सुदी ११)

सङ्कोचकी जड़ पापमें है ।

(श्रावण वदी २)

कल्याण पथकी प्राप्तिका सरल उपाय यह है कि अखिल विश्वको मध्यस्थ भावसे देखो। पर पदार्थमें परत्व और निज पदार्थमें निजत्व ही इस देखनेमें मूल है ।

(श्रावण वदी ८)

जिन पर पदार्थोंके निमित्तसे कलुषता हो उनका दूरसे ही परिहार करना चाहिए। वही महापुरुष विजेता है जो निमित्तकी वलवत्तामें उपयोगको कलुषतासे रक्षित रक्खे। भार्य्याभावे (स्त्रीके अभावमें) तो सभी ब्रह्मचारी हैं। नेमि प्रभुके सदृश सुन्दरी राजुल जैसी नारीरत्न आदि प्रकर्ष कारणोंके सद्भावमें काम शत्रुको विजय कर स्वात्मलाभकी पात्रता प्राप्त करनेवाले ही सच्चे विजेता हैं ।

(श्रावण वदी १३)

आत्माका स्वभाव सुख और शान्तिमय है। केवल उसके वाधक कारण हमने कल्पनारूढ़ कर रक्खे हैं। असल परमार्थ दृष्टिसे पर पदार्थ तो उसके वाधक ही नहीं चाहे वह चेतन हो, अचेतन हो, या मिश्र हो। केवल स्वयं आत्मा ही अपने सुखका वाधक और साधक है। जब यह आत्मा वाह्य दृष्टिके ऊपर ही स्वकीय परणिति को तन्मय वनाता है अर्थात् वाह्य पदार्थका अवलम्बनकर सङ्कल्प करता है तभी अज्ञान चेतनाको अवकाश मिल जाता है।

(कुवार वदी ९)

संसार में शान्ति है परन्तु निरन्तर उसकी कथा करनेकी परणतिने उसे छिन्न भिन्न कर रक्खा है। जो कोई उसे उपार्जन करना चाहे उसे यह कथोपकथनकी परिपाटी छोड़नी होगी।

(कुवार सुदी ४)

उपयोगकी स्थिरता ही कार्यसिद्धिमें प्रयोजक है। जिनके उपयोग स्थिर नहीं वह संशयालु कदापि भवसागरसे उत्तीर्ण नहीं हो सकते।

(कुवार सुदी ५)

भोजनकी गृध्नताका अभाव नीरोगताका कारण है।

(कुवार सुदी ६)

धर्मका मूल निरालस और ध्येयकी निश्चलता है।

(अषाढ़ सुदी ११)

अभ्यन्तर शान्तिके विना ऊपरी शांति अशांतिका रूपांतर है।

([1]कार्तिक वदी २)



१. जहाँ तारीखके साथ गाँवका नाम नहीं दिया है वहाँ पूर्वमें गाँवका जो नाम दिया हो वह गाँव जानना चाहिए।

गागर में सागर

मङ्गलाचरण—

आदीश्वर जिन वन्द कर आगम गुरु चित लाय ।
अन्य वस्तु को त्याग कर मेटहु जगत उपाय ।। १ ।।

सुख—

जो सुख चाहो मित्र तुम तज दो बातें चार ।
चोरी जारीं दीनता और पराई नार ।। २ ।।
जो सुख चाहो मित्र ! तुम तज दो परकी आश ।
सुख नाहीं संसार में सदा तुम्हारे पास ।। ३ ।।
जो सुख चाहो आत्मा ! परकी संगति त्याग ।
लोहे की संगति पिटै जगमें देखहु आग ।। ४ ।।
जो सुखकी है लालसा छोड़ो व्यर्थ बलाय ।
आतमगुण चिन्तन करो यह ही मुख्य उपाय ।। ५ ।।
जो सुख चाहो देहका तज दो बातें चार ।
बहु भोजन बहु जागना बहु सोना बहु जार ।।६।।
जो सुख चाहो आत्मा ! तज दो बातें चार ।
कुगुरु कुदेव कुधर्म अरु दुखकर असदाचार ।।७।।

जो सुख चाहो आत्मा ! परका छोड़ो संग ।
परकी संगतिके किये होत शान्ति में भङ्ग ॥८॥
जो सुख चाहो आत्मा ! तज दो पर का संग ।
परमें निजकी कल्पना यही जगत का अङ्ग ॥९॥
आप बढ़ाई कारने निन्दा कार्य करन्त ।
उन मूढ़नके संगसे होगा नहिं दुख अन्त ॥१०॥
जो चाहत हित होय हम तज दो पर का सङ्ग ।
बात बनाना छोड़ दो मनहि बनाओ नङ्ग ॥११॥
जो चाहत दुख से बचें करो न परकी चाह ।
पर पदार्थ की चाहसे मिटे न मनकी दाह ॥१२॥
जो सुख चाहो आपना तज दो पर का नेह ।
अन्य जनों की बात क्या मीत न तुमरी देह ॥१४॥
जी निज परिणति में रमे त्याग सकल परपञ्च ।
सो भाजन निज अमर सुख दुख नहिं व्यापे रञ्च ।१४।

शान्ति—

शान्तिमार्ग अति सुलभ है परका छोड़ो मोह ।
यही मार्ग कल्याणका क्यों करते हो कोह ? ॥१५॥

चाहत जो मन-शान्ति तुम तजहु कल्पना जाल।
व्यर्थ भरमके भूतमें क्यों होते बेहाल ॥ १६ ॥

आत्मज्ञान—

गल्पवादमें दिन गया विषयभोग में रात ।
भोंदू के भोंदू रहे रात दिना बिलखात ॥ १७ ॥
आप आपकी बात कर परको निज मत मान ।
आत्मज्ञानके होत ही हो आतम कल्याण ॥ १८ ॥
शिव मारग निर्द्वन्द है जो चाहो सो लेय ।
मूरख माने द्वन्द्व में नहिं जाने निज भेय ॥ १९ ॥
जो संसार समुद्रसे है तरने की चाह ।
भेदज्ञान नौका चढ़ो परकी छोड़ो राह ॥ २० ॥
*सत्तर छह के फेर में गया न मनका मैल ।
खांड लदा भुस खात है बिन विवेकका बैल ॥ २१ ॥
जन तन धन विद्या विभव नहिं दुर्लभ जग मीत ।
पर दुर्लभ निज तत्त्व है याते तुम भयभीत ॥ २२ ॥
जो चाहत निज तत्त्वको परसे छांडहु नेह ।
नहिं तो फिर पछताओगे नर्क मिलेगा गेह ॥ २३ ॥

---

* यह दोहा वर्णी जी ने दैनन्दिनी में अपनी ७६ वर्ष की आयुको लक्ष्य करके लिखा है।

कल्पतरु निज आतमा परकी करते आश ।
सुधा-सिन्धुको छोड़कर चाटत ओस प्यास ॥२४॥
आत्मनिधिको त्यागकर घर-घर डोलत दीन ।
निज तनमें समझे बिना यह मृग भटकत दीन ॥२५॥
जिन निज खोजा पाइयां यामै नाहीं फेर ।
ऊपर ऊपर जे फिरत उनहिं लगत अति देर ॥२६॥
थोथी बातोंमें नहीं मिलता आतमवाद ।
पानी मन्थनमें नहीं मिलता मक्खन स्वाद ॥२७॥
जन्म गवाया भोगमें कीनो परकी चाह ।
दुखी हुआ संसारमें मिटी न मनकी आह ॥२८॥

आत्म-निर्मलता—

अभिप्राय दूषित किये नहिं जानत निजधर्म ।
निर्मल आतमके सभी कर्म होत सद्धर्म ॥२९॥

संयम—

मनुषजन्मको पायकर संयम नाहिं धरन्त ।
हाथीसम होकर सभी गर्दभ भार वहन्त ॥३०॥

चातुर्य—

बहु सुनवो कम बोलवो सो है चतुर विवेक ।
तब ही तो हैं मनुजके दोय कान जिभ एक ॥३१॥

दया—

चाहे कितना हू करो तपधारण अतिघोर ।
एक दया विन विफल है रात्रि बिना ज्यों भोर ।।३२।।

असार संसार—

राजा राणा रङ्क अरु पण्डित चतुर सुजान ।
अपनी अपनी वीरियां रहे न एकहु मान ।।३३।।

परिग्रह—

तजहु परिग्रह कामना जो चाहत निजरूप ।
अर्थचाह जिनकी गई तिन सम नाहीं भूप ।।३४।।

परप्रपञ्च—

परकी ममता छोड़ कर भजलो आतम राम ।
याके कारण मिटत है जीवनके यमधाम ।।३५।।
छोड़ो परकी बात तुम इसमें नहिं कुछ सार ।
परप्रपञ्चके कारने होय न आत्म-सुधार ।।३६।।

नेह-मोह-माया—

नेह दुःखका मूल है यह जाने सब कोय ।
इसकी सङ्गति तिलोंका घानी पीलन होय ।।३७।।
मोहोदयमें जीव के होता है संकल्प ।
परमें आपा मानकर करता नाना जल्प ।।३८।।